निबन्ध पराग



पराग प्रकाशन

निबंध-पराग

[आधुनिकतम विषयों पर
निबंधों का अपूर्व संग्रह]

★

प्रो० वासव

★

पराग प्रकाशन
पटना—४

पराग
प्रकाशन

मुद्रक
श्री तारकेश्वर पाण्डेय
ज्ञानपीठ (प्राइवेट) लिमिटेड
पटना-४

वर्गीकृत अनुक्रमणिका
(Classified Contents)

आर्थिक प्रवृत्तियाँ—

वैज्ञानिक प्रवृत्तियाँ—

शिक्षा, संस्कृति, कला और साहित्य—

विविध—

——*——

विषय-सूची

निबंध-पराग

निबंध कैसे लिखा जाय ?

निबंध क्या है ?—निबंध साहित्य का एक अंग है। और, विषय की दृष्टि से यह उतना ही विस्तृत है, जितना यह अखिल विश्व। हाँ, सृष्टि की कहानी से लेकर एक चूहे तक, किसी भी विषय पर निबंध प्रस्तुत किया जा सकता है। कविता, कहानी, नाटक आदि साहित्य के अन्य अंगों से निबंध इसलिए भिन्न है, चूँकि यह किसी एक ही विषय तक परिसीमित रहता है। लेखक एक निबंध में किसी एक ही विषय पर अपने विचारों और मनोभावों को अभिव्यक्त करता है, चाहे निबंध बड़ा हो या छोटा।

'निबंध' का शाब्दिक अर्थ है—'बँधा हुआ, नपा-तुला'। दूसरे शब्दों में, किसी निर्धारित विषय पर, अपने विचारों तथा मनोभावों को, रचना-कला के नियमों की परिसीमा के अंतर्गत, क्रमानुसार लिपिबद्ध करने की चेष्टा का प्रतिफल ही निबंध कहलाता है।

लेकिन, यह आवश्यक नहीं कि निबंध में किसी विषय पर सभी संभव विचारों की अभिव्यक्ति की अपेक्षा की जाय। वर्ण्य विषय के संपूर्ण चित्र को अंकित करना निबंध-लेखन का ध्येय नहीं। निबंध वस्तुतः लेखक के वैयक्तिक विचारों की अभिव्यक्ति के रूप में उसके मस्तिष्क का चित्र भर अंकित कर देता है; इसलिए किसी निबंध से उस विषय की पूर्णता की आशा करना व्यर्थ है, जिस पर वह लिखा गया हो।

और भी, निबंध-लेखक जिस विषय पर निबंध लिखना चाहता है, उस पर अपने ढंग से, अपनी प्रणाली से, अपने व्यक्तिगत

विचारों को लिपिबद्ध कर उन्हें निबंध का रूप दे डालता है। इसलिए, यद्यपि निबंध किसी विषय पर लिखा गया ब्यौरेवार विस्तृत प्रबंध नहीं; फिर भी, आंशिक या अपूर्ण होने पर भी, यह स्वतः पर्याप्त रहता है। और, साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग होने के नाते निबंध लिखते समय, लेखक को भाषा, भाव-अभिव्यक्ति आदि के संबंध में प्रायः सभी साहित्यिक विधानों की प्रतिष्ठा करनी पड़ती है। और, इस प्रकार से प्रस्तुत किया गया निबंध भी, साहित्य के अन्य अंगों की तरह, हमारे ज्ञान की अभिवृद्धि करने के साथ-साथ हमें लोकोत्तर आनंद भी प्रदान करने की क्षमता रखता है।

निबंध और विद्यार्थी—लेकिन, सामान्य निबंधों की गति-विधि से ऐसे निबंधों की गति-विधि, जिन्हें परीक्षार्थी परीक्षा-भवन में बैठकर लिखते हैं, बहुत-कुछ भिन्न रहती है। परीक्षा-भवन में बैठकर, किसी दूसरे के द्वारा निर्धारित विषय पर अपने विचारों को, निर्धारित समय में, निर्धारित पृष्ठों पर, फलाफल की उहापोह के मध्य सशंकित मस्तिष्क लेकर, निबंध प्रस्तुत करना एक जटिल, श्रम-साध्य और कष्टकर कार्य है। सुस्थिर चित्त से, प्रसन्न मुद्रा में कलम लेकर, कल्पना-जगत् से विचार-वीथियों को अपने स्मृति-पट पर सुलझाते हुए, उन्हें सुविधापूर्वक कागज पर अंकित करते जाना और बात है और परीक्षा-प्रणाली की परिधि में, सशंकित हृदय के साथ, परीक्षार्थियों से भरे-पूरे कमरे में, कागज के कुछ सादे पन्नों के सामने बैठ कर, घंटे-आध-घंटे के ही अंतर्गत कुछ लिख देना और बात। अतएव, विद्यार्थियों द्वारा लिखा जानेवाला निबंध उनके मस्तिस्क के क्रमबद्ध अनुशासन के रूप में है, जो किसी निर्धारित विषय पर उनके विचारों की व्यवस्थित अभिव्यक्ति की कला में नियमित प्रशिक्षण के रूप में प्रकट होता है। दूसरे शब्दों में, किसी विषय पर विचार करने तथा उन विचारों को शुद्ध, सरल तथा

स्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्त करने की विद्यार्थियों की योग्यता की जाँच के लिए ही विद्यार्थियों से निबंध प्रस्तुत कराया जाता है। अतएव, उनके निबंध में विचार तथा अभिव्यक्ति का सामंजस्य रहना चाहिए। अगर विचारों का अभाव है तो निबंध शब्दाडंबरों का जालमात्र हो जाता है; और, यदि विचारों के रहते भी उनकी अभिव्यक्ति की क्षमता का अभाव है तो निबंध बेढंगा तथा अरुचिकर हो जाता है। संक्षेप में, निबंध लिखते समय विद्यार्थियों को निम्नलिखित चार बातों पर आवश्यक रूप से ध्यान देना चाहिए—

(१) वह प्रासंगिक या विषयानुरूप हो; (२) उसमें संगति का भलीभाँति निर्वाह हो; (३) वह प्रारंभ से इति तक क्रमबद्ध हो तथा (४) उसकी भाषा स्पष्ट, सरल और शुद्ध हो।

(१) निबंध प्रासंगिक हो—सबसे पहले विषयानुरूप विचारों की कल्पना करनी चाहिए। निबंध के शीर्षक के अभिप्राय को समझ कर उसके क्षेत्र का अनुभव करना चाहिए। हमें जान लेना चाहिए कि अमुक शीर्षक के अंतर्गत लिखे जानेवाले लेख में कितनी बातों की आवश्यकता है और हम उन बातों के साथ कितनी दूर तक जा सकते हैं। अगर हम इन बातों को समझने की चेष्टा किये बिना निबंध लिखने लगेंगे तो वह या तो बहुत संकीर्ण हो जायगा या बहुत विस्तृत। प्रायः देखा जाता है कि विद्यार्थी अपने मस्तिष्क का संतुलन खोकर, विषय से दूर भटक जाते हैं और अंधकार में टटोलने लगते हैं। इसका कारण यही है कि वे सावधानी के साथ विषय के अर्थ तथा उसके यथार्थ क्षेत्र पर गौर नहीं करते। अतएव, विद्यार्थियों को यह सर्वदा यह देखना पड़ेगा कि उनका निबंध विषयानुकूल अथवा प्रासंगिक हो रहा है या नहीं।

(२) संगति का निर्वाह हो—यह तो स्पष्ट हो गया कि कलात्मक ढंग से संस्थापित विचार-सुमनों की माला ही निबंध है।

लेकिन, निबंधरूपी विचारमाला में सभी विचार तो समान महत्त्व के होते नहीं। इसलिए प्रत्येक विचार को, लिपिबद्ध होने के लिए, उतनी ही जगह मिलनी चाहिए, उसी हद तक प्रमुखता मिलनी चाहिए, जितने से उसका महत्त्व बना रहे। अगर विषय के सभी विचार-खंडों पर एक समान जोर डाला जाय तो निबंध जटिल और अस्वाभाविक हो जायगा। अतएव, सुन्दर निबंध के लिए विचारों की संगति के निर्वाह की भावना का कार्यान्वयन परमावश्यक है। और, यह तभी संभव है, जब कि विषय-संबंधी विचार स्पष्ट हों।

(३) **निबंध क्रमबद्ध हो**—पुनः जिन विचारों के प्रतिष्ठापन द्वारा हम निबंध प्रस्तुत करें, उन्हें महत्त्व तथा संबद्धता के स्वाभाविक क्रम से ही हमें व्यवस्थित करना चाहिए, जिससे कि हम सुगमतापूर्वक एक विचार के बाद दूसरे विचार को लिपिबद्ध करने में समर्थ हो सकें। अतएव, निबंध लिखते समय जितने भी विचार हमारे मस्तिष्क में आ सकें, उन्हें लिखकर उनमें क्रम स्थापित कर लेना चाहिए। जितने विचार एक साथ रखे जा सकते हैं, उन्हें एक संदर्भ या परिच्छेद के लिए रख लेना वांछनीय है। उन परिच्छेदों में एक स्वाभाविक आनुपूर्वी स्थापित कर लेने से निबंध में संगति और तार्किकता उत्पन्न होती है। यह ठीक है कि निबंध को क्रमबद्ध बनाने के लिए कोई कठोर नियम नहीं है; यह तो उसके विषय तथा विषय के प्रतिपादन के तौर-तरीके पर निर्भर करता है। लेकिन, यह परमावश्यक है कि किसी प्रकार की क्रमबद्धता का निर्वाह निबंध में किया जाय, जिससे कि वह व्यवस्थित रहे। इस संबंध में हमें इस बात पर अवश्य ध्यान देना चाहिए कि निबंध के अत्यधिक महत्त्व के विषयों को प्रारंभ में ठूँस कर अपेक्षाकृत कम महत्त्व के विचारों को अन्त में प्रतिपादन कर देने से निबंध पाठकों की अभिरुचि को आकृष्ट करने में असमर्थ रहता। सामान्यतः क्रमबद्धता

के लिए यह आवश्यक है कि निबंध के प्रारंभ में, संक्षेप में, मगर स्पष्ट तथा आकर्षक शब्दों में थोड़ी-सी भूमिका रहे ; मध्य में पक्ष या विपक्ष में विचारणीय बातों की स्पष्ट व्याख्याएँ रहें और अन्त में उसके निष्कर्ष-रूप में दो-चार ऐसे सार-गर्भित वाक्य रहें, जो देर तक पाठकों के मस्तिष्क में अपना प्रभाव रख सकें।

(४) **भाषा शुद्ध, स्पष्ट और सरल हो**—जहाँ तक संभव हो, निबंध की भाषा सुस्पष्ट और स्वाभाविक होनी चाहिए। जान-बूझ कर दूसरों की शैली की हुबहू नकल करना व्यर्थ है ; क्योंकि जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के उठने-बैठने तथा बोलने-चालने के तौर-तरीके भिन्न-भिन्न होते हैं, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के लिखने के ढंग में भी अपनी-अपनी विशेषता की स्वाभाविक छाप रहती है। शैली भाषा की पोशाक है। जिस प्रकार दूसरे के शरीर की पोशाक कदापि हमारे शरीर के अनुकूल नहीं बैठती, उसी प्रकार दूसरे की भाषा की शैली भी हमारी भाषा के स्वाभाविक साज-शृंगार को बिगाड़ देती है। अतएव, हमें अपने ढंग से लिखना चाहिए जिससे कि हमारी भाषा में सरलता, स्पष्टता तथा स्वाभाविकता का रंग आप-से-आप चढ़ता रहे। दूसरे के विचारों को भी हमें अपना बना कर अभिव्यक्त करना चाहिए। हमारे शब्द नपे-तुले हो, हमारा वाक्य-विन्यास जटिल नहीं होने पावे। शब्दों की पुनरावृत्ति से भरसक बचने का प्रयास करना चाहिए। निबंध में जितने शब्द और वाक्य हों, वे सार्थक हों। "जो कुछ हमें कहना या लिखना हो, उन्हें हम स्पष्ट रूप से कहें या लिखें, क्योंकि शैली का एकमात्र रहस्य यही है।"

कुछ व्यावहारिक संकेत

किसी विषय पर विचार करने की विद्यार्थियों की क्षमता के साथ-साथ उनकी भाषा-रचना की जाँच के लिए ही उससे निबंध लिखाये जाते हैं। अतएव,इन दोनों बातों पर समान रूप से ध्यान देना चाहिए।

अतएव, जहाँ तक रचना का संबंध है, प्रत्येक विद्यार्थी को अपने-अपने स्वाभाविक तरीके से लेख लिखना चाहिए। प्रत्येक की अपनी-अपनी लेखन-शैली होती है, इसलिए उसे दूसरे की शैली का अनुकरण नहीं करना चाहिए। और, सच पूछिए तो, शैली का अनुकरण किया भी नहीं जा सकता। हाँ, अच्छे-अच्छे लेखकों की रचनाओं के अध्ययन से हम अपनी पृथक् शैली का निर्माण करने में अवश्य समर्थ होते हैं। कोई भी परीक्षक विद्यार्थियों से यह उमीद नहीं रखता कि वे महावीरप्रसाद द्विवेदी, रामचंद्र शुक्ल, प्रेमचंद-जैसे शैलीकारों की शैली प्रस्तुत करें। वह चाहता है कि विद्यार्थी सरल, स्पष्ट और शुद्ध भाषा अवश्य लिखें। विचार की अस्पष्टता ही भाषा को स्पष्ट नहीं होने देती। यदि हमें अपने विचारों की स्पष्ट अनुभूति नहीं हो तो हमारी भाषा भी स्पष्ट नहीं हो पावेगी। दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि शब्दों का समुचित चुनाव होना चाहिए—सर्वोत्तम शब्द, सर्वोत्तम क्रम से! निबंध लिखते समय हमारे मस्तिष्क में जो पहला शब्द आ जाता है, प्रायः उसीका प्रयोग कर हम संतोष कर लेते हैं और विचारपूर्वक शब्दों को चुनने का कष्ट उठाना नहीं चाहते। लेकिन हमें यह जान लेना चाहिए कि भाषा विचारों की अभिव्यक्ति के लिए है। और, विचारों के चढ़ाव-उतार में विभिन्नताएँ रहती हैं। और, प्रत्येक चढ़ाव-उतार की अभिव्यक्ति के लिए विशेष शब्द या संकेत होता है। अतएव, हमें विचार के अनुकूल ही शब्दों के चुनाव की चेष्टा करनी चाहिए। ऐसा तभी संभव है, जबकि शब्द के यथार्थ अर्थ तथा उसके यथार्थ प्रयोग का हमें समुचित ज्ञान हो। इसके लिए हमारे मस्तिष्क में शब्दों का भंडार रहना परमावश्यक है। निरर्थक, अस्पष्ट, तथा कठिन शब्दों के प्रयोग से हमें दूर ही रहना चाहिए। समुचित शब्दों की समुचित प्रतिष्ठा से ही भाषा की स्पष्ट अभिव्यक्ति के साथ-

साथ उसका सौंदर्य भी निखर उठता है। विद्वत्तापूर्ण और विकट शब्दों की अपेक्षा सरल तथा परिचित शब्दों का प्रयोग ही श्रेयस्कर है।

शुद्ध तथा सुस्पष्ट भाषा लिखने के लिए व्याकरण के कुछ मौलिक सिद्धांतों को भी सर्वदा याद रखने की आवश्यकता है। प्रायः देखा जाता है कि विद्यार्थी व्याकरण के सिद्धान्त जानते हुए भी उन्हें व्यवहार में नहीं ला सकते। असावधानी तथा अभ्यास के अभाव से ही ऐसी भूलें हुआ करती हैं। अतएव, व्याकरण के नियमों के आधार पर निरंतर लिखते रहने का अभ्यास डालने की आवश्यकता है। तभी भाषा में शुद्धता के साथ-साथ स्वाभाविकता भी आती है। कर्त्ता कारक के 'ने' का प्रयोग; लिंग, वचन के अनुसार क्रिया का प्रतिपादन आदि ऐसे विषय हैं, जिन पर विद्यार्थियों को अच्छी तरह ध्यान देना चाहिए।

तीसरी बात ध्यान देने की यह है कि निबंध लिखने के समय हमारा कोई वाक्य शिथिल नहीं हो। हमारा यह ध्येय रहे कि एक ही वाक्य में अनेक विचारों का समावेश नहीं हो। ऐसा करने से मुख्य विचार से हमारा ध्यान प्रायः दूर हट जाता है और हम शून्य में भटकने लगते हैं। हमें छोटे-छोटे वाक्यों को ही लिखना चाहिए; क्योंकि बड़े-बड़े लच्छेदार वाक्यों के प्रयोग से विचारों को सँभाल कर क्रमबद्ध करने में कठिनाई उत्पन्न होती है। वाक्यों को गढ़ने के समय यह सर्वदा ध्यान में रखना चाहिए कि संबद्ध भावों या विचारों के लिए प्रयुक्त वाक्य एक साथ रखे जायँ। संक्षेप में, प्रत्येक वाक्य पूर्ण हो तथा उसका गठन शिथिल नहीं होने पावे।

निबंध लिखते समय निम्नांकित संकेतों को सावधानी के साथ स्मरण रखना चाहिए—

(१) निबंध-विषय के शीर्षक तथा उसके क्षेत्र को स्पष्टतः समझने की पहले चेष्टा करें। ये बताते हैं कि क्या लिखने की आवश्यकता है।

(२) जब अभिप्राय और क्षेत्र समझ में आ जायँ, तब विषय पर कुछ देर तक सोच लें। जैसे-जैसे विचार मस्तिष्क में आते जायँ, उन्हें एक कागज पर नोट करते जायँ, जब तक कि आपके निबंध के लिए प्रर्याप्त विचार संगृहीत न हो जायँ।

(३) जब विचार-संग्रह हो जायँ, तब उन्हें उनके स्वाभाविक संबंध तथा तार्किक क्रम के अनुसार प्रतिष्ठित करें, जिससे कि एक विचार के बाद दूसरे का सुगम संक्रमण संभव हो।

(४) निबंध की एक रूप-रेखा प्रस्तुत कर लें—प्रारंभ में विषय-प्रवेश के रूप में प्रस्तावना रहे, मध्य में संगृहीत विचारों के संबंध में स्पष्टीकरण हो और अंत में निष्कर्ष रहे।

(५) प्रस्तावना को यथासाध्य अभिरुचिपूर्ण बनावें। प्रस्तावना कई तरह से लिखी जा सकती है—(क) विषय की परिभाषा के साथ; (ख) गद्य या पद्य के किसी विषयानुकूल उद्धरण के साथ; (ग) किसी अनुकूल प्रसंग या कहानी के साथ; (घ) नाटकीय ढंग से। विद्यार्थी उसी तरीके को अपनावें, जिसे वे सिद्धहस्त होकर लिख सकें।

(६) जब प्रस्तावना लिख चुकें, तब अलग कागज पर नोट किये गये विचारों का एक-एक कर स्पष्टीकरण करते जायँ। एक ही तरह के विचार-समूह को एक ही परिच्छेद में अंकित करने का प्रयास करें—यह ध्यान में रखते हुए कि एक परिच्छेद से दूसरे परिच्छेद का संक्रमण सरल और सुगम हो। पूर्व परिच्छेद के अंतिम वाक्य का उसके बाद के परिच्छेद के प्रथम वाक्य के साथ सामंजस्य बना रहना चाहिए।

(७) मुख्य विचारों का, अंत में, एक परिच्छेद में सारांश दें, जो लेख की समाप्ति कहलायगा। प्रारंभ की तरह अंत भी प्रभावोत्पादक तथा आकर्षक रहे, जिससे कि अंत में जाकर पाठक के के मस्तिष्क पर आपका निबंध अच्छा प्रभाव डाल सके।

मानव का समुचित अध्ययन

किसी वस्तु या विषय का अध्ययन करने के लिए बुद्धि और विवेक चाहिए। प्राणियों में मानव ही एक ऐसा सचेतन प्राणी है, जिसे विवेकशील तथा बुद्धि-संपन्न होने का सौभाग्य प्राप्त है। अतएव, मनुष्य ही मनुष्य का समुचित अध्ययन करने में समर्थ हो सकता है।

मानव जाति के समुचित अध्ययन का अभिप्राय है—मानव की अंतर्प्रवृत्तियों के साथ-साथ उसके विकास-पथ को प्रभावित करने वाली बाह्य परिस्थितियों से भी पूर्ण अभिज्ञता प्राप्त करना। एक शब्द में, मानव को बाहर और भीतर से जानना।

मानव हजारों बंधनों में आबद्ध है; वह विश्व में क्रियाशील अनगिनत शक्तियों की उपज या प्रतिफल है। वह, विवेकशील प्राणी होने के नाते, चैतन्य है और विश्व के मध्य किसी समाज के सदस्य के रूप में, किसी राज्य के नागरिक या प्रजा के रूप में ही अपना अस्तित्व बनाये रखने में समर्थ है। ये सभी बाह्य परिस्थितियाँ निश्चित रूप से उसके जीवन को प्रभावित करती हैं। अतएव, मानव जाति के अध्ययन के सभी प्रकरण तभी पूर्ण समझे जा सकते हैं, जबकि उसके बाह्य तथा आन्तरिक, दोनों पहलुओं पर, जिनके समन्वय से वह पूर्ण मानव बन सकता है, विवेचन किया जाय।

अब, देखना है कि वे बाह्य वस्तुएँ क्या हैं, जो मानव-जीवन को प्रभावित कर उसे यथार्थ मानव बनाती हैं? सर्वप्रथम, जब मनुष्य आँखें खोलता है, तब वह अपने सामने प्रकृति के विशाल, विस्तृत तथा आश्चर्यजनक जगत् का अवलोकन करता है, जिसके मध्य वह निवास करता है, अपने को क्रियाशील बनाता है और अपने अस्तित्व को स्थायित्व प्रदान करने का प्रयास करता है। यही बाह्य प्रकृति उसके शरीर और मस्तिष्क के निर्माण में सबसे

प्रधान सहायिका होती है। जलवायु तथा भौगोलिक स्थिति उसके शारीरिक स्वरूप को प्रभावित करने के साथ-साथ उसके मानसिक विकास पर भो प्रभाव डालती है और प्रकृति के चमत्कार भी न्यूनाधिक मात्र में उस पर गहराई से अपना असर डालने में पीछे नहीं रहते। अतएव, भौतिक प्रकृति की उन सारी शक्तियों तथा विधानों का, जो मानव के विकास में सक्रिय रहते हैं और उसकी आदतों तथा अभिरुचियों के निर्माण में सहायक होते हैं, अध्ययन करना मानव-जाति के समुचित अध्ययन का पहला प्रकरण है।

लेकिन, मनुष्य अपने चतुर्दिक व्याप्त भौतिक प्रकृति की मात्र क्रियाशीलत से नहीं, बल्कि अपने देश के मानव-निर्मित विधानों तथा संस्थाओं के द्वारा भी प्रभावित होता रहता है। वह सामाजिक जीव है और अपनी सामाजिक परंपराओं तथा विधि-विधानों का चिरऋणी है। ये सब उसके मस्तिष्क को संतुलित रखते हैं; उसके दृष्टिकोण को निर्धारित करते हैं और उसके जीवन को मानवता के साँचे पर ढालते हैं। ये मानव-कृत विधान, रीति-रिवाज, परंपराएँ एवं संस्थाएँ, अधिकाधिक रूप से, मानव को यथार्थ मानव बनाती हैं। अतएव, मानव का अध्ययन करने के सिलसिले में हमें उसके सामाजिक वातावरण का भी गंभीरतापूर्वक अध्ययन करना पड़ता है।

लेकिन, मनुष्य सामाजिक जीव होने के साथ-साथ, किसी राज्य का सदस्य होने के नाते, राजनीतिक प्राणी भी तो है। अतएव, उसके देश के राजनीतिक विधान एवं संस्थाएँ भी, बहुत हद तक, उसके जीवन को प्रभावित करती हैं। जिस देश या राज्य में वह निवास करता है, उसकी राजनीतिक संस्थाओं के साँचों में ही उसके अधिकारों, उत्तरदायित्वों एवं सुविधाओं से संबंधित विचार ढल कर स्वरूप धारण करते हैं। वस्तुतः आधुनिक जगत् में हम राजनीतिक वातावरण में ही साँस लेते एवं पलते-बढ़ते हैं। अतएव,

ये राजनीतिक वातावरण मनुष्य के दृष्टिकोणों और विचारों के निर्माण में इतने जबर्दस्त अधिकरण हैं कि मानव के अध्ययन के सिलसिले में इनका अध्ययन भी आवश्यक है।

यह तो हुआ मानव का बाह्य जगत्। लेकिन, सबके परे मनुष्य विवेकशील एवं आश्चर्यजनक मन के साथ चैतन्य प्राणी जो है। अतः, इस मन का भी तो अध्ययन करना परमावश्यक हो जाता है। जब तक मनुष्य के मन की गहराई को मापा नहीं जायगा, तब तक प्रत्येक मानव दूसरे प्रत्येक मानव के लिए एक रहस्य ही बना रह जायगा। लेकिन, मानव-मन का अध्ययन कैसे हो? इसमें संदेह नहीं कि मनुष्य की कला, साहित्य और धर्म में उसके मन या मस्तिष्क की ही छाप रहती है। अतएव, यदि हम मनुष्य को पूर्ण रूप से जानना चाहते हैं तो हमें उसके साहित्य, कला तथा धर्म का भी अध्ययन करना चाहिए; क्योंकि उसके मस्तिष्क की प्रतिच्छाया के रूप में इन विषयों की उपेक्षा कर देने से मानव-अध्ययन का कोई भी प्रयास व्यर्थ ही है। साहित्य, संस्कृति, कला और धर्म के क्षेत्र में ही मनुष्य की महत्ता प्रकट होती है और उसकी बौद्धिक, नैतिक एवं मानसिक क्षमता का प्रदर्शन होता है।

अंत में, मात्र दूसरे मानव का अध्ययन ही नहीं, बल्कि स्वतः अपना अध्ययन भी मानव-जीवन का यथार्थ अध्ययन है। हम दूसरे मनुष्यों के जीवन तथा बाह्य परिस्थितियों का अध्ययन कर उन्हें जान सकते हैं; फिर भी, अपने को जानने के संबंध में अंधकार में ही टटोलते रहते हैं। अतएव, आत्म-अध्ययन अर्थात् अपने को ही जाने बिना मानव-अध्ययन निपट अधूरा ही माना जायगा। इसके बिना सभी प्रकार के ज्ञान यथार्थता से दूर हैं। तभी तो हमारे देश में आत्म-ज्ञान को जीवन का सर्वोच्च ध्येय माना गया है। उपनिषद् का कथन है—'आत्मविदः तद् विदः आत्मप्रत्ययया-

नसारिणः।' अर्थात् अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर के ही हम परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। प्राचीन यूनान के डेलफाई में, अपल्लो के मन्दिर में सात यूनानी महर्षियों ने भी यही लिखा है कि "अपने को जानो, इससे कुछ अधिक जानने की जरूरत नहीं।" अठारहवीं शती के एक अंगरेजी कवि ने भी कहा है कि मनुष्य का समुचित अध्ययन स्वयं मनुष्य ही है। और, आत्म-ज्ञान की उपलब्धि तभी संभव है, जब कि हम अपने जीवन में अपनी यथार्थ स्थिति तथा यथार्थ कार्य को जानने में समर्थ हो सकें।

अतएव, मानव के समुचित अध्ययन के सिलसिले में हमें मात्र उसकी भौतिक, सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक परिस्थितियों का ही अध्ययन करके संतोष नहीं कर लेना चाहिए, बल्कि आत्म-ज्ञान भी प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए।

राजनीति में पंचशील

'शील' व्यापक अर्थ रखनेवाला शब्द है। यों इसका शाब्दिक अर्थ है—आचार, व्यवहार, चालचलन, शिष्ट-आचरण या मानवता की ओर ले जानेवाली मानव-सद्वृत्तियाँ। और, इसी अर्थ को लक्ष्यकर मानव के शिष्ट आचरण के लिए जो पाँच नियम बौद्ध-धर्म के अन्तर्गत निर्धारित किये गये हैं, उन्हें पंचशील कहा जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि शिष्ट आचरण ही मानव को यथार्थ मानव बनाता है। इसलिए, जिस मनुष्य में शील नहीं, जिसका आचरण सद्वृत्तियों का द्योतक नहीं, उसका जीवन व्यर्थ है।

'पंचशील' शब्द हमारे लिए नया, आज का, नहीं है, बल्कि ढाई हजार वर्ष पुराना है। बौद्ध युग में बौद्ध लोगों के लिए आचार-व्यवहार के पाँच लौकिक नियम निर्धारित किये गये थे, जिन्हें "पंचशील" कहा जाता था। दूसरे शब्दों में, आचारवान बौद्धों के

जो पाँच गुण या लक्षण बताये गये हैं, उन्हें ही पंचशील' की संज्ञा दी गई थी। अतएव, संसार के जिन-जिन भागों में बौद्ध धर्म गया, वहाँ-वहाँ 'पंचशील' शब्द भी प्रचलित हुआ। 'पंचशील' के अन्तर्गत बौद्ध-जीवन के जो पाँच आचार या नियम बताये गये है, वे हैं—किसी जीव की हत्या न करो, चोरी न करो, मन को नियंत्रण में रखो, झूठ मत बोलो और मादक-द्रव्य का व्यवहार मत करो।

इस प्रकार, हमारे देश में, 'पंचशील' शब्द का प्रयोग मनुष्य के वैयक्तिक आचार-विचार के नियमों के अर्थ में, प्रायः ढाई हजार वर्षों से होता चला आ रहा था। लेकिन, आजकल तो राजनीति के क्षेत्र में भी इसका बार-बार मात्र प्रयोग ही नहीं हो रहा है, बल्कि दुनिया के अनेक देश इसे सिद्धांत रूप में अपना भी रहे हैं।

लेकिन, राजनीति के क्षेत्र में इस शब्द का प्रयोग वैयक्तिक नहीं, बल्कि सामाजिक या राष्ट्रीय आचार-विचार के अर्थ में, देशों के लिए, किया जा रहा है। अतएव, जहाँ पहले'पंचशील' यह बताता था कि अच्छे आदमियों को किन नियमों का पालन करना चाहिए; वहाँ आज 'पंचशील' यह बताता है कि शांति और सहयोग के लिए राष्ट्रों को किन-किन नियमों पर चलना चाहिए। वस्तुतः आज के युग में यह आवश्यक भी हो गया है कि देशों के लिए भी कुछ नियम बना दिये जायँ, जिन्हें अंगीकार कर वे अच्छे राष्ट्र होने का प्रमाण दें और आपस में मिलकर रहें, लड़ाई-झगड़े से दूर रहें।

आधुनिक युग में, सर्वप्रथम, राजनीतिक क्षेत्र में 'पंचशील' शब्द का प्रयोग हमारे पड़ोसी देश हिन्देशिया ने किया। दूसरे महायुद्ध के बाद इस देश के लोगों को डचों के शासन से मुक्ति पाने के लिए संघर्ष करना पड़ा। हिन्देशिया के निवासियों ने डच शासन के विरुद्ध लोहा लेने के लिए पाँच सिद्धांत निर्धारित किये और उन्हीं पाँचों सिद्धांतों का नाम रखा—'पंचशील'। यह शब्द बौद्ध धर्म के साथ-साथ बहुत पहले ही वहाँ पहुँच चुका था।

कुछ ही दिनों के बाद हिन्देशिया वालों के द्वारा प्रचारित अपने यहाँ के इस अति प्राचीन 'पंचशील' शब्द को पुनः भारत ने अपनाया। पिछले चालीस वर्ष में, विश्व के विस्तृत वक्ष पर दो-दो संहारक महायुद्ध हुए, जिनसे बड़ी बरबादी-तबाही हुई। इन दोनों बड़ी लड़ाइयों में नये-नये भयानक शस्त्रास्त्रों से खुलकर काम लिया गया। अभी कुछ ही वर्ष पहले कोरिया में भी कुहराम मच गया था और तीसरा महायुद्ध होने से बाल-बाल बचा। अभी भी कुछ देशों में व्यापक विनाश के शस्त्रास्त्र बनाये जा रहे हैं। एटम बम, हाइड्रोजन बम, कोबाल्ट बम और इनसे भी ज्यादा ऐसे-ऐसे भयंकर अस्त्र बन रहे हैं, जिनका युद्ध में प्रयोग होने पर मनुष्य जाति के नष्ट हो जाने तक की आशंका है। भारत को बहुत दिनों से यह चिंता लगी हुई है कि विश्व में युद्ध की वीभिषिका का सदा के लिए अन्त हो कर सर्वत्र शांति के साम्राज्य की प्रतिष्ठा हो। सभी देश युद्ध की तैयारियों से सर्वथा तटस्थ होकर शांति के प्रशस्त-पथ पर अग्रसर हों। तभी तो, जब जून १९५४ में चीन के प्रधान मन्त्री चो-एन-लाई भारत में आये, तब भारत और चीन ने मिलकर राष्ट्रों के आपसी संबंधों के विषय में पाँच सिद्धांत स्वीकार किये। ये पांचों सिद्धांत उस समझौते की भूमिका में रखे गये थे, जो तिब्बत को लेकर तिब्बत और चीन के बीच हुआ था, पर इनमें सच्चाई इतनी गहरी है कि संसार के अनेक देशों ने इन सिद्धांतों को मान लिया है। राष्ट्रों के आपसी व्यवहार के पाँचों सिद्धांत ये हैं—

(१) एक दूसरे की स्वतंत्रता का सम्मान करें। (२) एक दूसरे के भूभाग की अखंडता और प्रभु-सत्ता स्वीकार करें। (३) एक दूसरे के घरेलू या विदेशी मामलों में हस्तक्षेप न करें। (४) एक दूसरे पर आक्रमण न करें। (५) एक दूसरे का हित सोचें और अपने-अपने ढंग पर चलते हुए भी पारस्परिक सद्भावना एवं शांति से साथ रहें।

यही है आज का 'पंचशील'। अपने-अपने ढंग से चलते हुए और अपने-अपने रूप-रंग एवं चाल-ढाल को कायम रखकर भी विभिन्न राष्ट्र शांतिपूर्वक परस्पर निर्वाह कर सकें— आज के युद्ध-त्रस्त जगत् को इसकी सबसे अधिक आवश्यकता है। वस्तुतः आज जहाँ एक ओर अमेरिका, इंगलैंड आदि समर्थ और सक्षम देश अन्य दुर्बल-निर्बल और निरीह देशों की रक्षा करने की आड़ में, नाटो, मीडो, सीटो, बागदाद-पैक्ट आदि के रूप में सैनिक-संधियों का जाल बिछा कर दुर्बल देशों को उसमें फँसा रहे हैं, वहाँ यह पंचशील मानों समर्थ और सक्षम देशों को एक महान् चुनौती ही है। यह डंके पर चोट देकर कह रहा है कि इस मार्ग को अपनाने से दुनिया के सामने सुख, शांति और समृद्धि का उज्ज्वल भविष्य है; और नहीं अपनाने से अशांति, उत्पीड़न और सर्वनाश। अभी-अभी इसी साल हिन्देशिया के बांडुंग में एशिया तथा अफ्रीका के जितने देशों ने भाग लिया था, उनमें अधिकांश ने पंचशील के सिद्धांत स्वीकार भी कर लिये हैं। अब तो शक्तिशाली रूस भी इस भारतीय पंचशील के सामने सर झुकाने को प्रस्तुत दीख पड़ता है।

जो हो, आज से ढाई हजार वर्ष पहले भारत ने ही, व्यक्ति को ऊपर उठाने के लिए, मानवता के परिष्कार के लिए 'पंचशील' के पाँच नियम-रत्न संसार के समक्ष रखे थे और आज भगवान बुद्ध के उसी देश ने राष्ट्रों के पारस्परिक व्यवहार के सिद्धांत 'पंचशील' के ही द्वारा संस्थापित किये हैं। यही कारण है कि हमारा भारत आज 'पंचशील' के साथ सारे विश्व का शांतिदूत बन रहा है।

राष्ट्रीय जागरण का महत्त्व

आधुनिक शिक्षा की प्रमुख समस्याओं में सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण यह है कि नई पीढ़ी वालों में राष्ट्रीयता की भावना किस प्रकार जाग्रत की जाय। हम स्वाधीन हो गये हैं; इसका यह अर्थ नहीं कि हम राष्ट्र की स्वाधीनता को अक्षुण्य बनाये रखने में समर्थ हैं। भारत एक राष्ट्र के रूप में स्वतंत्र हो गया, फिर भी यहाँ प्रांतीयता, जातीयता तथा सांप्रदायिकता का अभी अन्त नहीं हुआ। प्रान्तों के भाषावार विभाजन पर और अधिकजोर दिया जा रहा है। समाज पुराने पचड़ों को नहीं छोड़ सका है। अशिक्षित और पिछड़े हुए वर्ग अभी तक आगे नहीं बढ़ सके हैं। इसका हल निकालने के लिए राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक को यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि यदि हमारा राष्ट्रीय विकास न हुआ, यदि हम संगठित होकर एक न हो सके, अथवा राष्ट्र की पूर्ण एकता की रक्षा हम न कर सके तो हमारी स्वाधीनता एक दिन भी नहीं टिकने की।

कोई भी राष्ट्र तब तक नहीं पनप सकता जब तक कि उसके नागरिक काल्पनिक भावनाओं से मुक्त होकर विचार और व्यवहार के प्रत्यक्षीकरण में खून और पसीना एक नहीं कर देते। ठोस कार्य करने की इस भावना का बीज जिन नागरिकों में अंकुरित हो चुका है उन्हीं की सुदृढ़ नींव पर राष्ट्र सिर ऊँचा करके खड़ा हो सकता है।

राष्ट्रीय जागरण के मूल में एकसूत्रता की भावना अन्तर्निहित है। हम केवल सोचते ही नहीं हैं; कि हम भारतीय हैं; बल्कि भारतीय होने का अनुभव भी करते हैं। यह अनुभवशीलता अत्यन्त अपेक्षित है।

दूसरी आवश्यकता इस बात की है कि हम उन महान् आत्माओं के दिखलाये हुए मार्ग का अनुसरण करें, जिनके शौर्य, कर्मठता

और धीरोदात्तता का वर्णन परम्परागत इतिहास में होता चला आया है। उनके ज्वलन्त उदाहरण हमारे अज्ञान और हमारी खामियों को दूर करने में सहायक होंगे।

तीसरा महत्त्वपूर्ण कार्य जो हमें करना है वह है संस्कृति के मूल तत्त्वों का खुली आँखों से अध्ययन करना। ये तत्त्व हमारे संकुचित मस्तिष्क को विस्तृत बना देंगे। हमारे पुरातन सामाजिक आचार-विचार, जीवन की विशेषताएँ, आदर्श और सिद्धांत, जो आज भी यथावत् है, अमर हैं, हमारे दृष्टिकोण के दोषों को दूर कर देंगे।

भाषा, जातिगत स्मृतियां और महासम्मत इतिहास का हमारे मस्तिष्क पर बड़ा प्रभाव है! सीता एक छोटा-सा शब्द है। किन्तु इसमें सर्वांगीण आकर्षण है। वह परम्परा की भावना को ताजा करके आगे बढ़ाता है, जीवन की विशेषताओं में नूतनता लाता है और महिला-जाति के साहस एवं सौजन्य का प्रतीक है। पंजाब से लेकर तामिलनाड तक यह नाम आदर तथा आचार-विचार की भावना को प्रेरित करता और जनता के अधिकांश भाग पर अपना प्रभाव डालता रहता है। 'ब्रह्मचर्य' शब्द का अर्थ है इंद्रियों का नियंत्रण। यह आदर्शमय माना जाता है। साथ ही, समाज में इसका पालन करनेवाले का बड़ा आदर किया जाता है। ये दोनों ही शब्द कितने संस्कृतमय है।

अशिक्षित अथवा कुशिक्षित के लिए इन शब्दों का कोई मूल्य नहीं। आधुनिक प्रगतिशील महिला को 'सीता' शब्द पर हँसी आती है, इससे उसे कोई प्रेरणा नहीं मिलती। एक बार लाहौर में एक नवयुवती से गाँधीजी के बारे में बात होने लगी। बातचीत के दौरान में ब्रह्मचर्य की साधना की ओर संकेत किया गया। बाजारू पंजाबी के अतिरिक्त सांस्कृतिक भाषा न जानने के कारण उसने शब्द का उच्चारण उर्दू के लहजे में ब्र-रेम-चारी

किया। उसने शायद समझा कि 'ब्रह्मचारी' का अर्थ भिखारी होता है। वह अपने अज्ञान के कारण शब्द के सुन्दर पर्यायों एवं संगतियों के आनन्द से वंचित रह गई। हमारी संस्कृति की ऐसी अवहेलना क्या उपेक्षणीय है?

भारत के विभाजन के दुष्परिणामों पर ही विचार किया जाय। प्रश्न उठता है कि यह विभाजन क्यों हो गया? उत्तर साफ है। सभी भारतीय राष्ट्र की एकसूत्रता के आकांक्षी नहीं थे। इसका प्रमुख कारण था ब्रिटिश प्रभाव के अन्तर्गत तैयार किये गये विधान के अनुसार इतिहास पढ़ाना। प्रताप और शिवाजी विद्यार्थियों के लिए इसलिए महान् थे कि उन्होंने अत्याचारों का कड़ा विरोध किया था। मुसलमानों की सत्ता हिन्दुओं पर से उठ गई। उन्हें महमूद गजनवी और औरंगजेब के जमानों को गर्व की दृष्टि से याद कर लेने से संतोष हो जाने लगा। एक बार हैदराबाद में मैंने निजाम को अकबरी परम्परा का प्रतिनिधि बताया गया। आदर प्रकट करने की दृष्टि से इस तुलना को पर्याप्त समझा गया। मगर उर्दू समाचार-पत्रों ने इसे अपने सुयोग्य शासक का बड़ा अपमान समझा कि उसकी तुलना एक 'काफिर' से की गई। हिन्दू के लिए गाँधीजी महात्मा थे। राष्ट्रवादी मुसलमानों के लिए वे एक नेता मात्र थे। केवल अपनी मृत्यु के कुछ दिन पहले ही उन्हें मुसलमानों ने अपना मसीहा माना था। अर्द्ध चैतन्य मुसलमान के लिए वे कपटी और छली थे। भारतीयों ने सामूहिक चेतना का अनुभव नहीं किया और परिणामस्वरूप पाकिस्तान की स्थापना अनिवार्य हो गई।

भारतीय राष्ट्रवाद का आविर्भाव ऐसे भारतीयों की सामूहिक चेतना से हुआ है, जिनकी संस्कृति की जड़ बड़ी गहराई तक जा चुकी थी। पश्चिमी संपर्क में आने के पश्चात् राष्ट्रीयता का क्षेत्र और उर्वर हो गया। यूरोपीय तर्कवाद से प्रभावित होकर राम-

मोहन राय ने भारतीयों को अपना धार्मिक दृष्टिकोण विस्तृत करने के लिए उपनिषद् साहित्य का अनुसरण करने की सलाह दी। दयानन्द सरस्वती ने धर्म और राष्ट्रीयता की भावनाओं में सामंजस्य स्थापित रखने की दृष्टि से वेदों के अनुशीलन पर बड़ा जोर दिया। उनका लक्ष्य था अन्धविश्वासों से मुक्ति, वर्णों में समता की भावना, महिला स्वातंत्र्य, राष्ट्रभाषा, राष्ट्र के प्राचीन गौरव की शिक्षा आदि। बंकिमचन्द्र ने राष्ट्रीय युद्ध लड़ने के लिए धार्मिक भावना का होना आवश्यक बताया। दुर्गा माता ने भारत माता का चोला पहन लिया। दुर्गा को अर्पित की जानेवाली 'वन्देमातरम्' प्रार्थना राष्ट्र-गान हो गई। श्री अरविन्द ने, जो हमारे वर्तमान राष्ट्रवाद के अन्यतम नेता थे, निःसंकोच भाव से कहा कि राष्ट्रवाद ही हमारा नया धर्म है। उन्होंने हमारे धर्म को परलोकवाद की भावना से मुक्त किया। राष्ट्र-सेवा को उन्होंने कर्मयोग घोषित किया। वही भारत, जिसने ऋषि-मुनियों को जन्म दिया था, राष्ट्रवादी शहीदों का देश बन गया।

गाँधीजी ने हमारे राष्ट्रवाद को एक नया घुमाव दिया। उन्होंने परलोकवाद की भावना का कड़ा विरोध किया। उनके प्रभाव में आकर धार्मिक आन्दोलनों में राहु-सा लग गया। उन्होंने सामाजिक शाखाओं को संगठित किया, अबलाओं की रक्षा की, और अछूतपन को हटाया। सेवा-कर्म ही मोक्ष का साधन माना जाने लगा। उन्होंने मुसलमानों को भी बिना मुस्लिम संस्कृति की भावना को ठेस लगाये, राष्ट्रीयता की भावना स्वीकार करने के लिए उत्साहित किया।

यह सब वे इसलिए कर सके कि वे सामूहिक अचेतनता को नियंत्रित करने वाले सबसे बड़े और योग्यतम आदमी थे। उन्हें सन्त-साहित्य, भक्ति-साहित्य तथा गीता आदि का बड़ा ज्ञान था। वे राष्ट्र के कण-कण के भक्त थे। भारतीय परम्परा के वे पूर्ण ज्ञाता

थे और एक सच्चे ऋषि का जीवन अपना कर चल रहे थे। हमारे परंपरागत इतिहास को अनुप्राणित करके उन्होंने इसे और ऊँचा उठाया और महत्ता प्रदान की। उन्होंने अपना जीवन-विन्यास गीता के तत्त्व की भित्ति पर ढाला। उन्होंने राष्ट्र को सामूहिक एवं सुसंठित रूप से काम करने की शिक्षा दी। यद्यपि यह तथ्यपूर्ण शिक्षा विश्व के लिए नवीन थी तथापि मूल रूप से यह भारतीयता की भावना से ओत-प्रोत थी। हम उनकी तर्कणाशक्ति से उतना प्रभावित नहीं हुए, जितना कि सामूहिक अचेतनता पर उनके नियंत्रण से। वे हमारे लिए सन्त थे, महात्मा थे, बापू थे। जिस प्रकार वाशिंगटन अमेरिका के पिता माने जाते हैं, उस प्रकार वे राष्ट्रपिता बने। देश की बहुसलिला-पावनी नदियों में उनकी अस्थियों के अवशेष प्रवाहित करने की हमारी इतनी तीव्र उत्कंठा इसीलिए थी कि पूर्वजों की भाँति उनके अवशेषों के पावन-स्पर्श से सारा राष्ट्र पवित्र हो जाय—स्वाधीनता एवं राष्ट्रीयता की भावना से निखर उठे।

यह निर्विवाद है कि जबतक गाँधीजी के बताए हुए मार्ग द्वारा नई पीढ़ी का नेतृत्व नहीं किया जाता, तबतक उसकी सामूहिक मूर्छना नहीं हट सकती और न उसमें राष्ट्रीय चेतना ही आ सकती है।

समय का सदुपयोग

सदियों से मनुष्य अपने विकास के लिए चिंतित रहा है। उसका भगीरथ प्रयत्न तो यही रहता है कि जीवन के सभी क्षेत्रों में पूर्ण विकास एवं सफलता प्राप्त करें। वह अपने अस्तित्व को अधिक टिकाऊ और सुविस्तृत बनाने का महत्त्वाकांक्षी है। वह जाने या न जाने, उसकी स्थिति मजबूत होने से उसके समाज की रीढ़ भी पुष्ट होती रहती है और इस प्रकार व्यक्ति और समाज का विकास निरंतर

अबाध गति से आगे की ओर उन्मुख होता चला जा रहा है। इस विकास के मूल में एक ऐसी भावना है, जो विश्व के कर्मक्षेत्र का प्राण है—वह है काम करने की, समय का पूरा-पूरा लाभ उठा लेने की भावना। इसी भावना से अनुप्राणित होकर अगणित मस्तिष्क और अगणित हाथ-पैर इसकी अनंत साधना में दिनरात रत रहते हैं और सर्वांगीण विकास की ओर पैर बढ़ाते चले जाते हैं।

मनुष्य अपने अल्पकालीन जीवन में बहुत कुछ कर लेना चाहता है पर वह कुछ कर जाता है और कुछ अधूरा छोड़ जाता है। यह अधूरा काम या तो उसके उत्तराधिकारी करते हैं या और कोई। जीवन में सभी काम न कर पाने के सम्बन्ध में उसकी शिकायत रहती है—साधनों के अभाव की, अनुकूल वातावरण की, उपयुक्त सहयोग के अभाव की। यह ठीक है कि हम अपने सभी विचारों को ठोस रूप नहीं दे पाते; परन्तु जीवन में उतार-चढ़ाव तो स्वाभाविक ही है। हाँ, यदि हम दृढ़-व्रती हुए, तो हमारे पल्ले सफलता अधिक पड़ती है और निर्बल-हृदय हुए तो हमारे महत्त्वपूर्ण काम बिछुड़ जाते हैं और हम पथभ्रष्ट होकर, पछताते हुए, अपनी जीवन-लीला समाप्त करते हैं।

क्षोभ, दुःख और पश्चात्ताप का यह वातावरण क्या सन्तोष, सुख और आनन्द के रूप में नहीं बदला जा सकता! उत्तर 'हाँ' में दिया जाता रहा है और मैं भी अपनी राय ऐसी ही कुछ रखता हूँ। पर मेरी 'हाँ' का तात्पर्य उस वर्ग से है, जो मिला हुआ समय व्यर्थ नहीं जाने देता और आलस्य, तन्द्रा या अनुत्तर-दायित्व के रोगों से मुक्त रहता है। दूसरा वर्ग ऐसा हो सकता है, जो कर्मठ होने पर भी अपने कामों को पूरा न कर पा सकने की शिकायत करता है। शायद उसे मिले हुए समय का, अवसर का

पूरा-पूरा उपयोग करने की विधि का ज्ञान नहीं अथवा इस बात का ज्ञान होते हुए भी वह उस ज्ञान की अवहेलना करता है और समय-असमय काम करके पछताता भी है। समस्या समय-असमय या समय पर आवश्यक-अनावश्यक काम करने की है।

बहुधा ऐसे उदाहरण सामने आये हैं जिनमें कहा गया है कि यदि अवसर न चूकते तो आज और ही कुछ होते ; विगत दिनों के क्षण पुनः प्राप्त हो जायँ तो कुछ कर दिखाते ; अब वह पौरुष नहीं रहा, वह समय नहीं रहा, अन्यथा धरती से पानी निकाल कर दिखा देते। यह तो लगभग उन सभी का कहना है जो जमाना देख चुके हैं। पर जिन्हें अभी बहुत कुछ देखना है, जिन्हें अपने कन्धों पर रखे बोझों से हल्का होना है, वे भी नहीं चेतते। उनकी तन्द्रा, उनकी लापरवाही अभी तक ज्यों की त्यों जारी है।

कठिनाइयों से मुक्ति पाने के लिए कहीं दूर नहीं जाना है। समय के प्रतिपल-प्रतिक्षण का हिसाब रखा जाय और अपनी-अपनी सुविधानुसार अपने-अपने कामों को पूरा किया जाय तो व्यर्थ के बखेड़े क्यों उठ खड़े हों ? आये दिन भीतर-बाहर की अशान्ति का शिकार क्यों होना पड़े ?

मान लीजिए, आप दिन भर काम करके थक गये हैं और अब थोड़ा-सा विश्राम करने के बाद अपने अधूरे कामों को पूरा करने के लिए, कुछ खरीदने के लिए, मिलने-मिलाने के लिए, आप घर से निकल पड़े। रास्ते में आपको ऐसा व्यक्ति मिला जिससे मिलना नितांत आवश्यक था। पता नहीं, इसके बाद वह फिर कब या किस समय मिले ? पर मुश्किल यह है कि वह व्यक्ति अन्य व्यक्ति से बात कर रहा है। अब न तो आप उसे बीच में टोक सकते हैं और न उससे बिना बात किये चला जाना चाहते हैं। इसका भी कुछ ठीक नहीं कि आप रुके रहें—आध घंटे तक या पूरे घंटे भर यों ही

उन दोनों की ओर ताकते खड़े रहेंगे? आप शायद कहेंगे कि उन्हें देखकर या उस स्थान के चारों ओर के कार्य-व्यापार पर दृष्टि डालकर बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। कह नहीं सकता कि आपके इस कथन में कहाँ तक सत्य है, परन्तु इस कथन का कोई प्रत्यक्ष मूल्य नहीं। वह तो प्रयास करने पर भी अध्ययन-योग्य सामग्री प्राप्त करने पर ही सम्भव हो सकेगा। जब आपको ठहरना ही पड़ गया तब आप उस पूरे घंटे भर करेंगे क्या? क्या आपकी जेब में कुछ लिखने को है, पढ़ने को है, पूरा करने को है; या किसी अधूरी योजना पर पुनः पूरी तरह से विचार करने को है, अधूरा काम निपटाने को है? पता लगाने पर, सोचने पर कुछ न कुछ अवश्य निकल ही आयगा और वह कुछ ऐसा होगा कि बिना उस स्थान से दूर गये हुए आप उसे पूरा करने में समर्थ होंगे। वास्तविक दृष्टि से समय के पूरे-पूरे उपयोग की यही विधि अपनानी है, अपने जीवन में व्यवहृत करनी है।

कभी-कभी यह शिकायत आती है कि क्या २४ घंटे अपने आपको कामों की चक्की में ही पीसते रहें? वास्तव में ऐसी सलाह न तो कोई देगा और न तो कोई मानेगा। अपने खाली समय के प्रतिक्षण प्रतिपल का उपयोग करने का अर्थ यह है कि आप उस क्षण में वही काम करें, जिसमें आपको रुचि है। अपना काम करने में तो रुचि होती ही है, साथ ही दूसरों को समझाने या सहायता देने का कार्य भी आपकी, मेरा विचार है, रुचि का ही होगा। आप जरा काम करके तो देखिए। बड़ा सन्तोष होगा। रुचि अधिकाधिक बढ़ेगी। अधिक समय तक उस कार्य में लगे रहने पर भी आपको थकान न मालूम पड़ेगी। आपकी सहायता प्राप्त करने के लिए आपके घर वाले, परिवार वाले ही उत्सुक नहीं है, बल्कि घर के बाहर भी, दुनियाँ में भी, सैकड़ों-हजारों ऐसे हैं जिन्हें आपकी,

आपके धन की, आपके समय की आवश्यकता है। आप उनके पास, जब समय मिले, पहुँच जाइए; उन्हें बाँह पकड़ कर, बन्धु कहकर उठाइए; वे बिना कौड़ी के आपके अभिन्न मित्र हो जायँगे। सवाल है काम में रुचि लेनेका।

आपकी आँखें खराब हैं। डाक्टर महोदय ने सलाह दी है कि इधर-उधर के विज्ञापनों के फेर में नहीं पड़कर केवल एक प्राकृतिक उपाय का प्रयोग करें। वह यह कि आँखों को हथेलियों से बन्दकर लीजिए, मन ही मन काली-काली वस्तुओं की कल्पना कीजिए और तत्पश्चात् पूर्ववत् हो जाइए। अब यदि आप अवसर मिलते ही नित्य-प्रति इस प्रयोग को पूरा कर लें तो निस्संदेह समय का पूरा-पूरा उपयोग होगा, साथ ही स्वास्थ्य-लाभ भी कर लेंगे।

आप बहुधा अपने सामने कामों की बाढ़ देखकर घबड़ा जाते हैं और यही विचारते हैं कि कौन काम, कब, किस समय किया जाय—समय ही नहीं मिलता। यह कहना उचित नहीं लगता। आप कई अवसर पाते हैं, पर इधर-उधर करके व्यर्थ ही उन्हें हाथ से चले जाने देते हैं। समय पाते ही काम करने की सोचिए और करके देखिए। हाँ, आपको एक बात ध्यान में रखनी होगी कि आपके अल्पकालीन जीवन में व्यर्थ की बातचीत करने का समय नहीं है। रास्ते में, अपने घर पर या किसी के भी घर पर, व्यर्थ बात न करने का आप प्रण कर लें। फिर देखिए, आपको कितना समय मिलता है।

अधिकांश माता-पिता कहा करते हैं कि वे अपने बच्चों को लिखाने-पढ़ाने के लिए समय ही नहीं पाते। पर कुछ ऐसे उदाहरण आये हैं, जहाँ माता ने रोटी पकाते-पकाते ही बालक को अनेक पाठ याद करा दिये अथवा पिता ने कपड़े पहनते-पहनते पुत्र को गणित के कई एक सिद्धान्त समझा दिये।

मैंने कई वार ऐसी महिलाओं तथा बालिकाओं को देखा है, जो रेलगाड़ी, मोटर अथवा ताँगे आदि की प्रतीक्षा करते समय बच्चों या बूढ़ों के लिए कुछ-न-कुछ बुना ही करती हैं। यही बात चित्र या रेखाचित्र बनाने, वैयक्तिक सेवा-भाव का महिमा बताने, दैनिक या आकस्मिक घटनाओं के निराकरण के लिए उपयोगी डाक्टरी या वैद्यकी उपाय समझने, किसी महत्त्वपूर्ण स्थान की यात्रा करने, महान् पुरुषों के चरणों में बैठकर कुछ सीखने तथा अन्य ऐसी ही कम-से-कम समय लेने वाली बातों के सम्बन्ध में भी लागू होती है।

समय का सदुपयोग करने का तत्कालिक सन्तोष तो होता ही है; परन्तु कुछ ऐसे लेखक भी हैं जिन्होंने क्षणों और बलों को बटोरकर कई एक लेख लिखे हैं और पुस्तकें लिखने की योजनाएँ, यात्रा की योजनाएँ या अवकाश के किसी दिन का सारा कार्य-क्रम बनाने आदि में भी सफलता प्राप्त की है। इसके लिए सुबह-शाम करना या तिथियाँ निश्चित करना व्यर्थ-सा लगता है। विचार उठा; अवसर मिला और काम पूरा किया। यही मूलमंत्र है समय का पूरा-पूरा उपयोग करने और अपने विचारों को सार्थक बनाने का।

समाजिकता का भाव

आप सामाजिक प्राणी है, इसलिए समाज के प्रति आप के कुछ कर्त्तव्य हैं और कुछ अधिकार भी। यदि ऐसा है तो समाज की सहायता करने में आप अपना हिस्सा बढ़कर लें। कहा गया है कि 'एक दूसरे को प्रेम करो', किन्तु इससे भी ऊँचा काम है—'एक दूसरे की मदद करो।' जब दूसरों को आप के समय की अथवा धन की आवश्यकता हो तो जो कुछ भी आप का हो, वह दूसरों को समय

पर देने में आप पीछे न रहें और सदैव यही भाव बनाये रहें कि आप के मित्रों तथा सुहृदों को जब भी आप की आवश्यकता हो, तभी आप सहयोग का हाथ बढ़ाकर उनके लिए उपयोगी सिद्ध हों। यदि आपको मालूम हो जाय कि अमुक व्यक्ति को आपकी आवश्यकता है तो बिना उसके कुछ कहे ही आप उसके पास जा पहुँचें और यथाशक्ति उसकी सहायता करें।

पहला काम आपका है वैयक्तिक सेवा-भाव लेकर आगे बढ़ना। आप सुशिक्षित हैं तो अनपढ़ों को पढ़ाइए; क्योंकि आपने उन्हीं शिक्षण-संस्थाओं में शिक्षा पाई है, जिन्हें दूसरे ने सम्पन्न बनाया है। आपका कर्त्तव्य है कि आप विज्ञान, इतिहास, साहित्य, अर्थशास्त्र आदि विभिन्न विषय जनसाधारण को सरल-सीधी भाषा में समझावें। उन्हीं के श्रम का फल है कि आप शिक्षित हुए हैं। विद्या-दान से विद्या फलती-फूलती है। दूसरों को बताने से आपके ये विषय सदैव ताजा रहेंगे। अज्ञान ही इस युग का सब से बड़ा अभिशाप है। अज्ञानी जातियाँ निकम्मी और मूढ़ होती जा रही हैं। अंधविश्वास और धर्मान्धता उन्हें खाये जा रही है। जिस लोकतंत्र में शिक्षण की उचित व्यवस्था नहीं है, वहाँ की शासन व्यवस्था का अर्थ है मूर्खों पर दुष्टों का राज्य। भयंकर युद्धवादी नीतियोंका प्रमुख कारण निरक्षरता ही है। इसलिए आप गाँव-गाँव, शहर-शहर घूमें और जनता को साक्षर बनाने के लिए व्याख्यान दें, लेख लिखें, कहानियाँ सुनाएँ, सूचना-भरे परचे बँटवाएँ तथा शिक्षण-संगठनों की स्थापना करें। इस कर्त्तव्य से बचना एक शिक्षित के लिए अनुचित और अव्यवहारणीय है।

सच्चा सामाजिक बनने के लिए आपको दूसरी आवश्यकता सहन शक्ति, धैर्य, तथा संतोष की है। आप में भी कमियाँ हैं, आप में भी अभाव और दुर्गुण हैं, इसलिए दूसरों को इस बात का मौका

न दीजिए कि जब आप उन्हें सही रास्ता दिखा रहे हों, तभी वे आपको पहले स्वयं सम्हलने का ताना देकर आपके काम में बाधा डालें। आप को धैर्य और नरमी से काम लेना है। आदमी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ सकता। उसमें कुछ संस्कार संचित रहते हैं; कुछ वंशानुगत, जन्मभूमि-गत भावनाएँ होती हैं; कही-सुनी और लिखी-पढ़ी बातों का प्रभाव पड़ा होता है। माना कि उन्हें अपनी अच्छाइयों एवं बुराइयों का भार स्वयं वहन करना है, किन्तु आप यदि किसी को गलत राह पकड़ते देख लें तो आगे बढ़ कर उसे सचेत कर देना आप का काम है। आप उसे समझायें कि उसे उस प्रकार का बना देने की ज़िम्मेदारी किस पर है। उसके पिता-माता, चाचा-चाची, स्त्री-पुत्र, किसके कारण आज वह ऐसा बना। यदि समझाने के बजाय आप रुष्ट होकर बैठ रहे और आप का पारा चढ़ा रहा तो इससे आपकी ही क्षति है। इससे आप के दिल और दिमाग, दोनों थक जायँगे। यदि आपने उत्तेजनापूर्ण शब्दों से काम लिया तो किया हुआ बुरा काम फिरसे दुहराया जा सकता है, उससे भी भयंकर कृत्य किया जा सकता है। उत्तेजित व्यक्ति समझता है कि वह अपराधी को अपशब्दों और ताड़ना द्वारा सुधार रहा है, किन्तु वह नहीं जानता कि ऐसा करके वह स्वयं अपने प्रति अन्याय कर रहा है। अपराधी स्वयं आपकी बात मानने में, आपके मत को स्वीकार करने में हिचकिचायगा, यहाँ तक कि आप को अपने रास्ते का रोड़ा समझकर डरायगा-धमकायगा, लड़ने-झगड़ने पर आमादा हो जायगा और ऐसे समय यदि आप भी उसी तरह उन्मत्त हो गये तो आपमें और उसमें अन्तर ही क्या रहा ? इस अनर्थकारी प्रकृति के कारण दलों में फूट पड़ जाती है, प्रान्त-प्रान्त और राष्ट्र राष्ट्र एक दूसरे को धिक्कारता और पछाड़ने की कोशिश करता है।

तीसरी बात यह है कि आप ईर्ष्या एवं अपनी अहम्मन्यता

त्याग कर दूसरों की योग्यता का भी मूल्यांकन करें। केवल इसीसे काम नहीं चलेगा कि आपने अपने प्रतिद्वन्द्वियों से ईर्ष्या या द्वेष करना छोड़ दिया है और अब भविष्य में इस रोग से बचे रहेंगे। दूसरों की सफलता पर उन्हें साधुवाद दीजिए। उनकी अच्छाइयों की प्रशंसा करके उन्हें और उत्साहित कीजिए। समाज-सुधार की राह में ईर्ष्या एक बड़ी दीवार है। प्रसिद्ध कवि मोलियर ने कहा है, "ईर्ष्यालु व्यक्ति मर जाते हैं, किन्तु ईर्ष्या नहीं मरती।" उदाहरणार्थ, यदि आप किसी अपने से बुद्धिमान व्यक्ति से मिले तो समझ लें कि उसकी बुद्धि समाज की बुद्धि है और केवल उसी की बुद्धि नहीं है। मानवता के बुनियादी ऐक्य के नाते यह आपकी भी है। प्रकृति द्वारा सभी को यथायोग गुण-अवगुण मिलते हैं। कुछ गुण आप में हैं, कुछ दूसरों में। इससे स्पष्ट है कि कोई किसी से छोटा नहीं, हीन नहीं। वास्तव में ईर्ष्या तो ऐसा निकृष्ट अभिशाप है जो कि बदले में हानि के सिवा और कुछ नहीं देता।

समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करनी है तो सत्य भाषण की चौथी योग्यता आप में होनी आवश्यक है। आप के वचन बड़े चमत्कारी हैं। वे विलग को जोड़ सकते हैं और जोड़े हुए को विलग कर सकते हैं। सुसंयत वचन होगें तो सौहार्द और सहयोग के अवसर ला उपस्थित करेंगे। कटु वचन होंगे तो वैषम्य पैदा कर देंगे। असत्य-भाषण द्वारा आप सामाजिक जीवन को सुमधुर नहीं बना सकते। कोई आपका विश्वास नहीं करेगा, और आपको जब किसी की सहायता प्राप्त नहीं होगी तो पास-पड़ोस का वातावरण सहन करना दूभर हो जायगा। देखा जाय तो पतनोन्मुख व्यक्ति ही अनर्थकारी दुर्वचन बोलता है। दुर्वचन किसी दुष्काम की ही भूमिका या पटाक्षेप प्रस्तुत करते हैं। निष्पक्ष और स्पष्टवादी होना जीवन का एक विशेष गुण है। किसी को कटु सत्य से क्षणिक पीड़ा पहुँचाना श्लाघनीय है,

किन्तु मीठे बोल बोलकर बाद में जड़ काटना पहले दरजे की कृतघ्नता है। छींटेकशी का परिणाम कितना भयंकर होता है, आप जानते होंगे। आपका कर्त्तव्य तो यह है कि किसी से छोटा-मोटा अपराध हो जाय तो उसे झिड़क-झिड़क कर कुरेदना नहीं चाहिए। अपने सहयोगियों अथवा अन्य व्यक्तियों के कार्यों की अनर्गल टीका-टिप्पणी करना आपके लिए बहुत घातक है। आप चाहे इस बात को यह कह कर टाल देना चाहें कि हम तो यों ही चर्चा कर रहे हैं, किन्तु आपके साथी पर क्या असर हुआ, इसका आपको पता नहीं। यदि आपने किसी की अनावश्यक बुराई सुनी है तो चुपचाप बैठे न रहिए। ऐसा करके आप उस व्यक्ति के प्रति, जिसे आप निर्दोष समझते है, घोर अन्याय कर रहे हैं। आप दृढ़ता से बुराई करनेवाले का सामना कीजिए। यदि आप को किसी भी वास्तविक बुराई का पता लगा है तो आप उसके पीठ-पीछे विष न फैलाकर सीधे उसी को जा खटखटाइए और उसे सावधान कर दीजिए। ऐसा करने से वह सावधान हो जायगा और फिर वैसा करने की उसकी हिम्मत शायद न होगी। आपको अविनीत और उद्धत व्यवहार के कुपरिणामों से बचना है। बहुधा आप यह सोचते हैं कि आप अपने से अधिक शिक्षित एवं समृद्ध व्यक्तियों से अशिष्टता-पूर्ण व्यवहार करें और यह प्रदर्शन करें कि विद्या-वैभव में हीन होते हुए भी आप उनसे किसी कदर कम नहीं हैं। आज के युग में यह दुर्जयी कीड़ा सभी दिल-दिमाग को खोखला करता जा रहा है। अतः, व्यवहार में आपको विनीत, मितभाषी होकर आदरसूचक शब्दों का प्रयोग करना है। चाहिए तो यह कि जो जिस योग्य है, उसे वैसा ही आदर-सम्मान और स्नेह अर्पण किया जाय। किसी की प्रतिष्ठा में कमी करने के असफल प्रयत्न से आप को अपयश के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलने का। दूसरी ओर, यदि आपने

अपने से किसी छोटे व्यक्ति का अपमान करके उसे उसके छोटे-पन का ज्ञान करा दिया तो वह आप से दूर रहने का प्रयत्न करेगा और बहुत सम्भव है कि आप की इस जरा-सी बात को गाँठ बाँध लें और जीवन पर्यन्त आप से पहले की तरह दिल खोलकर न मिल सके या आपका सर्वथा त्याग ही कर दे।

पाँचवाँ गुण जो आपको एक नागरिक के नाते अपने में अपनाना है, वह है सुशीलता। आप जो हैं उससे ऊपर उठ सकते हैं या नीचे गिर सकते हैं। अपना अधिकार अवश्य माँगिए, किन्तु उससे अधिक नहीं। समाज आपका जो मूल्य निर्धारण करता है, उससे अधिक पाने की फलाशा को त्याग दें। यदि आप के गुणों को बढ़ा-चढ़ाकर बरबाद करनेवाले मित्रों की भीड़ आप के साथ है, तो उसके पंजे से बचें अन्यथा वह भटका कर आपको किसी नुकीली और खुरदरी चट्टान पर ले जाकर पटकेगी और आप फिर न उठ सकेंगे। दम्भोक्तियाँ उसी के मुँख से निकलती हैं, जो भीतर से रीता और ऊपर से लीपा-पुता है। सुशीलता और सादगी भी आपको घमंडी और बनावटी होने से बचायगी। आपके समाज में अधिकांश लोग ऐसे है जो दम्भियों और डींगें मारने वालों को कभी पसंद नहीं करते, उल्टे उनसे रुष्ट रहते हैं।

आप स्वंय अपना प्रचार करने की आदत छोड़ दीजिए। फिर आप अनुभव करेंगे कि आप की विशेषता को जानने की इच्छा रखनेवाले स्वतः आपको जान गये। आज के दूषित वातावरण ने कोई अपनी योग्यता या अज्ञान के दम्भपूर्ण स्तर से नीचे उतर कर समझौता नहीं करना चाहता, किन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि सहयोग की पहली सीढ़ी समझौता है। संसार में एक ही व्यक्ति होता तो कोई बात नहीं थी।

छठी विशेषता जो आपको अपने में उपजानी है, वह है न्याय-

प्रियता। सभी जानते है कि सबल निर्बल को दबा देता है। हम जानते हैं कि हमारा आजका समाज ऊँच-नीच की भावना पर अवलंबित है और हमारी आजकी सभ्यता का मूल अन्याय है।

इसीलिए आवश्यकता इस बात की है कि आप पहले न्याय-पथ के राही बनें। ऐसा करने से आपकी आवाज में, आप की चाल में, आपके व्यवहार में और आपके निकटवर्ती वातावरण में सच्चे ओज, निर्भीकता और दिव्य आभा का पुट मिल जायगा। आप अपने को अधिक बलवान, स्वस्थ और समाज में अक्षय कीर्ति का अधिकारी बना हुआ पायँगे।

न्यायप्रिय होने पर आपके मन के लोलुप भाव धुल जायँगे। आप जानते हैं कि समाज में तीन प्रकार की श्रेणियाँ है—उच्च वर्ग, जिसमें जमीन्दार, मिल-कारखानों के मालिक, शासक गण, पदाधिकारी आदि हैं; मध्यम वर्ग, जिसमें कमाने-खाने वाले सामान्य लोग हैं तथा निम्न वर्ग, जिसमें क्लर्क, मजदूर आदि हैं।

आपकी लोलुप वृत्ति उन अग्रगामी आन्दोलनों की जड़ पर आघात करेगी जिनके आप संचालक हैं। आप की ही स्वाधीनता के कारण बहुतों के जान-माल की हानि होगी।

अपने पक्ष को न्यायसंगत सिद्ध करने या अपना मतलब सीधा करने या धर्म के पर्दे की आड़ लेकर और अन्तर में लोभ की चिनगारी रखकर न जाने कितनों ने बड़े बड़े सुधारकों और नेताओं का हनन किया है। उसी अर्थ-पिपासा के कारण प्रत्येक सदी लाखों-करोड़ों व्यक्तियों का बलिदान लेती है। न्यायप्रियता का गुण आपको 'छीन और हड़प' की दुर्नीति से बचायगा।

आप यदि दूध को दूध और पानी को पानी कहने लगे हैं, तो आशा है कि आप वही धंधा अपने हाथ में लेंगे, जो लोक-कल्याण से संबंध रखता है, अथवा जिससे आपके बिगड़ जाने का अन्देशा नहीं है।

सातवाँ और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण गुण जो आप को अपनाना है, वह जीव-जन्तुओं के प्रति प्रेमभाव और उनके पालक-पोषक बनने की भावना अपने में पैदा करना है। सभ्यता के आदिकाल से लेकर मनुष्य जाति पशुओं के प्रति बड़ा अन्याय करती रही है। लाखों-करोड़ों का नित्य प्रति वध किया जा रहा है।

आपके दैनिक जीवन के जो संगी-साथी हैं, उनकी देख-भाल भी रखिए। आप जिस सभ्यता और संस्कृति के कारण इतने ऊँचे माने जाते है, उसके निर्माण में इनका भी हाथ है। आपके पूर्वज इनकी मंगलमय आकृतियों को संस्कृति का प्रतीक मानकर राष्ट्र की कलात्मक वस्तुओं पर उनका अंकन कर गये हैं। इस थाती को आप सुरक्षित और अक्षुण्ण बनावें।

अधिकार और कर्त्तव्य

यह तो मानी हुई बात है कि हम सामाजिक जीव हैं; समाज से हमारा दामन-चोली का संबंध है—हम समाज के व्यक्ति हैं और हम व्यक्तियों की संयत् समष्टि ही समाज है। इसलिए, हम व्यक्तियों के रूप में जैसा बनेंगे, हमारा समाज भी वैसा ही होगा। अतएव, समाज का यह एकांत कर्त्तव्य हो जाता है कि वह हमारे लिए ऐसी परिस्थितियाँ या अवसर पैदा करे, जिनके सहारे हम अपने जीवन को पूर्ण रूपेण विकसित कर सकें। यों तो समाज में इने-गिने व्यक्तियों को अपने विकास के अवसर किसी भी सामाजिक परिस्थिति में प्राप्त हो सकते हैं; लेकिन कुछ ही लोगों की उन्नति और विकास से तो समाज की सर्वतोमुखी उन्नति संभव नहीं है। यहाँ तो समान रूप से सभी व्यक्तियों को उत्थान करने का सुयोग मिलना चाहिए। और, समाज का सदस्य होने के नाते हमारा जन्मसिद्ध अधिकार हो

जाता है कि हम समाज से ऐसे अवसरों की माँग करें, जिन्हें हम सभी व्यक्ति समान रूप से उपलब्ध कर सकें और उनके सहारे अपने-अपने जीवन का विकास करने में समर्थ हो सकें। संक्षेप में, समाज में हम व्यक्तियों के विकास के लिए जो अवसर प्राप्त हो सकते हैं, वे ही हम व्यक्तियों के अधिकार कहलाते हैं।

यों तो जिस दिन हम मानव-समाज का निर्माण कर संयत सामाजिक जीवन बिताने की दिशा में अग्रसर हुए, उसी दिन हमने समाज की वेदी पर अपने प्राकृतिक अधिकारो की बलि चढ़ा दी। उनके बदले, हमें अपने व्यक्तित्व के विकास के अवसरों के रूप में सामाजिक अधिकार प्राप्त हों—इसकी व्यवस्था समाज की ओर से की गई। समाज के सभी व्यक्तियों के कल्याण के आधार पर ही इन अधिकारों का निर्माण किया गया—इसीलिए, ये हमारे नितिमूलक या नैतिक अधिकार कहलाये; यानी, समाज में व्यक्तियों के नीति-सम्मत अधिकार, अवसर ही हमारे अधिकार हुए। इन अधिकारों में कुछ ऐसे भी अधिकार निकले, जिनकी रक्षा का भार समाज ने अपनी सर्वप्रधान संस्था राज्य को सौंप दिया और राज्य ने भी अपने विधानों द्वारा उनकी रक्षा का भार अपने ऊपर लिया। हमारे ऐसे अधिकार वैधानिक या नागरिक अधिकार कहलाये। ऐसे अधिकारों की, राज्य की ओर से, स्पष्ट परिभाषा की जाती है और इनमें रुकावटें डालनेवालों को राज्य की ओर से दंड का भागी होना पड़ता है।

हमारे नागरिक अधिकार के भी दो पहलू हो सकते हैं—एक सामाजिक अधिकार, दूसरा राजनीतिक अधिकार। समाज में रहकर जिन अधिकारों के सहारे हम अपने जीवन को ऊपर उठाने में समर्थ होते हैं, वे ही हमारे सामाजिक अधिकार हैं; यथा, जीवित रहने का अधिकार। और, जिन अधिकारों के सहारे हम समाज के

राजनीतिक जीवन में सहयोग प्रदान कर सकते हैं, वे हैं हमारे नागरिक या राजनीतिक अधिकार। अर्थात् समाज के राजनीतिक जीवन के प्रमुख अंग—राज्य—के संचालन में हमें जो अधिकार प्राप्त होते हैं, वे ही हमारे राजनीतिक अधिकार हैं; यथा, मतप्रदान करने के अधिकार, राजनीतिक संस्थाओं में निर्वाचित होने के अधिकार आदि।

पहले राज्य के संचालन की प्रणाली कुछ ऐसी बेढंगी थी कि हमें राजनीतिक अधिकार नाममात्र को ही प्राप्त थे; लेकिन अब तो 'जनता के कल्याण के लिए, जनता द्वारा संचालित, जनता का राज्य' के सिद्धांत का ही तमाम बोलबाला है। अतएव, आजकल हमारे राजनीतिक अधिकार भी अन्य सामाजिक अधिकारों की तरह हमारे जीवन-विकास के महत्त्वपूर्ण अंग बन गये हैं। इन दिनों राज्य समाज के अंग-प्रत्यंग में इस तरह प्रवेश कर गया है कि यह निर्णय करना कठिन हो गया है कि हमारे अधिकारों में कौन शुद्ध सामाजिक अधिकार हैं और कौन राजनीतिक अधिकार। उदाहरण के लिए, शिक्षा प्राप्त करना हमारा अधिकार है और यह सामाजिक अधिकार होते हुए भी कम राजनीतिक महत्त्व नहीं रखता। जब हमें शिक्षित होने का अवसर ही नहीं मिलेगा, तब राज्य-संचालन में किस तरह योगदान दे सकेंगे ?

अतएव, यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त दोनों वर्गों के अधिकारों में मात्र घनिष्ट संबंध ही नहीं है, बल्कि वे एक दूसरे के पूरक भी हैं। अगर हमें सामाजिक अधिकार प्राप्त नहीं, केवल विशुद्ध राजनीतिक अधिकार ही मिल कर रह जायँ, तो हम उन राजनीति अधिकारों का यथोचित उपभोग ही नहीं कर पावेंगे। उसी प्रकार यदि हमें मात्र सामाजिक अधिकार ही मिले रहें, राजनीतिक अधिकार नहीं मिलें तो भी हम उन सामाजिक अधिकारों का उपभोग नहीं कर पावेंगे। यही क्यों, उनकी रक्षा भी नहीं कर सकेंगे।

यों तो सामाजिक और राजनीतिक—इन दोनों वर्गों के अधिकारों को संख्याबद्ध करना कठिन है; क्योंकि देश, काल, पात्र के अनुसार इनकी संख्याएँ घट-बढ़ सकती हैं; फिर भी, निम्नलिखित सामान्य अधिकार, लोकतंत्र राज्य में, व्यक्तियों को अवश्य मिलने चाहिए—(१) अपने जीने का या जीवन-रक्षा करने का अधिकार: (२) न्यूनतम आर्थिक अधिकार, अर्थात् कम से कम अपनी तीनों मौलिक आवश्यकताओं—भोजन-वस्त्र-निवास—की पूर्ति के साधन उपलब्ध करने का अधिकार; (३) अपने जीवन-निर्वाह के लिए काम पाने का अधिकार; (४) अपनी योग्यता, श्रम-शीलता तथा अभिरुचि के अनुकूल वृत्ति या व्यवसाय चुनने का अधिकार; (५) अबाधित रूप से शिक्षा पाने का अधिकार; (६) अपनी श्रम-शक्ति के सहारे अर्जित तथा उत्तराधिकार से प्राप्त अपनी संपत्ति रखने का अधिकार; (७) इच्छानुसार अपनी रहन-सहन रखने, भ्रमण करने तथा निवास स्थिर करने की स्वतंत्रता का अधिकार; (८) स्वतंत्र रूप से विचार-विनिमय करने का अधिकार; (९) स्वतंत्र रूप से सभा-समितियों को संगठित करने और उनके सदस्य बनने का अधिकार; (१०) अपने-अपने धर्म और संस्कृति पर चलने तथा उनकी रक्षा करने का अधिकार; (११) समानता के आधार पर राज्य से न्याय पाने का अधिकार; (१२) राज्य की विधान-सभाओं तथा अन्य लोकतंत्रीय संस्थाओं में मत देने तथा निर्वाचित होने का अधिकार; (१३) योग्यता के आधार पर राजकीय पदों पर नियुक्त होने का अधिकार। इनमें अंतिम दो को विशुद्ध राजनीतिक अधिकार कहा जाता है और शेष को समाज और राज्य, दोनों से संबंध है; लेकिन इन अधिकारों को मान्यता देना तथा इनकी रक्षा करना राज्य का ही कर्त्तव्य होता है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ ने भी मानव-अधिकारों की घोषणा इस रूप में की है—मनुष्य स्वतंत्र पैदा हुआ है। स्वभाव से वह भला है; विवेक-

शील है और हर एक को सम्मान और अधिकार-प्राप्ति का समान हक है। सब को जीवन का, स्वतंत्रता का, तथा शारीरिक सुरक्षा का अधिकार है; कोई गुलाम बना कर नहीं रखा जा सकता है।

लेकिन, अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या व्यक्ति केवल अधिकारों को प्राप्त करके ही मानवता के यथार्थ मार्ग पर अग्रसर हो सकता है? क्या केवल इनके सहारे चलकर मानव अपने लक्ष्य तक पहुँच सकता है? यदि गंभीरतापूर्वक सोचा जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्तिगत अधिकार मूल में केवल विरोधात्मक हैं—ये मानव स्वतंत्रता के पक्ष में सारे जुल्मों का विरोध करते है; इसलिए निषेधात्मक भी हैं। साथ ही, ये विध्वंसकारी हैं, इनमें सृजन की शक्ति नहीं है, इनमें जंजीर तोड़ने की शक्ति है, क्रान्ति कर डालने की ताकत है, लेकिन सहयोग और प्रेम के बन्धन में मानवता को बाँधने की शक्ति का अभाव है। अतएव, ये स्वयं लक्ष्य नहीं, लक्ष्य प्राप्ति के साधन अवश्य हैं।

जरा विचार तो करें, महान् और शक्तिशाली राष्ट्र, जो सभी प्रकार के बंधनों से उन्मुक्त हैं, अपनी काम करने की स्वतंत्रता का व्यवहार किस प्रकार करेंगे? वे अपनी राष्ट्रीयता को सत्य, सौंदर्य और न्याय के उदार सिद्धांतों पर आधारित करेंगे या अपने-आप को संकुचित राष्ट्रीयता के आवरण में लपेट कर दूसरों के अधिकारों में हस्तक्षेप करके उन्हें हड़पने की चेष्टा करेंगे? क्या उनकी अधिकार-लिप्सा-ग्रस्त बुद्धि में यह आ सकेगा कि राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता, दोनों एक ही सिद्धांत के दो पहलू होने चाहिएँ? आखिर वे किस मार्ग पर चलेंगे—जिन्हें पराया मानते हैं, उन पर आक्रमण करने के मार्ग पर या सब के द्वारा सब का कल्याण और सब के कल्याण के लिए सब की उन्नति के मार्ग पर? यह एक ऐसी समस्या है, जिसे लोकतंत्रवाद को सुलझाना पड़ता है; क्योंकि लोकतंत्र का अर्थ केवल

सब की स्वतंत्रता ही नहीं है, बल्कि सब लोगों द्वारा संगठित एक सरकार है, जो सब के लिए काम करती है।

मान लीजिए, किसी विशेष व्यक्ति के अधिकार दूसरों के अधिकारों से भिन्न हैं और आपस में टकराते हैं; तो इसका निर्णय कैसे हो? दोनों के अधिकारों में किस प्रकार सामंजस्य स्थापित किया जाय? और भी, मान लीजिए, कोई व्यक्ति समाज के बंधनों से विद्रोह करता है। वह अपने को शक्तिशाली पाता है। उसकी प्रतिभा और क्षमता उसे दूसरा ही मार्ग ग्रहण करने को विवश करती हैं। उसे दूसरे मार्ग पर चलने का अधिकार भी है। अब बताइए, मात्र अधिकारों के सिद्धांत पर चलकर उसका किस प्रकार विरोध किया जा सकता है? क्या उसके ऊपर आप अपने कानून-कायदे सिर्फ इसलिए लागू करेंगे कि आप बहुमत में हैं, जबकि वे कानून-कायदे उसके व्यक्तिगत अधिकारों और आकांक्षाओं से जरा भी मेल नहीं खाते? अधिकार तो सभी के लिए समान हैं। तब आप किस आधार पर यह प्रमाणित करेंगे कि उस व्यक्ति को अपनी इच्छा और दूसरों की इच्छाओं में साम्य रखना चाहिए?

मान लीजिए, कोई ऐसी परिस्थिति है, जिसमें देश के जीवन-मरण का प्रश्न है और देश के सभी पुत्रों को बलिदान करना है। तो क्या अधिकारों के नाम पर आप लोगों से शहीद हो जाने को कहेंगे? क्या प्रथम अधिकार जीवित रहने का अधिकार नहीं है? पहले तो उसे यही बताया गया है कि समाज का निर्माण व्यक्तियों के अधिकारों को सुरक्षित रखने के लिए हुआ है और अब उससे किस आधार पर कहा जायगा कि वह देश की रक्षा के लिए मर-मिटे, अपना सर्वस्व होम दे?

हाँ, ऐसे ही स्थानों पर कर्त्तव्य सामने आता है, जो अधिकार से भी अधिक ऊँची वस्तु है और जिसके बल पर हम भिन्न-भिन्न

व्यक्तियों के अधिकारों में सामंजस्य स्थापित करने में समर्थ होते हैं; व्यक्तियों से, अवसर पड़ने पर, स्वेच्छापूर्वक उनके अधिकारों का त्याग करा सकते हैं। और, यदि विचार कर देखा जाय तो हमारे सारे अधिकार हमारे कर्त्तव्यों पर सर्वतोभावेन प्रतिष्ठित हैं? समाज या राज्य द्वारा प्राप्त हम अपने अधिकारों को तभी सार्थक कर सकते हैं, जब कि हमें अपने कर्त्तव्य का भी ज्ञान हो।

लेकिन, हमारे कर्त्तव्य हैं क्या? अपने आचरण के नैतिक उत्तरदायित्व को ही हम कर्त्तव्य कहते हैं। कर्त्तव्य न तो नीति-विरुद्ध होते हैं, न असंयत। दृष्टांत के लिए, किसी माता का कर्त्तव्य है अपने शिशु का पालन करना, उसकी रक्षा करना। शिशु रोग-ग्रस्त हो जाता है। कोई ओझा कह देता है, यह डायन की करतूत है। अगर बच्चे की बलैया लेकर चौराहे पर रख दी जाय, तो जो बच्चा उसका लंघन करेगा, उसे ही इस बच्चे का रोग धर दबावेगा और यह बचा बच जायगा। माता स्वार्थांध हो, दूसरे के बच्चे पर रोग चढ़ाकर, अपने बच्चे की रक्षा करने को प्रस्तुत हो जाती है। चाहे इसमें कोई तथ्य हो या नहीं, लेकिन यहाँ माता अपने कर्त्तव्य से च्युत हो जाती है। कर्त्तव्य का तकाजा तो यही है कि कोई व्यक्ति उसी हद तक अपने किसी प्रदत्त अधिकार का उपभोग कर सकता है, जिस हद तक उसके उपभोग-व्यापार के चलते किसी दूसरे के अधिकार का हनन नहीं हो। संक्षेप में, हमारे ऐसे आचरण ही हमारे कर्त्तव्य हैं, जिनके चलते दूसरों के न्यायसंगत अधिकारों का अपहरण नहीं हो।

और, यह तो मानी हुई बात है कि कर्त्तव्य ही एक ऐसी वस्तु है, जिसके आधार पर मानव-समाज प्रतिष्ठित होकर स्थायित्व को प्राप्त कर सका है। और, इसी कर्त्तव्य-बल पर कोई व्यक्ति, सच्चे अर्थ में, समाज या राज्य से अपने किसी अधिकार की अपेक्षा कर सकता है। तभी तो, अपने किसी भी अधिकार के सदुपयोग के सिलसिले में,

हमें एक नहीं, बीसियों तरह के कर्त्तव्य का संपादन करना पड़ता है। दृष्टांत के लिए, हमें जीने का अधिकार है। इसके लिए हमें स्वास्थ्य के नियमों का पालन कर अपने जीवन को संयमी बनाना होता है; हमें सदा सतर्क रहना पड़ता है कि हमारा एक भी कर्त्तव्य ऐसा नहीं हो, जिसके चलते हमारे प्राण संकट में पड़ जायँ। अगर हम किसी दूसरे व्यक्ति की जान ले लें तो राज्य, हमारी जीवन-रक्षा करनी तो दूर रहे, उल्टे हमें फाँसी पर लटका देगा। साथ ही, हमें अपनी जीवन-रक्षा के लिए दूसरों की जीवन-रक्षा का भी ख्याल करना ही पड़ेगा। अगर हम अपने संकट-ग्रस्त पड़ोसी की जान बचाने की कोशिश नहीं करेंगे तो जब कभी अपने ही प्राण संकट से घिर जायँगे, तो कौन हमारी रक्षा करने को आगे बढ़ेगा? इसी प्रकार, राज्य या समाज में जो भी अधिकार प्राप्त कर हम उसका उपभोग करना चाहते हैं, उसके लिए हमें राज्य या समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करना ही होता है, अपने नैतिक दायित्वों का निर्वाह करना ही पड़ता है।

जो हो, हमने देख लिया कि कर्त्तव्य और अधिकार साथ-साथ ही चलते हैं। नहीं, कर्त्तव्य आगे रहता है, अधिकार उसका अनुगमन करता है। अगर हम कर्त्तव्यशील नहीं हैं तो हमें अधिकारों का उपभोग करने का भी अवसर नहीं मिलना चाहिए। यों तो वैयक्तिक अधिकारों की तरह कर्त्तव्यों की भी गणना नहीं हो सकती। समय और परिस्थिति के अनुकूल कर्त्तव्यों की भी सृष्टि होती ही रहती है। फिर भी, हम अपने कर्त्तव्य-क्षेत्र को, मोटे तौर से, छः भागों में विभक्त कर सकते हैं—(१) अपने प्रति हमारा कर्त्तव्य; (२) अपने परिवार के लोगों के प्रति हमारा कर्त्तव्य; (३) अपने समाज के प्रति हमारा कर्त्तव्य; (४) अपने राज्य या देश के प्रति हमारा कर्त्तव्य; (५) मानव मात्र के प्रति हमारा कर्त्तव्य; (६) अन्य जीव-जन्तुओं के प्रति हमारा कर्त्तव्य।

अणु-शक्ति का सृजनात्मक स्वरूप

आज विश्व अणु बम और उदजन-बम के भयंकर परिणाम की मात्र कल्पना से सिहर उठता है। उसका विश्वास है कि इन बमों के भयंकर विस्फोट से एक-न-एक दिन विश्व में प्रलय मच जायगा, विश्व का संहार हो जायगा। लेकिन साथ ही, जहाँ एक ओर इन अणु-शक्तियों में ध्वंसात्मक शक्तियाँ निहित हैं, दूसरी ओर इनमें सृजनात्मक शक्तियाँ भी कम नहीं हैं। और, उन सृजनात्मक शक्तियों को यदि सृजन-कार्य में लगाया जाय तो विश्व का कायाकल्प ही हो जाय। अवश्य ही यह परितोष का विषय है कि वैज्ञानिकों ने इन अणु-शक्तियों को विश्व-कायाकल्प की ओर मोड़कर मानव-इतिहास में नवीन अध्याय खोलने का प्रयत्न किया है।

तो सबसे पहले हमारे लिए अणु-शक्ति का अर्थ और स्वरूप समझ लेना अपेक्षित है। प्रत्येक तत्त्व सूक्ष्म अणुओं के सम्मिश्रण से बना है, जिन्हें हम नग्न आँखों से नहीं देख सकते। और, उन अणुओं में से प्रत्येक अणु में एक बिंदु होता है, जिसे 'केन्द्र-बिन्दु' कहते हैं। यह 'केन्द्र-बिन्दु' भी अत्यंत सूक्ष्म कणों से मिलकर बना है, जिन्हें 'प्रोटोन' और 'न्यूट्रोन' कहते हैं। ये कण एक शक्ति के द्वारा बँधे रहते हैं। इसी शक्ति को अणु-शक्ति कहते हैं। इस रहस्यमयी शक्ति को जब अनियंत्रित किया जाता है तो यह किरणों में परिवर्तित हो जाती है। सूक्ष्म यंत्र इन्हें श्रवणीय ध्वनियाँ, चमकीले प्रकाश या दूसरे रूपों में बदल देते हैं। इनका प्रभाव फोटोग्राफ के फिल्मों पर भी पड़ता है। विशाल क्रिया-घरों में यूरेनियम के करोड़ों अणुओं को तोड़ा जाता है। अत्यधिक ताप के साथ तूफान की तरह शक्तिशाली और अदृश्य न्यूट्रोन प्रकट होने लगते हैं ।ताप का उपयोग उद्योग-शक्ति के रूप में होता है और न्यूट्रोनों का उपयोग अन्य

तत्त्वों को अणु-शक्तिमय बनाने में होता है। अणु-शक्तिमय तत्त्व किरणों को विकीर्ण लगते हैं। इन तत्त्वों को 'रेडियो स्टोप्स' कहते हैं। एक ही तत्त्व के भिन्न-भिन्न अणुओं को 'आइसोटोप्स' कहते हैं। और यह भिन्नता उनके भार के कारण होती है। अणु-भट्ठी में रखा गया आइसोटोस्प अपने केन्द्र-बिन्दुओं में अनेकों यूरेनियम के न्यूट्रोनों को ग्रहण कर लेता है, जिसके फलस्वरूप वह अस्थिर हो जाता है। अलग-अलग तत्त्वों के आइसोटोप्स को रेडियो आयरन, रेडियो कोबाल्ट, रेडियो–गोल्ड आदि नामों से पुकारते हैं। अणु-शक्तिमय तत्त्व के मार्ग का ज्ञान उसकी विकीर्ण किरणों के द्वारा लगा लेते हैं; चाहे मनुष्य के शरीर में जाय, चाहे पौधों की पंक्तियों में।

जब यूरेनियम के अणु के केन्द्र-बिंदु से निकला न्यूट्रोन दूसरे अणु के केन्द्र-बिंदु से टकराता है, तभी अणु-शक्ति पैदा होती है। इस क्रिया से दूसरे अणु के केन्द्र-बिंदु से न्यूट्रोन निकलकर तीसरे अणु के केन्द्र-बिन्दु से टकराते हैं और इसी प्रकार यह क्रिया बढ़ती जाती है इस क्रिया के द्वारा लाखों-करोड़ों केन्द्र बिंदु टूटते हैं और असंख्य न्यूट्रोन निकल आते हैं। इसके परिणाम-स्वरूप अत्यधिक ताप पैदा होता है और अपार शक्ति का सृजन होता है। अणु भट्ठी में अधिक यूरेनियम की उपस्थिति में यह क्रिया अति तीव्र रहती है। इसमें अनेक अणुओं के केन्द्र-बिंदु टूटते हैं और निकले हुए न्यूट्रोन अन्य अनेक अणुओं को तोड़ते हैं। कभी-कभी यह क्रिया इतनी तीव्र होती है कि विस्फोट हो जाता है। यही क्रिया अणु-बम में भी होती है, जिसका परिणाम उसका भयंकर विस्फोट है।

गति पर नियंत्रण रखने के लिए निश्चित मात्रा में अणु-भट्ठी में स्टील या ग्रेफाइट मिला देते हैं। यह पदार्थ निकले हुए अनेक न्यूट्रोन को अपने में मिला लेते हैं और क्रिया मंद पड़ जाती है। इस क्रिया के द्वारा जितनी अणु-शक्ति महीनों में प्राप्त करते हैं, उतनी ही

अणु-शक्ति अणु-बम में एक सेकेण्ड में पैदा हो जाती है, जिसका फल भयानक विस्फोट होता है।

अणु-शक्ति का संग्रह-गृह बड़ा ही विचित्र होता है। इस संग्रह को एक दर्पण के द्वारा देखते हैं। एक अधिक ऊँची छतवाला कमरा छः फुट ऊँचो और दो फुट चौड़ी कंक्रीट की दीवार से दो भागों में बँटा रहता है। दीवार पर झुकी स्थिति में रखे दर्पण के द्वार दूसरी ओर के सीमेंट के संदूक के भीतर बनी दराजों को देख सकते हैं। दराजों को खोलने और बोतलों को उठाने-धरने का काम मशीनों के बने हाथों और ऊँगलियों द्वारा होता है। दराज खुलती है और उसके अंदर से बोतल निकलती है। एक छोटी बोतल में बड़ी बोतल से थोंड़ा-सा अणु-शक्तिमय द्रव निकाल कर डाल देते हैं। बोतल को एक सुरक्षित सीसे के ढक्कन में बंद कर देते हैं, जिससे अणु-किरणों का विकीरण न हो सके। यदि कहीं से किरणें निकलती हैं, तो उसकी सूचना तीब्र और कानों को फाड़नेवाली घंटी के जरिये हो जाती है। इस अणु शक्तिमय द्रव का भार उतना होता है, जितना कि पेंसिल के सीसे से किसी का नाम लिखने में होता है। एक प्रयोगशाला में एक वर्ष में अधिक-से-अधिक एक औंस के दसवें भाग के बराबर मात्रा तैयार की जा सकती है। अणु-शक्तिमय पदार्थों के घरों में काम करनेवालों को अत्यधिक सावधानी की आवश्यकता होती है; क्योंकि उनकी अतिसूक्ष्म मात्रा भी मनुष्य के जीवन को समाप्त कर सकती हैं। हर व्यक्ति के काम करने के पश्चात् सूक्ष्म यंत्रों द्वारा किरणों की अनुपस्थिति का ज्ञान कर लिया जाता है।

अब अणु-शक्ति के उपयोग पर विचार किया जाय। उद्योगों में इसका उपयोग तभी होगा, जब इसका मूल्य पर्याप्त मात्रा में घट जायगा। यूरेनियम के टूटने से जो ताप पैदा होता है, उसका उपयोग कोयले या तेल की तरह पानी को भाप बनाने में किया जायगा।

एक पौंड यूरेनियम के अणुओं के टूटने से २६ लाख पौंड कोयले के बराबर शक्ति पैदा होती है। प्रारंभ में अणुशक्ति कोयले और तेल के साथ-साथ काम करेगी और सबसे पहिले इसका उपयोग वहाँ किया जायगा, जहाँ जलावन की अधिक आवश्यकता होगी और उसके आने-जाने के साधन कम होंगे।

वैज्ञानिकों का कहना है कि सारे विश्व के यूरेनियम से उतनी ही शक्ति पैदा होती है, जितनी कि विश्व के संपूर्ण कोयले और तेल के पंद्रह गुने अधिक भाग के द्वारा होगी। सबसे विचित्र बात तो यह है कि अणु-भट्ठी में ईंधन के व्यय की अपेक्षा अधिक ईंधन प्राप्त होता है और अणु-शक्ति की प्राप्ति जो होती है वह अलग से।

अणु-शक्ति का प्रथम उपयोग पनडुब्बियों के संचालन में होगा। ये पनडुब्बियाँ कई महीनों तक पानी के भीतर रह सकेंगी, क्योंकि वहाँ शक्ति-उत्पादन के लिए ऑक्सीजन की जरूरत नहीं पड़ेगी। इसमें केवल मनुष्यों की सहनशक्ति, भोजन-सामग्री, हथियार और साँस के लिए ऑक्सीजन की जरूरत होती है। इंजिन कंक्रीट या सीसे से ढँका रहेगा। इंजिन की धातु यूरेनियम के टूटे न्यूट्रोनों को सोख लेती है, इसलिए नई धातु जिरकोनियम की खोज की गई, जो न्यूट्रोनों को कम सोखती है।

वायुयानों में भी इसका उपयोग होगा। इसमें अणु-शक्ति से हवा को गरम करेंगे या पानी की भाप बनायँगे, जिसके द्वारा पंखे चलेंगे। इंजिन को कंक्रीट या सीसे से ढँकना पड़ेगा। इस प्रकार वायुयान का भार अधिक हो जायगा, जो एक समस्या का रूप ले सकता है। जमीन पर उतरने पर आस-पास खड़े लोगों को भी अणु-किरणों से सावधान रहना पड़ेगा। युद्ध-वायुयानों में भी अणु-शक्ति का उपयोग होगा, जहाँ ईंधन का वजन एक समस्या है। एक पौंड

यूरेनियम के द्वारा १७ लाख पौंड गैसोलीन के बराबर शक्ति होगी, जिसके द्वारा वह अनिश्चित काल तक चलता रहेगा।

अणु-शक्तिमय पानी के द्वारा चावल, गेहूँ या मक्का के भोजन के पकाने की शक्ति का ज्ञान कर सकते हैं। ऐडिएशन द्वारा धातु की भट्ठी में पिघली धातु की ऊँचाई नाप सकते हैं।

अणु-किरणों के द्वारा साबुन की उपयोगिता भी ज्ञात करते हैं। कीटाणुओं को अणु-किरणयुक्त पदार्थ खिला देते हैं और कपड़ों पर छोड़ देते हैं। साबुन लगाकर देखते हैं कि कौन कितने कीड़ों को नष्ट करता या हटा देता है। क्योंकि उनकी उपस्थिति किरणों के द्वारा मालूम हो जाती है। कीड़ों को मारने के लिए पत्तियों पर छिड़के गये गंधक में अणु-शक्तिमय गंधक मिलाकर ज्ञात करते हैं कि वह कितने समय तक गंधक की कितनी मात्रा अपने में रखे रहती है।

कीड़ों को अणु-किरणयुक्त पदार्थ खिलाकर उनकी मात्रा तथा दिशा का ज्ञान भी करते हैं; क्योंकि लाखों कीड़ों में अणु-किरणयुक्त कीड़ा अलग दीख पड़ता है। अणु-शक्ति से कीड़ों का नाश भी किया जाता है। वैज्ञानिकों ने नर-मक्खियों को रेडियो-कोबाल्ट खिला कर नपुंसक कर दिया और मादा-मक्खियों के अंडे निरर्थक हो गए। कई पीढ़ियों में बहुत-सी संख्या नपुंसक हो जाती है।

फलों की मक्खियों को रेडियो-आयरन खिलाकर यह मालूम करते हैं कि वे पौधों का कौन-सा हिस्सा नष्ट कर देती हैं। जमीन के अंदर या लकड़ी के भीतर के कीड़ों की उपस्थिति उन्हें अणु-किरण-युक्त पदार्थ खिलाकर मालूम की जाती है।

औषधि के क्षेत्र में तो अणु-शक्ति का उपयोग और भी महत्त्वपूर्ण है। डाक्टरों के मतानुसार रेडियो-स्टोप्स के द्वारा मनुष्य के शरीर की सब क्रियाओं का ज्ञान कर लिया जाता है तथा बीमारी के कारण जो अनियमितता आती है, वह भी मालूम हो जाती है। इसी प्रकार

विटामिन, नमक, शक्कर और ग्रंथियों के रस के मार्ग तथा उनमें हुए परिवर्त्तन को मालूम कर लेते हैं। रेडियो-सोडियम की सूई लगाकर मालूम किया गया है कि शरीर से ७५ सैकेण्ड में सब नमक बाहर निकल जाता है।

रेडियो-स्टोप्स के द्वारा केन्सर का इलाज करते हैं। लेकिन इससे दूसरे तंतुओं को हानि पहुँचने का डर रहता है, जिसके कारण कोई दूसरा अंग बेकार हो सकता है। रेडियो-केलशियम के द्वारा हड्डी की बाढ़ और विकास के विषय में भी जानकारी प्राप्त की जाती है। यदि गर्भस्थित बच्चे को केलशियम कम मिलता है, तो वह उसे अपनी माँ की हड्डियों से लेने लगता है। इसलिए गर्भवती स्त्री को अधिक केलशियम देना चाहिए। संक्षेप में, अणु-शक्ति का चिकित्सा, क्षेत्र में बहुविध उपयोग होता है।

रेडियो-स्टोप्स के जरिये मालूम किया गया है कि मुर्गी के अंदर अंडा कैसे बनता और बढ़ता है। ऐसा पता चला है कि नये अंडे में चालीस दिन पहले लिये गये भोजन का अंश रहता है, लेकिन उसकी ऊपरी परत पिछले दिन के भोजन से बनती है। अंडा करीब सात या आठ दिन में बनता है।

खाद में अणु-किरणयुक्त पदार्थ मिलाकर यह पता लगा लेते हैं कि फसलें उसमें से किन-किन पदार्थों का उपयोग करती हैं। यानी, किस पौधे को किस खाद की जरूरत पड़ती है और किसकी नहीं—इसका पता अणु-किरणयुक्त पदार्थ के मिलने से ही लगता है। जैसे तम्बाकू के पौधे में सुपर-फासफोट नामक खाद का उपयोग नहीं होता। वैज्ञानिकों ने ऐसी फसलें भी ढूँढ़ निकाली हैं, जिनपर कीटाणुओं का प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसी फसलें एकाएक परिवर्त्तन से पैदा होती हैं और यह परिवर्त्तन अणु-किरणमय पदार्थों से ही किया जाता है।

फोटो सिन्थेसिस का ज्ञान रेडियो कार्बन द्वारा किया जा रहा है। इसके द्वारा पेड़-पौधे कार्बन-डाइ-आक्साइड से कार्बन लेकर, पानी और सूर्य की रोशनी की मदद से, अपना भोजन तैयार करते हैं। यदि क्रिया का रहस्य खुल जाय, तो वैज्ञानिक असीमित मात्रा में भी भोजन तैयार कर सकेंगे।

अणु-भट्ठी में न्यूट्रोनों के टकराने से एक तत्त्व दूसरे तत्त्व में बदल जाता है। इस विधि से पुराने लोगों की यह धारणा या स्वप्न सत्य हो जायगा कि प्रत्येक धातु को सोने में बदल सकते हैं। मशीनों में घर्षण-शक्ति को कम करनेवाले तेल में अणु-किरण-पदार्थ को मिलाकर उसकी उपयोगिता का पता चल जाता है। कोबाल्ट को अणु-भट्ठी में अणु-किरणमय बना लेते हैं और फिर इस रेडियो-कोबाल्ट से एक्स-रे निकलने लगती हैं। इस प्रयोग से, एक्स-रे बहुत सस्ती हो जायँगी।

पुरातत्व-विभाग के लिए भी अणु शक्ति की उपयोगिता उल्लेखनीय है। रेडियो-कार्बन की विकीरण किरणों की क्रिया-शीलता से प्राचीन वस्तुओं की प्राचीनता की अवधि ज्ञात होती है। यों तो रेडियो-कार्बन प्रत्येक पेड़-पौधों में पाया ही जाता है। लेकिन पेड़-पौधों के माध्यम से जानवरों में भी यह पहुँच जाता है। ये किरणें धीरे-धीरे नष्ट होती रहती हैं और जैसा कि वैज्ञानिकों का मत है, लगभग ५५७० वर्ष में आधी हो जाती है। इन किरणों की विकीरण-शक्ति की मात्रा गीगर काउण्टर द्वारा जानी जाती है। कार्बन के शुद्ध रूप—वस्तु को कार्बन-डाइ-आक्साइड में से आक्सीजन मैगनीशियम द्वारा निकाल लिया जाता है। गीगर काउण्टर जीवित पदार्थों के शुद्ध कार्बन के स्पर्श से सोलह बार टिक् की ध्वनि करता है। किरणों की विकीरण-मात्रा आधी होने पर केवल आठ बार टिक् करती है। इस प्रकार समय का निर्धारण किया जाता है। इस विधि

को 'रेडियो-कार्बन-डेटिंग-विधि' कहते हैं। इस विधि के आधार पर अनेक पुरातत्व-खोजें की गयी हैं, जिनकी सत्यता पर प्रश्नवाचक चिह्न की कोई गुँजाइश नहीं।

संक्षेप में, अणु-शक्ति का अविष्कार हमारे मानव-मस्तिष्क के चरमोत्कर्ष का सूचक है। एक ओर इसकी विकराल काल की-सी भयंकरता के स्मरण मात्र से विश्व कोमल पत्ते की नाईं हिलने लगता है, तो दूसरी ओर इसमें अभय वरदान देने तथा विश्व को स्वर्ग का भी स्वर्ग बनाने की क्षमता है। यह विकराल-काल-जैसा विध्वंसक और प्रलयंकर है तो इसके साथ ही इसमें पुनर्निर्माण करने की भी अपार शक्ति है। इस तरह यह अभिशाप भी है, वरदान भी! हलाहल भी है, अमृत भी! अब यह तो हमारे विवेक पर निर्भर करता है कि इसे हम किस रूप में अंगीकार करें। निश्चय ही अणु-शक्ति को उसकी सृजनात्मक शक्ति की ओर मोड़ने में, उसे वरदान और अमृत के रूप में अंगीकार करने में ही हमारा यानी विश्व का कल्याण निहित है। और 'तभी' हम उसके सत्यं, शिवं सुन्दरम् रूप का दर्शन भी हम कर सकेंगे।

---o---

श्रम की मर्यादा

भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भागवत गीता में कहा है कि प्रारंभ में यज्ञ के साथ-साथ प्रजा की सृष्टि कर प्रजापति ब्रह्मा ने आदेश किया, "इस यज्ञ के द्वारा तुम्हारी समृद्धि बढ़े, यह यज्ञ तुम्हारी कामधेनु हो....। जो इस यज्ञ को संपन्न किये बिना खाता है, वह चोरी का अन्न खाता है"। यहाँ कर्मशील व्यक्तियों के श्रम द्वारा उत्पादन वस्तुओं के समुचित वितरण के अनुपात को ही 'यज्ञ' कहा गया है।

यह ब्रह्म-वाक्य हमें बतलाता है कि समाज में श्रम की मर्यादा को स्थायी रूप से प्रतिष्ठित करने के अभिप्राय से ही विधाता ने मनुष्य से भी पहले उनके श्रम की एवं श्रम-द्वारा प्राप्त फलों के समुचित वितरण-विधान के रूप में यज्ञ की सृष्टि की। पश्चात् मनुष्य की सृष्टि कर उसे सर्वप्रथम यही आदेश दिया कि काम करो, काम करने से ही समाज समृद्धिशाली बना रहेगा। जो बिना श्रम या काम के खाता है, वह चोरी का अन्न खाता है, वह समाज का अपराधी है। बाइबिल का भी आदेश है—"मनुष्य, तू अपने पसीने की कमाई खा।"

गीता और बाइबिल की उपयुर्क्त उक्तियों की व्याख्या करते हुए, श्रम को सत्य के रूप में अनुभव करनेवाले महात्मा गाँधी ने कहा है कि "यदि सभी मनुष्य अपने ही परिश्रम की कमाई खायँ तो दुनिया यज्ञमय हो जाय और सबको अवकाश का पूरा-पूरा समय भी मिले। न तब किसी को जनसंख्या की वृद्धि की शिकायत रहे, न कोई बीमारी आवे और न तब किसी को कोई कष्ट या क्लेश ही सतावे। श्रम-यज्ञ ही सर्वोत्तम यज्ञ होगा। इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य अपने शरीर या बुद्धि के द्वारा और भी अनेक काम करेंगे, पर उनका यह सब श्रम लोक-कल्याण के प्रीत्यर्थ प्रेम-मूलक श्रम होगा। इस अवस्था में न कोई राव होगा, न रंक; न कोई ऊँचा होगा, न नीच; न कोई स्पृश्य होगा, न अस्पृश्य।" गाँधी जी के कथन का स्पष्ट अभिप्राय यह है कि श्रम की मर्यादा का उल्लंघन करने से ही विषमताएँ रूढ़ होकर फैली हुई हैं।

प्रारंभ से ही मनुष्य भोजन, वस्त्र और निवास की अपनी मौलिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए अथक परिश्रम करता आ रहा है। वह पत्थरें काटता है; निहाई पर हथौड़े मारता है; भूमि जोतता है; नदियों एवं नहरों को खोदता है; कारखानों में खटता है, और अपने शरीर तथा प्राण को एक साथ रखने के लिए ऐंड़ी-चोटी का

पसीना एक करता रहता है। शारीरिक-श्रम विकट और कठिन हो सकता है लेकिन मनुष्य के जीवन के लिए वह अनिवार्य है, सार्वजनीन है, अपरिहार्य है। इसलिए, जब मानव-जीवन सरल था और समाज अधिक जटिल और पेंचीदा नहीं हो पाया था, तब किसी भी प्रकार का शारीरिक श्रम करने में किसी को कोई हिचक नहीं थी। साथ ही, श्रम के आधार पर ऊँच-नीच का भाव भी समाज में प्रतिष्ठित नहीं था। राजर्षि कहलानेवाले राजा जनक भी अपनी प्रजा के साथ मिल कर हल चलानेमें अपना गौरव ही समझते थे। राजा भगीरथ ने तो अपनी प्रजा के साथ मिलकर गंगा को हिमालय से नीचे उतार दिया और उसे सागर तक पहुँचा कर अमर-यश के भागी हुए। भगवान् श्रीकृष्ण गौओं की चरवाही कर गोपाल कहलाये। वेदों के तत्त्व की छानबीन करनेवाले ऋषि-मुनि स्वयं तो गौएँ चराते ही थे, अपने आश्रम में पढ़नेवाले राजकुमारों तक से वे खेती करवाते थे, गौएँ चरवाते थे, लकड़ियाँ तोड़वाते थे। शिष्य भी इन सब कामों को गौरव के साथ संपन्न किया करते थे। यूरोप में रोमन अधिनायक सिनसिनाटस ने खेत जोतने में कभी अपमान का अनुभव नहीं किया। रूस के प्रतापी जार ने सारडाम के डौक में जहाज-मिस्त्री का काम किया। कहने का अभिप्राय यह है कि एक जमाने में ऊँचे से ऊँचे व्यक्तियों ने भी आज के जमाने में निकृष्ट से निकृष्ट समझे जानेवाले कार्यों को संपादित करने में अपना अपमान नहीं, बल्कि अपना गौरव ही समझा।

लेकिन क्रम-क्रम से श्रम की शाश्वत मर्यादा पर परदा पड़ता गया। समाज में श्रम-विभाजन की व्यवस्था हुई। श्रम-विभाजन ने शारीरिक-श्रम से देह चुराने की मनोवृत्ति को जाग्रत किया, जिसके चलते मानव द्वारा मानव के शोषण की प्रवृत्ति को प्रश्रय मिला। और, इसी शोषण की प्रवृत्ति ने प्रबल रूप धारण कर श्रम की मर्यादा

पर भीषण प्रहार करना प्रारंभ कर दिया। फलतः जो शारीरिक श्रम अर्थनीति का शाश्वत अर्घ्य है, उसे शोषकों की प्रवृत्ति ने पण्य का रूप देकर बाजारों में बिकने को बाध्य कर दिया। इधर शोषकों में कुलीनता का भाव आया; समाज में स्पष्ट रूप से शोषकों तथा शोषितों के अलग-अलग वर्ग की सृष्टि हुई और श्रम की मर्यादा पर आँच आने लगी। साथ ही, आधुनिक जीवन की पेंचीदगियों का क्रम-क्रम से प्रसार होने लगा, बड़े पायमाने पर उद्योग संगठित होने लगे; मशीनों का आविष्कार होने लगा और हाथ से काम करनेवाले श्रमिक मशीनों से भी निकृष्ट और हेय समझे जाने लगे।

हाँ, ऐसा अनुभव किया जा रहा है कि यदि श्रम-विभाजन में निरंकुश मनोवृत्ति का सहारा नहीं लिया जाता, तो संभवतः श्रम के प्रति उतनी घृणा की भावना का प्रसार नहीं होता, जितनी आजकल देखी जा रही है। 'सभी मानव समान हैं'—यदि इस सद्वृत्ति के आधार पर श्रम विभाजन हुआ रहता तो न तो समाज में विषमताओं की सृष्टि होती, न कुलीनता की ही दाल गलती और न वर्ग-भेद-भावना का ही विकास हो पाता। जिस युग में एक ही आदमी को अनेक प्रकार के श्रम करने पड़ते थे, उस युग में यह प्रश्न ही नहीं उठ सकता था कि अमुक काम मर्यादित है, अमुक काम अमर्यादित। मान लें, एक ऐसा व्यक्ति हो, जो पुस्तकें भी लिखता हो, अपने हाथों से अपनी कोठरी में झाड़ू भी लगाता हो, अपनी गाय को आप ही खिलाता-पिलाता हो। ऐसा व्यक्ति कभी यह सोच ही नहीं सकता की अमुक काम उत्कृष्ट है और अमुक निकृष्ट। तभी तो महात्मा गाँधी अपना पखाना आप साफ करते थे, फिर भी, उन्हें किसी ने भंगी कहकर अपमानित करने की हिम्मत नहीं की। इसके विपरीत, इस कार्य से वे मर्यादित ही हुए, अपना इतिहास ही बना गये!

यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि आरंभ में, यानी जबतक समाज में वैषम्य की भावना नहीं फैली थी, स्वतः कोई काम या शारीरिक श्रम अपमानजनक नहीं समझा जाता था। शोषण ने मानवों को शोषक तथा शोषित—इन दो वर्गों में विभक्त कर दिया। शोषक शोषितों के श्रम को चूस-चूसकर गुलछर्रे उड़ाने लगे। एक मालिक कहलाये, दूसरे दास या सेवक। मालिक सेवकों को छोटा और हेय समझने लगे; सेवकों में विरोध की भावना दब गई; वे आत्म-सम्मान खो बैठे। फलतः, शारीरिक श्रम के प्रति उदासीनता के साथ-साथ घृणा का भाव पनप उठा।

लेकिन, जीवन की जटिलताओं से ही समाज में स्वतंत्रता, समानता तथा भ्रातृत्व-भावना का अरुणोदय भी हुआ और लोग समझने लगे कि जबतक समाज में श्रम की मर्यादा को पुनः प्रतिष्ठित नहीं किया जायगा, तबतक मानव-समानता का स्वप्न सार्थक हो नहीं सकता। और, श्रम की मर्यादा एवं महत्त्व को हम उसी दशा में समझ सकते हैं, जब कि इस रहस्य को समझ लें कि सभी प्रकार के उत्पादन-शील शारीरिक श्रम सम्मान तथा प्रसन्नता की आधार-शिला पर ही प्रतिष्ठित हैं। यदि हम किसी कार्य को प्रारंभ करने के पूर्व यह सोचने लगें कि यह काम निकृष्ट या अपमानजनक है तो हम उसे दिल लगा कर, सचाई के साथ संपन्न नहीं कर सकेंगे। इसके विपरीत, अगर किसी कार्य को हम प्रारंभ से ही मर्यादित और सत्प्रेरित हो कर करें तो उसे संपादित करने में स्वर्गीय सुख तथा आनन्द प्राप्त होगा। हमें तनिक भी संकोच का अनुभव नहीं होगा। अतएव, सत्य के सहारे यानी सचाई के साथ जो भी उत्पादक श्रम किया जायगा, वह सर्वथा सम्मानित और मर्यादित होगा; लेकिन जहाँ श्रम-संपादन में सचाई के अभाव की गंध आई, वहाँ सम्मान का स्थान संकोच ले लेगा और श्रम की मर्यादा नष्ट हो जायगी।

सच्चे अर्थ में, सचाई के साथ किये गये श्रम की मर्यादा तो हमारे देश में भागीरथी गंगा की धारा के रूप में हजारों वर्षों से प्रवाहित हो रही है। राजा भगीरथ ने सत्य का सहारा लिया, अपनी प्रजाओं के साथ मिलकर फाँवड़े चलाये, कुदाल पारे, पत्थरों को काटा, धरती खोदी—सैकड़ों कोस तक! ऐसा करते हुए न तो राजा को संकोच हुआ, न उनकी प्रजा को। और, समाज के संगठित शारीरिक श्रम की मर्यादा हमारी संस्कृति—गंगा—के रूप में फूट निकली, जिसे हम हजारों वर्षों से प्रतिष्ठा देते और पूजते चले आ रहे हैं; फिर भी अघाते नहीं हैं। गंगा वस्तुतः शारीरिक श्रम की मर्यादा का सर्वश्रेष्ठ प्रतीक है। गंगा हमें चिरकाल से यही संदेश देती आ रही है कि श्रम की मर्यादा शाश्वत है, नित्य है और है गंगा-जल के समान निष्कलंक, निर्मल और निर्विकार!

हाँ, कोई भी शारीरिक श्रम हीनता का द्योतक नहीं। यह हीन है, निकृष्ट कोटि का श्रम है; यह उत्कृष्ट है, श्रेष्ठ है–यह विकृत मस्तिष्क की कल्पना की ही उपज है। सच पूछिए तो शारीरिक श्रम-साध्य कार्यों की मर्यादा ही नित्य और शाश्वत है। और, ऐसे कार्य जिनमें शरीर-श्रम की तात्त्विक आवश्यकता नहीं पड़ती, प्रायः अनिश्चित और सचाई से दूर होते हैं तथा शरीर-श्रम की तुलना में अनीतिमूलक भी होते हैं, भले ही वे कठिन-साध्य न हों। सुदक्ष से भी सुदक्ष बैंकर या व्यापारी असफल हो सकता है, सच्चा श्रमिक नहीं! शरीर से श्रमशील व्यक्ति अपने बाहु-बल के भरोसे जीता और आगे बढ़ता है, न कि बुद्धि के खेल से। वह न तो किसी की आवश्यकता से लाभ उठाता है और न किसी की सुस्ती या कायरता से किसी को धोखे में ही डालता है। विनिमय और बाजार के चढ़ाव-उतार के रहस्य, राजनीतिज्ञों की कूटनीति, वकीलों की जिह्वाएँ अनेक मनुष्यों के नाश के कारण हो सकती हैं, न कि श्रमिकों की

रगे। एक श्रमिक तो उतना भी नहीं पाता, जितना उसे मिलनी चाहिए; फिर भी, अपने पसीने की कमाई पर वह स्वर्गीय संतोष-सुख प्राप्त करता है, जबकि बुद्धि का खेल खेलनेवाले की हाय-हाय कभी नहीं छूटती, निन्यानवे का फेर उसे लगा ही रहता है।

गाँधीजी ने भी बौद्धिक श्रम की कमाई खाने को अनुचित बताया है। उनका कथन है कि, "बौद्धिक श्रम तो आत्मा के प्रीत्यर्थ है; और स्वतः सन्तोष-रूप है। उसमें पारिश्रमिक मिलने की इच्छा नहीं करनी चाहिए। उस आदर्श अवस्था में डाक्टर, वकील आदि समाज के हित के लिए काम करेंगे, अपने लिए नहीं। शारीरिक श्रम के नियम पर चलने से समाज में एक शांतिमय क्रांति उत्पन्न होगी। जीवन-संग्राम के स्थान पर पारस्परिक सेवा की प्रतिस्पर्द्धा स्थापित करने में मनुष्य की विजय होगी। पाशविक नियम का स्थान मानवी नियम ले लेगा।"

शारीरिक श्रम पर विश्व का जीवन निर्भर है। यह शुभ लक्षण है कि लोग पुनः क्रम-क्रम से श्रम की मर्यादा को मान्यता देने के लिए बाध्य हो रहे हैं। ज्यों-ज्यों चेतना का विकास होता जायगा, त्यों-त्यों मनुष्य मनुष्य का मूल्य आँकने में सही रास्ता अपनाते जायँगे और श्रम की मर्यादा की प्रतिष्ठा होती चलेगी। अब हम उस युग में प्रवेश करने को ही हैं, जबकि श्रम की प्रथम पूजा होगी।

विज्ञान और वैज्ञानिक उपलब्धियाँ

'वि' उपसर्ग और 'ज्ञान' शब्द के मेल से विज्ञान बना है। 'विज्ञान' का अर्थ है विशेष ज्ञान। और, इस प्रकार किसी भी विषय के सुव्यवस्थित ज्ञान को हम विज्ञान कह सकते हैं।

यों तो विज्ञान के अंतर्गत सभी प्रकार के ज्ञान का समावेश हो जाता है, लेकिन साधारणतया भौतिक पदार्थों के विशेष ज्ञान को ही विज्ञान कहते हैं। इस तरह विज्ञान का क्षेत्र कुछ सीमित हो जाता है। इस सीमित ज्ञान को सूचित करने के लिए इस विज्ञान को हम 'प्राकृतिक विज्ञान' (नेचुरल साइंस) भी कहते हैं।

विज्ञान का प्रादुर्भाव अवलोकन और प्रयोगों से हुआ है। आज भी इसका ज्ञान हमें इन्हीं साधनों से होता है। और, इसकी उत्तरोत्तर उन्नति भी प्रयोगों से ही हुई है और हो रही है। हम अपनी आँख, कान, नाक आदि इंद्रियों द्वारा कुछ घटनाओं को देखते और अनुभव करते हैं। फिर उनकी सचाई की परीक्षा के लिए प्रयत्न करते हैं। जिन साधनों से उनकी परीक्षा हो सकती है, उन्हें जुटाते हैं। इन्हीं प्रयत्नों को हम प्रयोग कहते हैं। इन प्रयोगों में अपनी इंद्रियों की सहायता के लिए हम विभिन्न प्रकार के यंत्रों और उपकरणों का निर्माण कर उनका उपयोग करते हैं। इन यंत्रों और उपकरणों की सहायता से हमारी इंद्रियों की शक्ति सैकड़ों गुणा ही नहीं, हजारों गुणा बढ़ जाती है। जिन करोड़ों मील पर स्थित छोटे-छोटे पदार्थों को हम स्वप्न में भी नहीं देख सकते थे, उन्हें इन यंत्रों की सहायता से आसानी से देख लेते हैं।

विज्ञान का संबंध द्रव्यों से है। हमारे प्राचीन दार्शनिक ग्रन्थों की मान्यता है कि प्रकृति और पुरुष से सृष्टि का निर्माण हुआ है। वस्तुतः दार्शनिकों की प्रकृति वे ही पदार्थ हैं, जिन्हें वैज्ञानिक द्रव्य (मैटर) कहते हैं। वैज्ञानिकों के अनुसार द्रव्य वे पदार्थ हैं, जिनमें भार हो और जो स्थान घेरें। और, इस परिभाषा से द्रव्यों में संसार की सभी स्थूल वस्तुएँ—ठोस, तरल और वायव्य—आ जाती हैं।

आज विज्ञान का क्षेत्र बहुत ही व्यापक हो गया है। आज इसकी अनेक शाखाएँ-प्रशाखाएँ हो गई हैं। जिस विज्ञान में आज

हम द्रव्य और शक्ति का विधिवत् अध्ययन करते हैं, उसे 'भौतिक विज्ञान' या मात्र 'भौतिकी' (फिजिक्स) कहते है। इसी भौतिकी में हम प्रकाश, ताप, चुम्बकत्व, विद्युत् और ध्वनि का अध्ययन करते है। जिस विज्ञान में हम विश्व के विभिन्न पदार्थों के गुण, उनके संगठन, परस्पर व्यवहार और उन पर प्रकाश, ताप, विद्युत् आदि के प्रभाव का अध्ययन करते हैं, उसे 'रसायन' (केमिस्ट्री) कहते हैं। जिस विज्ञान में हम जीव-जंतुओं, कीड़ों-मकोड़ों, पशु-पक्षियों का अध्ययन करते हैं उसे 'प्राणिविज्ञान' या 'प्राणिकी' (जूलाजी) कहते हैं। इस विज्ञान के अध्ययन से हमें जीव-जंतुओं की प्रकृति, उनके व्यवहार, उनकी चाल-ढाल का बहुत-कुछ ज्ञान प्राप्त हो जाता है। जिस विज्ञान में हम पेड़-पौधों का अध्ययन करते हैं, उसे 'उद्‌भिद् विज्ञान' (बोटैनी) कहते हैं। जिस विज्ञान में उद्‌भिदों और जीव-जंतुओं का साथ-साथ अध्ययन होता है, उसे 'जीव-विज्ञान' कहते ।पृथ्वी, पर्वत, नदियाँ, मिट्टी आदि कब और कैसे बने, उनसे क्या कार्य होते हैं? क्या ये अब भी बन रहे हैं, क्या पर्वत अब भी बढ़ या घट रहे हैं? हिमालय का कब जन्म हुआ? चट्टानें किन-किन पदार्थों से बनी हैं? इन सभी विषयों का अध्ययन 'भूगर्भ-विज्ञान' (ज्योलाजी) में किया जाता है। इस तरह विज्ञान की अनेक शाखाएँ-प्रशाखाएँ हैं।

आज जिस युग में हम रहते हैं, उसे 'वैज्ञानिक युग' कहते है। क्योंकि आज विश्व के जर्रे-जर्रे में, अणु-अणु में विज्ञान का चमत्कार व्याप्त है। आज प्रकृति के विराट् साम्राज्य के चप्पे-चप्पे से विज्ञान की ही दुहाई, उसी की मंगल-कामना तथा उसी के गुणगान का जयघोष निनादित हो रहा है। कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी अपार शक्ति तथा विशालता के सम्मुख प्रकृति को भी नत-मस्तक होना पड़ेगा।

यों तो अन्य शास्त्रों की तरह विज्ञान का इतिहास भी पुराना है, फिर भी इसके चरमोत्कर्ष का जो रूप आज हम देखते हैं, उसका प्रारंभ उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही हुआ है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, विज्ञान की अनेक शाखाएँ-प्रशाखाएँ हैं। प्रत्येक शाखा में विभिन्न प्रकार के आविष्कार हुए हैं तथा दिनों-दिन उनकी प्रगति द्रुत गति से होती जा रही है। इन आविष्कारों में कुछ ऐसे हैं, जिनका मानव-समाज के हित से सीधा संबंध है और कुछ ऐसे हैं, जिनकी क्रियात्मक उपयोगिता तो कम है, लेकिन जिन्होंने मानव के ज्ञान के क्षेत्र में हलचल मचा दी है और जिनका मनुष्य की क्रियाओं पर भी न्यूनाधिक प्रभाव पड़ा है।

तो प्रथम श्रेणी के आविष्कारों में वाष्प-संबंधी मशीनें, बेतार का तार, वायुयान, विद्युत् प्रकाश, दूरवीक्षण यंत्र, ऐक्स-रे, रेडियम आदि हैं। इन आविष्कारों के सहारे मनुष्य ने देश और काल पर भी विजय पा ली है। वर्षों और महीनों की यात्रा अब चंद दिनों और घंटों में तय हो जाती है; बात की बात में संसार के इस छोर से उस छोर तक हम पहुँच जाते है। ऐक्स-रे और रेडियम की किरणें स्थूल पदार्थों में भी प्रवेश कर जाती हैं और बक्स के भीतर की वस्तुएँ हस्तामलकवत् प्रतीत होने लगती हैं। ऐक्स-रे और रेडियम द्वारा चिकित्सा-शास्त्र में अपेक्षित परिवर्तन हुआ है। मनुष्य को अपने शरीर के भीतर की बात जानने के लिए अनुमान का सहारा नहीं लेना पड़ता, अब तो वह 'प्रत्यक्षे किं प्रमाणं' की बात हो गई है। शल्य-चिकित्सा (सर्जरी) अब अंधे की टटोल नहीं रही, वरन् बावन तोले पाव रत्ती की-सी निश्चित बात हो गई है। रेडियम नासूरों (कैंसर) की चिकित्सा में बहुत-कुछ उपयोगी सिद्ध हुआ है।

विद्युत्-शक्ति ने तो एक प्रकार का कल्प वृक्ष ही स्वर्ग से लाकर मर्त्यलोक में उपस्थित कर दिया है। एक बटन दबाया नहीं कि सारा

नगर विद्युत् की विशुद्ध निर्मल ज्योत्स्ना में निमग्न हो गया। 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' की प्रार्थना कम-से-कम भौतिक रूप में शीघ्र ही स्वीकृत हो जाती है। विद्युत्-शक्ति हमारी दासी बनकर हमारे घर को परिष्कृत करती है। बटन दबाते ही आज्ञा का पालन होने लगता है। शीत में गर्म और ग्रीष्म में शीतल वायु की प्राप्ति होती है। पवन देव भी हमारे आज्ञानुवर्त्ती बन जाते हैं। आज विज्ञान की बदौलत हम जल, थल और गगन में समान गति से विहार करते हैं।

'मनोजवं मारुततुल्यवेगं' वाली उक्ति को आज विद्युत्-शक्ति ने सोलहो आने चरितार्थ कर दिया है। सुदूर देशों की खबर हमें पल भर में मिल जाती है। बेतार के तार और वायुयान का आविष्कार प्रायः साथ ही साथ हुआ। हम गगन-विहारी होकर भी वायरलेस के जरिये पृथ्वी से संबंध बनाये रखते हैं। अपने कमरे में बैठे-बैठे लंदन, पेरिस आदि के गाने सुनते हैं, देश-विदेश के महान् नेताओं के भाषण तथा तरह-तरह की खबरें सुनते हैं। इतना ही नहीं, अब तो सुदूर देशों के भाषण सुनने के अतिरिक्त वहाँ के भाषणकर्त्ताओं के चित्र भी साथ-ही-साथ देख लेते हैं। टेलीविजन यानी दूरदर्शन अब स्वप्न की बात नहीं रहा।

विद्युत् शक्ति की अनंत संभावनाएँ हैं। शनैः शनैः वे संभावनाएँ वास्तविक भी होती जा रही हैं। आज चल-चित्रों (सिनेमा) की लोकप्रियता सर्वविदित है। इससे हमारा आमोद-प्रमोद तो होता ही है, साथ ही सामाजिक जीवन पर भी इसका कम प्रभाव नहीं पड़ता। लेकिन, खेद है कि हमारे देश में चल-चित्र-निर्माता जीवन-स्तर में सुधार लाने तथा शिक्षा-संबंधी पथ-प्रदर्शन के पुनीत कार्य पर अपेक्षित ध्यान न देकर धनार्जन में ही लगे रहते हैं। अगर वे चाहें तो समाज में क्रांतिकारी परिवर्तन ला सकते हैं, चल-चित्र के माध्यम से वे सच्चे अर्थ में समाज-स्रष्टा कहला सकते हैं।

उसी तरह दूरवीक्षण और अणुवीक्षण यंत्र भी मानव-कल्याण के लिए कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। खगोल-अध्ययन और समुद्र-यात्रा का पथ-प्रदर्शन तो दूरवीक्षण यंत्र ही करता है। अणुवीक्षण यंत्र तो और भी उपयोगी तथा महत्त्वपूर्ण है। इस यंत्र ने 'अणोरणीयान्' को 'महतो महीयान्' करके बतला दिया है और विभिन्न प्रकार के कीटाणुओं को प्रकाश में लाकर चिकित्सा-शास्त्र में हलचल मचा दी है।

वैज्ञानिक आविष्कारों ने मनुष्य के मात्र सुख-संपादन का कार्य ही नहीं किया है, वरन् मनुष्य जाति के संगठन में भी अत्यधिक योगदान दिया है। एक समय था, जब मनुष्य पैदल यात्रा किया करते थे। आगे चलकर मनुष्यों ने घोड़े, हाथी, उँट, याक आदि पशुओं को पालतू बनाकर उनसे वाहन का काम लिया। यों तो आज भी न्यूनाधिक अंश में उनका उपयोग होता ही है, लेकिन आज उनसे भी अधिक वेगवान् वाहन हमें उपलब्ध हैं। विज्ञान के चमत्कार से आज हमें साइकिल, मोटर गाड़ियाँ, रेलगाड़ियाँ और वायुयान प्राप्त हैं, जिनसे हम हजारों मील की यात्रा चंद घंटों में ही तय कर लेते हैं। और, जेटविमान तो और भी शीघ्रगामी वाहन है जिससे हम सारे संसार का परिभ्रमण चंद घंटों में कर सकते हैं। इस तरह आज देशीय और प्रांतीय सीमाएँ विलीन हो गई हैं। और, हम मनुष्यमात्र की एक जाति, एक विश्व, एक न्यायालय आदि की कल्पना का दुस्साहस कर रहे हैं। भौतिक सामग्री के विनिमय के साथ विचारों के आदान-प्रदान की भी अधिक सुविधा प्राप्त हो गई है।

लेकिन, भलाई के साथ बुराई लगी हुई है। संसार में दुःख-सुख, पाप-पुण्य, गुण-दोष का द्वन्द्व है। विज्ञान हमारे लिए वरदान है तो अभिशाप भी; कल्याणकारी है, तो विध्वंसक भी। जिस अणु-शक्ति से विश्व का कायाकल्प हो सकता है, उससे विश्व का

संहार भी संभव है। जिन वायुयानों में बैठकर हम देवताओं के समान व्योम-विहार करते हैं, उन्हीं वायुयानों से हम फूल की जगह आग की वर्षा भी करते हैं। एक तो एटम बम ही विश्व के संहार के लिए पर्याप्त था और अब तो एटम बम का चाचा हाइड्रोजन बम भी हमारे हाथ में विद्यमान है। इतना ही नहीं, अब तो कीटाणुओं की घातक-शक्ति भी युद्ध में सहायक बनेगी और जिसके परिणाम-स्वरूप युद्ध प्राणि-शास्त्र पर आश्रित हो जायगा। आज तरह-तरह की विषैली गैसों का आविष्कार किया जा रहा है। जिस दूरवीक्षण यंत्र से हम तारा-मंडल की सैर कर विश्व की अनंतता का अनुभव करते हैं, वही यंत्र घातक तोपों का सहकारी भी बनता है। लेकिन, विज्ञान रक्षक की जगह भक्षक का रूप तभी धारण करता है, जब मानवों में देवत्व के स्थान पर दानवत्व का प्राबल्य होता है।

वैज्ञानिक आविष्कारों ने हमें आलसी भी बना दिया है और हमारी शारीरिक शक्ति भी क्षीण कर दी है। इसके अलावा विज्ञान ने पूँजीपतियों का दास बनकर अमीर-गरीब के बीच की खाई को और भी विस्तृत किया है तथा बेकारी की समस्या को और भी जटिल बना दिया है। आज मशीनों की इतनी प्रधानता है कि अगर आज के युग को 'मशीन-युग' कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं। लेकिन, इन मशीनों से गरीब की अपेक्षा अमीर का स्वार्थ ही अधिक सिद्ध होता है। मगर इसके लिए विज्ञान या मशीन नहीं, हम उत्तरदायी हैं। भला आग की उपयोगिता से कौन इन्कार कर सकता है, मगर वही आग कभी-कभी घर-द्वार भी जलाकर भस्म कर देती है। तो इससे आग की उपयोगिता तो कम नहीं हो जाती। यही हाल हमारे वैज्ञानिक आविष्कारों का भी है।

द्वितीय श्रेणी की आविष्कारों में विकासवाद और विद्युत-अणु संबंधी-ज्ञान प्रमुख हैं। इन्हें आविष्कार न कहकर खोज (डिसकवरी)

कहना अधिक संगत होगा। विकासवाद की मान्यता अक्षरशः सत्य हो या न हो, लेकिन उससे हमारे ज्ञान का दृष्टिकोण तो कुछ-न-कुछ अवश्य ही परिवर्तित हुआ है। हमें सभी शास्त्रों के क्रमिक विकास का पता लगने लगा है। विकास के सिद्धांतों पर ही जानवरों का जाति-विभाग अवलंबित है। साहित्य और समाज आदि में भी विकासवाद के नियम लागू किये जाते हैं। विशेषीकरण के साथ एकीकरण का सिद्धांत सभी कार्य-क्षेत्रों में व्याप्त हो रहा है। विकासवाद के सिद्धांत से हमें भेद में अभेद का ज्ञान होता है। और, इसी भेद में अभेद देखने को ही श्रीमद्भागवतगीता में सात्विक ज्ञान कहा गया है। इस तरह सारे विश्व में एक नियम और शृंखला की व्याप्ति घटाई जाती है। इसका श्रेय सिर्फ विकासवाद को ही नहीं है, वरन् सारे विज्ञान ने ज्ञान की एकाकारिता स्थापित करने में सहायता प्रदान की है। विद्युत्-अणुओं ने भौतिकवाद को भी काफी धक्का पहुँचाया है। पहले ऐसी मान्यता थी कि भौतिक अणुओं से ही संसार बना है। लेकिन अब विश्वास किया जाता है कि शक्ति के केन्द्रों के घात-प्रतिघात से विश्व का निर्माण हुआ है।

बीसवीं सदी का विज्ञान हमें आध्यात्मिकता की ओर भी लिये जा रहा है। सर ओलीवर लाज-जैसे वैज्ञानिकों की प्रेतवाद-संबंधी खोज भी इसमें बहुत सहायक हो रही हैं। अणुओं के तोड़ने से जो शक्ति उत्पन्न होती है, उसी का घातक प्रयोग एटम बम में देखा जाता है। संभव है, आगे चलकर उसका प्रयोग मानव-कल्याणार्थ औद्योगिक कार्यों में भी होने लगे। आइंस्टाइन का सापेक्षवाद (Relativism) ने विज्ञान में हलचल मचा रहा है। इन सभी बातों से हमें यही शिक्षा मिलती है कि संसार कोई भौतिक दृढ़ पदार्थ नहीं, वरन् वह विद्युत्-अणुओं का खेल है।

अस्पृश्यता और उसका निदान

यों तो अस्पृश्यता का शाब्दिक अर्थ है—अछूतपन, स्पर्श की अयोग्यता; लेकिन व्यावहारिक रूप में इसका अर्थ है—छुआछूत की बीमारी से ग्रसित रहना, मनुष्य-मनुष्य में विभेद की भावना तथा जाति-भेद, ऊँच-नीच की भावना से सामाजिक ढाँचे को झकझोर कर खोखला बनाना।

जहाँ तक इस जाति-भेद रूपी विष-वृक्ष के प्रादुर्भाव का प्रश्न है, साधारणतया लोग ऋग्वेद के पुरुषसूक्त को ही इसका जनक मानते हैं, जिसमें कहा गया है, 'उस प्रजापति के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, उरु से वैश्य और पदों से शूद्र उत्पन्न हुए।'

इसी तरह श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कंध के पंचम अध्याय में ब्रह्माजी ने नारद से विराट् पुरुष की विराटता का विश्लेषण करते हुए कहा है, 'ब्राह्मण इस विराट् पुरुष का मुख है; भुजाएँ क्षत्रिय हैं; जांघों से वैश्य और पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए हैं।'

इसी श्रीमद्भागवत के एकादश स्कंध के सत्रहवें अध्याय में वर्णाश्रम-धर्म-निरूपण की भी चर्चा की गई है। भगवान् श्रीकृष्ण ने उद्धव जी के प्रश्न के उत्तर में कहा है—

'विप्र क्षत्रियविट्शूद्रा मुखबाहूरुपादजाः।
वैराजात् पुरुषाज्जाता य आत्माचारलक्षणाः॥'

अर्थात्, विराट् पुरुष के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, जंघाओं से वैश्य और चरणों से शूद्र की उत्पत्ति हुई। उनकी पहचान उनके स्वभावानुसार और आचरण से होती है।

इन चारों वर्णों के धर्म के सम्बन्ध में भी श्रीकृष्ण कहते हैं—

'अहिंसा सत्यमस्तेयमकामक्रोधलोभता।
भूतप्रियहितेहा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकाः।'

अर्थात्, उद्धवजी! चारों वर्णों के लिए साधारण धर्म यह है कि मन, वाणी और शरीर से किसी की हिंसा न करें; सत्य पर दृढ़ रहें; चोरी न करें; काम, कोध तथा लोभ से बचें और जिन कामों से समस्त प्राणियों की प्रसन्नता और उनका भला हो, वही करें।

उपर्युक्त विश्लेषण से यही पता चलता है कि, कोई भी मनुष्य जन्म से नहीं, वरन् अपने कर्म और चरित्र के बल पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अंत्यज कहला सकता है। इसीलिए तो भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है, 'मैंने गुण-कर्म के अनुसार ही चारों वर्णों की सृष्टि की है।' इसी तरह महाभारत में भगवान् शिव ने पार्वती से कहा है—'द्विजत्व का कारण केवल चरित्र ही है। चरित्र से ही सभी ब्राह्मण हो सकते हैं। शूद्र भी यदि सच्चरित्र हो तो वह ब्राह्मणत्व का अधिकारी है। उसी तरह ब्राह्मण भी दुश्चरित्र होकर शूद्रत्व का भागी होता है।'

भगवान् शिव ने तो और भी स्पष्ट कर दिया कि जन्म से न तो कोई बड़ा है, न छोटा, न पूज्य है, न निंदनीय। सुकर्म और सच्चरित्रता के सहारे ही कोई श्रेष्ठ या निकृष्ट कहला सकता है। इसलिए वर्ण-भेद या जाति-भेद अथवा अस्पृश्यता की तो कोई गुंजाइश ही नहीं है, क्योंकि सृष्टि के आरंभ में भी, पहले-पहल एक ही वर्ण था। भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भागवत (एकादश स्कंध, सप्तदश अध्याय) में कहा है—'जिस समय इस कल्प का प्रारंभ हुआ था और पहला सत्ययुग चल रहा था, उस समय सभी मनुष्यों का 'हंस' नामक एक ही वर्ण था।'

खैर, उपर्युक्त विवेचन से इतना तो स्पष्ट होता ही है कि समाज में चारों वर्णों की सार्थकता थीं, उनमें से एक भी निरर्थक नहीं था।

इसके दो कारण कहे जा सकते हैं। प्रथम तो यह कि चारों वर्णों की उत्पत्ति उसी एक विराट् पुरुष से हुई थी और द्वितीय यह कि सामाजिक सुदृढ़ ढाँचे या विशाल भवन के चारों वर्ण चार सुदृढ़ स्तंभ थे। और, किसी भी भवन की सुदृढ़ता के लिए तो चारों स्तंभ की सुदृढ़ता अनिवार्य ही है। उसी तरह हमारे समाज के चारों वर्ण स्तंभ थे, एक बुद्धि तो दूसरा बल; तीसरा शस्त्र तो चौथा उस शस्त्र को चलाने का साधन। इस तरह चारों में से किसी की महत्ता किसी से कम नहीं थी। सभी एक दूसरे के पूरक थे।

लेकिन, दुर्भाग्य से हमारे विशाल तथा भव्य सामाजिक भवन के चारों स्तंभ एक समान सुदृढ़ नहीं रह सके। धीरे-धीरे एक पाया (स्तंभ) नीचे धँसने लगा और अंत में, हमारा विशाल भवन भी धराशायी होने लगा। जहाँ चार स्तंभ थे, अब सिर्फ दो ही अवशेष रहे, जिनका नवीन नामकरण हुआ—सवर्ण और अछूत।

और, एक समय ऐसा आया कि एक ही ब्रह्म से आविर्भूत ब्राह्मण और शूद्र—सवर्ण और अछूत—दोनों में दुराव की इतनी प्रबल कुभावना फैली कि एक पूज्य कहलाने लगा तो दूसरा घृणित; एक को वेद के पवित्र पृष्ठों से चूल्हे और दीमक का स्वागत करने का अधिकार मिला तो दूसरे को उन पृष्ठों के मात्र दार्शन का भी अधिकार न रहा। उन अछूतों को सामाजिक, धार्मिक आदि अधिकारों से वंचित तो किया गया ही, यहाँ तक कि उन्हें छूना भी पाप समझा गया। इस तरह आपस में द्वेष, घृणा आदि का ऐसा विष-वृक्ष फैला कि सारा मधुमय वातावरण ही विषाक्त हो गया।

धीरे-धीरे वह समय भी आया जब मनुष्य मनुष्य के शरीर को कौन कहे, उसकी परछाईं से भी घृणा करने लगा। गाँव के तालाब, कुएँ, विद्यालय, मंदिर आदि सभी सार्वजनिक स्थानों से उसका बहिष्कार होने लगा। उसके बच्चे अलग रखे जाने लगे। बूढ़े-

बच्चे उसे 'अरे-अबे'—जैसे शब्दों से संबोधित करने लगे। यहाँ तक कि यदि सवर्ण के गाँव में कोई अछूत आना चाहता तो उसे पहले ही ढोल बजाकर अपने आने की सूचना देनी पड़ती थी, ताकि सवर्ण उसकी परछाईं से अलग रह सकें।

हमारे देश पर बाहरी आक्रमण भी कम नहीं हुए। और, सभी आक्रमणकारी या तो भाग गये या यहीं के समाज में घुल-मिल गये, लेकिन, मुसलमान और अंगरेज आक्रमणकारियों ने अपना अलग अस्तित्व ही कायम कर दिया। इन दोनों जातियों ने हिन्दुओं के पागलपन से फायदा उठाया। जो हिन्दू अपने ही समाज में हेय और निकृष्ट समझे जाते थे; जिन्हें आर्थिक, सामाजिक तथा अन्य अधिकारों से वंचित रखा गया; वे भला किस बूते पर, किस आशा पर तथा कितने दिनों तक ऐसे क्रूर समाज में चिपके रहते? मुसलमानों और ईसाइयों ने उन्हें गले से लगाया, सभी तरह की सुविधाएँ दीं। और, उन अछूत कहे जानेवाले हिन्दू भाइयों ने अपने जीवन तथा समाज से असंतुष्ट होकर अपना धर्म परिवर्तन करना शुरू किया। धीरे-धीरे हजारों-लाखों की संख्या में वे लोग ईसाई बनने लगे। और, आश्चर्य तो यह कि, वे ही जब मुसलमान और ईसाई बन गये तो हिन्दू समाज में उनकी प्रतिष्ठा होने लगी।

इस तरह आपसी कटुता, द्वेष, घृणा, मतभेद आदि के कारण हमारा समाज कमजोर बन गया और देश गुलामी की जंजीर में जकड़ दिया गया। और, जब हम इस ओर ध्यान देते हैं तो देश की गुलामी का सदियों का इतिहास चल-चित्र की तरह हमारी नजरों के सामने से गुजर जाता है। यों तो आपसी झगड़े, जातिवाद, आडंबर आदि ने पहले ही देश की सुदृढ़ नींव को हिला रखा था, लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक पश्चिमी साम्राज्यवाद की अनोखी नीति—फूट डालकर शासन (Devide and Rule) करने की

नीति—ने हमारे देश तथा देशवासियों को हर तरह से तबाह कर दिया। उन्होंने जातीयता, फूट, मतभेद आदि विषाक्त भावनाओं को हमारे बीच इतना अधिक फैलाया जितना पहले कभी नहीं था। अस्पृश्यता यानी छुआछूत की भीषणता तथा भयंकरता तो मानों अपनी चरम सीमा पर ही पहुँच गई।

यों तो समय-समय पर भगवान बुद्ध, महावीर, रामानुज, चैतन्य, रामानंद, कबीर, तुकाराम आदि संतों और महात्माओं ने एक स्वर से छुआछूत और ऊँच-नीच की इस विषाक्त भावना की भर्त्सना की। लेकिन, अंग्रेजी शासन के आते ही इस रोग को दूर करने का आन्दोलन संगठित रूप से चलता दिखाई पड़ा। बंगाल के महान् समाज-सुधारक राजा राममोहन राय तथा स्वामी विवेकानंद, महाराष्ट्र के महात्मा ज्योतिराव फूले और महर्षि शिन्दे तथा उत्तर भारत के स्वामी दयानंद, लाला लाजपत राय और स्वामी श्रद्धानंद ने अस्पृश्यता-निवारण और अछूत कहे जानेवाले हिन्दुओं को समान स्तर पर लाने का अथक् परिश्रम किया।

और, जब महात्मा गाँधी ने सन् १९१९ में राजनीति की बागडोर अपने हाथों में ली, तभी से उन्होंने इस अस्पृश्यता-निवारण-समस्या को राष्ट्र-निर्माण के अत्यावश्यक अंग के रूप में मान्यता दी। अपने देश में उन्हें अस्पृश्यता का ऐसा विकराल रूप देखने को मिला कि उन्होंने इसे हजार सिरवाली राक्षसी की संज्ञा दे डाली।

सन् १९३२ में जब ब्रिटिश प्रधान मंत्री श्री रैमजे मैक्डोनल्ड ने भारत में साम्प्रदायिक अधिकार का निर्णय देते हुए अछूतों को हिन्दू-समाज से अलग रखने का प्रयत्न किया, तब गाँधीजी ने राष्ट्र के इस जीवन-मरण के प्रश्न पर अपने प्राणों की बाजी लगा दी और आमरण अनशन प्रारंभ किया, जिससे सारे देश में तहलका मच गई। एक सप्ताह के बाद सवर्ण और दलितवर्ग के नेताओं अर्थात्

महामना मालवीय जी, डाक्टर अम्बेदकर, डाक्टर सप्रू आदि में एक ऐतिहासिक समझौता हुआ, जो 'पूना ऐक्ट' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसके बाद ही बंबई में महामना मालवीय जी की अध्यक्षता में हिन्दू नेताओं की एक महती सभा हुई और उसी सभा के फलस्वरूप हरिजन सेवक-संघ की स्थापना हुई। स्व० दीनबन्धु ठक्कर बापा ने इस संघ को १८ वर्षों तक सुचारु रूप से चलाया और हरिजनों की निस्स्वार्थ सेवा की। बापा की प्रार्थना पर महात्मा गाँधी ने सन् ३३-३४ में हरिजन-कल्याणार्थ सारे भारत का भ्रमण किया। लाखों-करोड़ों स्त्री-पुरुषों ने उनके संदेश सुने जिससे अस्पृश्यता-निवारण-आंदोलन को काफी बल मिला।

सवर्णों ने अपने युगों के कुकृत्य को पहचाना। उन्होंने महसूस किया कि वास्तव में, धर्म के नाम पर, हमने जिन भाइयों के साथ अमानुषिक, अनैतिक तथा असामाजिक दुर्व्यवहार किया और करते आ रहे हैं, वे हमारे अंग हैं।

इधर अछूत कहे जानेवालों ने भी अपने आप को पहचाना। सदियों से उनके स्वाभिमान की जो किरणें मेघाछन्न थीं, वे अब मध्याह्नकालीन सूर्य की प्रखर, प्रचंड किरणों के रूप में विकीर्ण हुईं।

देश स्वतंत्र हुआ। अपने देश के भाग्य-विधाता हम स्वयं बने। अपना संविधान बना। संविधान में अस्पृश्यता का मूलोच्छेद कर दिया गया है। देश के सभी निवासियों को—चाहे वे किसी भी वर्ग, जाति या श्रेणी के हों—भारतीय नागरिकता का अधिकार मिला। सभी भारतीय नागरिकों को आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि सभी अधिकार समान रूप में मिले।

इतना होते हुए अस्पृश्यता की समस्या विकट ही बनी हुई है। नगरों में तो अस्पृश्यता प्रायः समाप्त हो चुकी है, लेकिन देहातों में अभी भी इसका, उग्र रूप नहीं तो, अनपेक्षित रूप अवश्य ही देखने

को मिलता है। हमने देखा कि अस्पृश्यता की समस्या बहुत पुरानी है। उसे कानून के जरिये 'छूमंतर' में हल नहीं किया जा सकता। इस संबंध में विभिन्न राज्यों में जो कानून बनाये गये हैं, उनमें एकरूपता भी नहीं है। और, कानून में एकरूपता भी रहती तो कानून का पल्ला पकड़ने के लिए क्षमता और साधन अपेक्षित हैं। और, इन क्षमता और साधनों का हरिजनों में नितांत अभाव है। वे गरीब हैं, निर्धन हैं, अशिक्षित हैं, बेजमीन हैं, बेघर-बार हैं। भला, ऐसी दशा में वे किस बूते पर कानून का सहारा ले सकते हैं? और, अगर कानून का सहारा भी लिया जाय तो हमें मनोवांछित फल नहीं मिल सकते। मनोवांछित फल हमें तभी प्राप्त हो सकते हैं, जबकि रूढ़िप्रिय सवर्णों का हृदय-परिवर्तन किया जाय, जो अहिंसा और प्रेम के माध्यम से ही संभव है।

अतएव, अस्पृश्यता-निवारणार्थ हमारे लिए निम्नलिखित कुछ प्रयोग वांछनीय प्रतीत होते हैं—(क) अस्पृश्यता-निवारण के लिए सबसे पहले रूढ़िप्रिय सवर्णों के दिमाग से छूआछूत के भूत को भगाना पड़ेगा और वह भूत मार के भय से नहीं, महात्मा गाँधी के अहिंसा और प्रेम के अमोघ अस्त्र से ही पिंड छोड़ेगा। हमें उन्हें समझाना चाहिए कि अस्पृश्यता हिन्दू-धर्म के मूल सिद्धांतों के प्रतिकूल तो है ही, मनुष्यता के भी विपरीत है।

(ख) इस अस्पृश्यता का शिकार सिर्फ सवर्ण हिन्दू ही नहीं, वरन् दलितवर्ग में परिगणित की जानेवाली जातियाँ भी इस छूआछूत की महामारी से बुरी तरह आक्रांत हैं। अतः, उन्हें भी इससे बचने के लिए भरपूर कोशिश करनी चाहिए।

(ग) सामाजिक, धर्मिक, राष्ट्रीय उत्सवों, त्यौहारों, पर्वों आदि के मौकों पर इस तरह का वातावरण तैयार करना चाहिए ताकि सवर्ण और हरिजन, दोनों को एक साथ मिलने-जुलने, खाने-पीने

आदि का अवसर मिल सके। और, हरिजन-बस्तियों में ही यदि ये उत्सव आदि अधिकतर मनाये जायँ तो और भी अच्छा।

(घ) हरिजनों को सार्वजनिक कुओं, तालाबों आदि से पानी भरने में तो रुकावट नहीं ही डालनी चाहिए, बल्कि संभव हो तो निजी कुओं, तालाबों आदि को व्यवहार में लाने की भी छूट दे देनी चाहिए। इसी तरह मन्दिर, उपाहार-गृह (रेस्तराँ), भोजनालय आदि सार्वजनिक स्थानों में उनके प्रवेश के कार्यक्रम को शांतिमय और प्रेमपूर्ण तरीके से चलाया जाय। और, इस कार्य में बाधा डालनेवालों को पहले इस महान् अनुष्ठान की उपयोगिता पर प्रेम तथा तर्कपूर्ण ढंग से समझाया जाय और अगर मौका आवे तो भारतीय संविधान के १५वें और १७वें अनुच्छेदों को समझा दिया जाय जिनके अधीन अस्पृश्यता को अपराध माना गया है।

(ङ) हरिजनों को भी इसकी जानकारी करा देनी चाहिए कि वे भी भारत के नागरिक हैं, उन्हें भी वे सभी अधिकार प्राप्त हैं जो दूसरों को मिले हैं। अतएव, अपने प्राप्त अधिकारों का उन्हें साहस, दृढ़ता और विवेक के साथ उपयोग और उपभोग करना चाहिए। अवश्य ही यह ध्यान में रहे कि सवर्णों और हरिजनों के बीच पुनः कटुता की भावना न अंकुरित होने पावे।

(च) आज साधारणतः देखा जाता है कि हरिजनों के लिए 'हरिजन कोलोनी' बसाये जाते हैं, 'हरिजन छात्रावास' खोले जा रहे हैं; लेकिन इससे तो अस्पृश्यता-निवारण की समस्या हल नहीं हो सकती। अधिकारियों को चाहिए तो यह था कि कम-से-कम विश्वविद्यालय या विद्यालय के प्रांगण में वे इस तरह के भवनों का अलग नामकरण नहीं करते, बल्कि आम छात्रावासों में ही हरिजनों को भी स्थान देते और अगर स्थान की कमी होती तो फिर नये भवन का निर्माण करते। और, यदि सवर्ण और हरिजन विद्यार्थियों को

अलग-अलग छात्रावास में रखा गया, हरिजनों के लिए अलग बस्ती बसायी गई तो फिर दोनों के बीच की खाई कैसे भरेगी, आपस की कटुता कैसे मिटेगी !

सह-शिक्षा

[लड़के-लड़कियों को एक साथ शिक्षा देने को सह-शिक्षा कहते हैं]

हमारे प्राचीन भारत में स्त्रियों का अत्यंत महत्त्वपूर्ण एवं ऊँचा स्थान रहा है। तत्कालीन स्त्रियों ने बड़ी निपुणता के साथ बुद्धि और त्याग के बल पर अपने घरेलू एवं अनेकानेक सामाजिक कार्यों में तथा समाज के सर्वांगीण विकास में हाथ बँटाया है। इतना तो प्रायः सर्वमान्य ही है कि वे गणित, नीति, धर्म, अर्थ, चिकित्सा, गार्हस्थ्य आदि शास्त्रों में पारंगत थीं। सीता, सावित्री, गार्गी, लीलावती, मैत्रेयी आदि नारी-रत्नों के स्मरणमात्र से आज भी हमारा मस्तक गर्व से ऊँचा उठ जाता है।

और, आज हमें उसी प्राचीन गौरव-गरिमा एवं आदर्श परंपराओं को ध्यान में रखकर नारी को शिक्षित करना है, क्योंकि नारी सिर्फ गृह-लक्ष्मी या अन्नपूर्णा ही नहीं, बल्कि सहचारिणी और सहधर्मिणी भी है। और, कुशल सहधर्मिणी बनाने के लिए नारियों उच्च शिक्षा देना अनिवार्य है।

लेकिन, प्रश्न है कि उन्हें उच्च शिक्षा किस प्रकार दी जाय ? लड़कों के साथ-साथ या पृथक् रूप से ? इस प्रश्न पर देश में परस्पर-विरोधी विचारधाराएँ प्रचलित हैं। आधुनिक सुधारवादियों या प्रगतिशील कहे जानेवालों की मान्यता है कि लड़के-लड़कियों को एक साथ शिक्षा दी जाय और दोनों की शिक्षा-प्रणाली भी एक-सी हो।

दूसरी ओर कट्टरपंथियों के विचार ठीक उनके प्रतिकूल हैं। और, सह-शिक्षा के संबंध में इनका सबसे प्रबल आक्षेप नैतिक और आचरण-संबंधी है।

जहाँ तक शिक्षा देने का प्रश्न है, वह तो घर पर दी जा सकती है; लेकिन उसके खर्च का जरा अंदाज तो कीजिए! किसी एक अध्यापक का सभी विषयों पर तो समान अधिकार नहीं रहता और रह भी नहीं सकता; इसलिए प्रत्येक विषय के लिए अलग-अलग अध्यापक अपेक्षित होंगे। भला, हमारे देश में ऐसे कितने व्यक्ति हैं, जो अपनी संतान को इस प्रणाली से शिक्षा दे सकेंगे? और, मान लीजिए, इस प्रणाली से यदि हम शिक्षा देने में समर्थ भी हो जायँ तो शिक्षा के मूल उद्देश्य की प्राप्ति नहीं हो सकती; क्योंकि विद्यालयों या महाविद्यालयों में सामाजिकता, सहिष्णुता आदि गुणों का जो अपेक्षित विकास होता है, उनसे वे (घर पर शिक्षा पानेवाले) प्रायः वंचित ही रह जायँगे।

दूसरी धारणा यह भी है कि लड़कियों को ऊँची शिक्षा दी तो अवश्य जाय, मगर उनके लिए पृथक् विद्यालयों तथा महाविद्यालयों की व्यवस्था की जाय। और, हमारे देश में ऐसी व्यवस्था देखने में भी आती है। लेकिन, इस व्यवस्था में सबसे बड़ा दोष यह है कि लड़के-लड़कियाँ आपस में एक दूसरे को समझने में समर्थ नहीं हो पाती हैं। और, शिक्षा का प्रधान लक्ष्य तो आज की दुनिया में यही हो रहा है कि नर-नारी एक दूसरे को निकट से जानें और समझें। जब हम नारियों को भी पुरुषों के ही समकक्ष में रखकर उन्हें समान राजनीतिक अधिकार दे चुके हैं, तब पृथक् विद्यालयों तथा महाविद्यालयों में शिक्षित नारियों से इस अधिकार के समुचित उपभोग की आशा किस प्रकार कर सकते हैं? अतएव, आज हम जिस प्रकार के चेतन समाज की प्रतिष्ठा करने का स्वप्न देख रहे हैं, उसमें

लड़के-लड़कियों के लिए पृथक्-पृथक् शिक्षा-व्यवस्था करने का प्रश्न ही नहीं उठता।

लेकिन, हमारे यहाँ हिन्दू समाज को ही नहीं, वरन् भारतीय समाज की ऐसी व्यवस्था चली आ रही है कि सह-शिक्षा कुछ अस्वाभाविक-सी प्रतीत होती है। हमारे ऊपर मध्यकाल के पर्दे का संस्कार अभी तक विद्यमान है। हम प्राचीन और नवीन सभ्यता के संघर्ष-स्थल पर खड़े हैं। एक ओर नये संस्कारों के कारण हम लड़कियों की उच्च शिक्षा का पक्ष लेते हैं तो दूसरी ओर मध्यकालीन संस्कारों के कारण उस ओर से नाक-भौं सिकोड़ते हैं।

सह-शिक्षा के सम्बन्ध में प्रथम आक्षेप यह है कि यह एक बिलकुल नयी चीज है। प्राचीन काल में विद्याध्ययन काल तक ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करना पड़ता था। और, ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करने में स्त्रियों से अलग रहना अनिवार्य समझा जाता था। लेकिन प्राचीन ग्रन्थों से इस बात का पता तो चलता ही है कि ऋषि के आश्रम में लड़कों के साथ-साथ लड़कियाँ भी शिक्षा पाती थीं। यदि उस समय सह-शिक्षा का प्रचलन न होता तो महाकवि भवभूति ने अपने उत्तर रामचरित में तपस्विनी आत्रेयी के मुख से यह किस आधार पर कहलाया कि वाल्मीकि जी के आश्रम में लव और कुश की प्रखर बुद्धि के कारण उनके साथ (लव और कुश के साथ) मेरा पाठ नहीं चल सकता। राजर्षि जनक की विद्वन्मंडली में मैत्रेयी का याज्ञवल्क्य को ललकारना तथा शास्त्रार्थ में उन्हें परास्त करना क्या बिना सह-शिक्षा के सम्भव था? इसलिए यह धारणा बिलकुल भ्रामक है कि सह-शिक्षा हमारे लिए बिलकुल नवीन चीज है।

दूसरा आक्षेप यह किया जाता है कि स्त्रियों और पुरुषों के कार्य-क्षेत्र अलग-अलग हैं। इसलिए उनकी शिक्षा भी भिन्न प्रकार की

होनी चाहिए। और, यह आक्षेप कुछ हद तक सही भी है। साधारणतः शिक्षा का मूल उद्देश्य है इसके द्वारा पुरुष या स्त्री के ज्ञान की वृद्धि के साथ ही उनका शारीरिक, मानसिक और चारित्रिक विकास करना और उन्हें स्वावलम्बी बनाना। लेकिन, स्वावलम्बन का अर्थ आज कुछ संकुचित हो गया है और कुछ लोग मानते हैं कि शिक्षा द्वारा स्त्रियों या पुरुषों को नौकरियों के योग्य बना देना ही उनको स्वावलंबी बना देना है। परन्तु स्वावलम्बी होने का यथार्थ रूप तो यह है कि स्त्री या पुरुष को दूसरे पर निर्भर रहने की कम-से-कम आवश्यकता पड़े। क्या घर का सारा काम-काज सँभाल लेना इसका लक्षण नहीं है! क्या अपने बच्चे के पालन-पोषण और यहाँ तक कि दूध के लिए भी धायी पर निर्भर रहना परावलम्बन की पराकाष्ठा नहीं है! अतः, सच्चा स्वावलम्बन वही है, जिसमें पुरुष और स्त्री एक दूसरे पर—चाहे वह मालिक या मालकिन बनकर, नौकर या नौकरानी बनकर रहे, चाहे वह कितना ही उच्च पद पर क्यों न हो—निर्भर न हों या कम-से-कम निर्भर हों। कोई जरूरी नहीं है कि स्त्री और पुरुष, दोनों सभी काम करें, दोनों सभी विषयों की शिक्षा प्राप्त करें। प्रकृति ने ऐसी व्यवस्था भी नहीं की है। स्त्रियों को तो अपने ऊपर के गुरुतर उत्तरदायित्व—मानवमात्र के सृजन—को ही सबसे पहले सँभालना चाहिए। और, यह सृजन-कार्य मात्र सन्तानोत्पत्ति के साथ ही समाप्त नहीं होता वरन् जब तक स्त्री जीती-जागती रहती है, यह सृजन-कार्य—मानवमात्र को उन्नत बनाने का कार्य-चलता ही रहता है। और, इस महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व को निभाने के लिए ही लड़कियों को विद्यालयों या महाविद्यालयों में लड़कों के साथ ही शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए जिससे कि अपने देश के सर्वांगीन विकास में वे समुचित भाग ले सकें।

लेकिन, सह-शिक्षा के विरोध में तो सबसे बड़ा आक्षेप नैतिक तथा आचार-सम्बन्धी है। इस आक्षेप के समर्थकों का कहना है कि बालक-बालिकाओं के साथ पढ़ने से उनके नैतिक पतन की संभावना रहती है। लेकिन, यदि गौरकर देखा जाय, तो स्पष्ट हो जाता है कि नैतिक पतन का कारण सिर्फ सह-शिक्षा ही नहीं, सामाजिक व्यवस्था भी है। इसलिए उसके अनुरूप हमें स्वस्थ सामाजिक वातावरण तैयार करना पड़ेगा। व्यवहारतः लड़के और लड़कियाँ, जितना एक दूसरे से दूर रहेंगे, एक दूसरे के लिए अचभे और आकर्षण की वस्तु बने रहेंगे। लेकिन, साथ रहने से एक दूसरे का आदर करना सीख जायँगे। इसलिए अच्छे और स्वस्थ वातावरण में लड़के-लड़कियाँ निरापद रूप से एक साथ शिक्षा पा सकती हैं। हाँ, आमोद, कॉमन रूम आदि की व्यवस्था अलग की जा सकती है। वाद-विवाद प्रतियोगिता में तो लड़के लड़कियाँ समान रूप से भाग ले सकती हैं।

हाँ, हमारी सामाजिक व्यवस्था की वर्तमान स्थिति में सह-शिक्षा में कठिनाइयाँ तो अवश्य हैं, क्योंकि रूस की तरह यहाँ भी सभी प्रेम-सम्बन्ध वैवाहिक सम्बन्ध में परिणत नहीं हो सकते; लेकिन ज्यों-ज्यों वर्ण-व्यवस्था के बन्धन ढीले पड़ते जायँगे, त्यों-त्यों इस ओर प्रगति होती जायगी।

आज हमारे यहाँ सह-शिक्षा को अपेक्षित प्रोत्साहन नहीं मिल रहा है। यों तो लड़कों के लिए पर्याप्त विद्यालय हैं, लेकिन सह-शिक्षा के लिए अभी उस अनुपात में विद्यालय नहीं हैं। उच्च विद्यालयों या महाविद्यालयों की अपेक्षा प्राथमिक विद्यालयों की संख्या अवश्य ही अधिक है। इसका कारण यह है कि प्राथमिक शिक्षा तक तो सह-शिक्षा का कोई खास विरोध नहीं होता। हाँ, उच्च-स्तरीय सह-शिक्षा का विरोध अवश्य ही होता है। मद्रास में प्राथमिक शिक्षा तक के लिए बहुमत का विरोध नहीं है।

प्राथमिक स्तर तक लगभग ६० प्रतिशत लड़कियाँ लड़कों के साथ विद्यालय में शिक्षा पाती हैं। बम्बई में भी प्राथमिक-स्तरीय सह-शिक्षा तक तो किसी प्रकार की बाधा नहीं है, किन्तु उच्च-स्तरीय सह-शिक्षा को समुचित प्रोत्साहन नहीं मिलता। पंजाब और उत्तर-प्रदेश भी उच्च-स्तरीय सह-शिक्षा को विशेष प्रोत्साहन नहीं मिल रहा है। बंगाल में भी १५—२० प्रतिशत लड़कियाँ ही लड़कों के साथ शिक्षा पाती हैं। प्राथमिक कक्षा तक की सह-शिक्षा में वहाँ कोई विरोध नहीं है, लेकिन उच्च-स्तरीय सह-शिक्षा में प्रत्याशित प्रोत्साहन अब तक नहीं मिल रहा है। और, बिहार में तो अभी इस ओर कदम ही उठाया गया है।

संक्षेप में, सह-शिक्षा की उपयोगिता और अनिवार्यता में तो सन्देह ही नहीं किया जा सकता। लेकिन अभी हमारा सामाजिक वातावरण उसके अनुकूल नहीं है। इसलिए हमें प्रचार और शिक्षा द्वारा उसमें अनुकूलता लानी पड़ेगी। समाज की बलिवेदी पर स्त्रियों के हितों का बहुत बलिदान हो चुका है। अब उनके और हितों का बलिदान करना मानों उनका हनन करना होगा। पढ़नेवाले लड़कों को चाहिए कि वे अपने आचरण में सुधार लावें और सह-शिक्षा-आंदोलन को सफल बनाकर अपने सिर पर लगे कलंक के टीके को मिटावें। और, लड़कियों को भी पश्चिमीय सभ्यता के झोंके में न आकर भारतीय सभ्यता और संस्कृति के अनुरूप अपने आदर्श जीवन का निर्माण करना चाहिए।

यों तो स्वर्गीय विश्व-कवि रवींद्रनाथ ठाकुर ने इस सह-शिक्षा की जटिल समस्या को विश्व-भारती की स्थापना द्वारा हल करने का प्रयास किया है, लेकिन उसका प्रशंसनीय अनुकरण नहीं हो सका है। प्राचीन काल में हमारे यहाँ आश्रम में लड़कियाँ लड़कों के साथ पढ़ा करती थीं, इसलिए जो वस्तु प्राचीन भारत को ग्राह्य थी,

प्राचीन भारत के लिए उपयुक्त थी, उसे ग्रहण या स्वीकार करने से हमें हानि नहीं हो सकती। और, हमारा विश्वास है कि उसी प्राचीन आदर्श की आधार-शिला पर सह-शिक्षा की नींव डाली जाय तो सह-शिक्षा के सम्बन्ध में फैली हुई गलतफहमी नहीं रहे।

बांडुंग सम्मेलन

सन् १९५५ के अप्रैल मास में, हिन्देशिया के बांडुंग नामक स्थान में, जो आफ्रो-एशियाई सम्मेलन हुआ, वह अनेक दृष्टियों से अपना विशिष्ट ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। विश्व के इतिहास में यह पहला ही स्वर्णावसर था, जबकि पश्चिम के गोरे महाप्रभुओं के शोषण, उत्पीड़न और आतंक से मुक्त हुए एशिया तथा अफ्रीका के २९ राष्ट्रों के ३८५ प्रतिनिधि मुक्त हुए राष्ट्रों की समान समस्याओं पर तथा पूर्ण रूप से मुक्त न हुए अपने साथी राष्ट्रों की मुक्ति और राहत के संबंध में गंभीरतापूर्वक विचार-विनिमय करने के लिए वहाँ एकत्र हुए थे। वस्तुत: निर्धनता, युद्ध की विभीषिका तथा उपनिवेशवाद के घने अन्धकार में अपने विकास-पथ तो टटोलनेवाले मानव-समाज को शांति, स्वतंत्रता तथा समृद्धि के प्रशस्त प्रकाश-पथ की ओर अग्रसर करने के प्रथम प्रयास का ही सुफल था वह बांडुंग सम्मेलन! और, इस सम्मेलन के अगुआ थे भारत के प्रधान मंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू तथा चीन के प्रधान मंत्री चाउ-एन-लाई।

सम्मेलन का कार्यारंभ १७ अप्रैल को हुआ और लगातार एक सप्ताह तक इसकी बैठकें होती रहीं। सम्मेलन की भूमिका में ही चीन के प्रधान मंत्री चाउ-एन-लाई ने सम्मेलन के महत्त्व का

उल्लेख करते हुए कहा—"...हमारा सम्मेलन कुछ लोगों द्वारा पसंद नहीं किया जा रहा है। वे सब तरह से इसे हानि पहुँचाने की चेष्टा कर रहे हैं।...लेकिन, हमारा विश्वास है कि सम्मेलन सब तरह की फूट की प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त करेगा।" यद्यपि प्रारंभ में, सम्मेलन का कार्य-क्रम निर्धारित करने तथा उपनिवेशवाद में साम्यवादी यानी कौम्यनिस्ट उपनिवेशवाद को भी गिनने के विचारों ने कुछ मतभेद की सृष्टि अवश्य की; फिर भी विभिन्न विचारों के प्रतिनिधियों ने जिस अनौपचारिकता और मैत्री-भाव से साथ बैठकर खाया-पीया, बातें कीं और एक दूसरे को जाना-समझा, उस में सहयोग, मैत्री तथा सम्मेलन को सफल बनाने के प्रयास का ही आभास स्पष्टतः दृष्टिगोचर हुआ, जो फूट की प्रवृत्तियों पर विजय की सूचना था। सम्मेलन की कार्यवाही में पर्याप्त उत्साह दीख पड़ा और उसके प्रायः सभी निर्णय सर्वसम्मत रहे।

बांडुंग सम्मेलन में, २३ अप्रेल, १९५५ की बैठक में चाउ-एन-लाई ने चीन की अन्तर्राष्ट्रीय नीति का स्पष्टीकरण करते हुए जो घोषणा की वह सम्मेलन की सबसे उल्लेखनीय और महत्त्वपूर्ण घटना कही जाती है। उन्होंने कहा कि "चीन के लोग अमरीकनों के प्रति मैत्री भाव रखते हैं। वे अमरीका से लड़ना नहीं चाहते। चीन सरकार सुदूरपूर्व में, और विशेष रूप से तैवान क्षेत्र में, तनातनी कम करने के ख्याल से अमरीका के साथ बैठकर समझौते की बातचीत करने को तैयार है।...और, यदि ब्रिटिश प्रधान मंत्री सर एन्थोनी ईडेन पंचशील के सिद्धांत से सहमत हैं, जैसा कि भारत के प्रधान मंत्री जवाहरलाल नेहरू ने हमें बताया है, तो चीन उन सिद्धांतों के आधार पर ब्रिटेन से भी समझौता करने को तैयार है।... कुछ लोगों ने सह-स्थिति को कौम्युनिस्ट शब्द बतलाया है। अगर ऐसी बात है तो इसके स्थान पर 'शांतिपूर्वक साथ-साथ रहना' कहा

जा सकता है।" अंत में, चाउ ने विश्व-शांति को दृढ़ और सुरक्षित बनाने के लिए पाँच बातें बतलाई—(१) एशिया तथा अफ्रीका के देश परस्पर के समान हितों के लिए एक दूसरे की प्रभु सत्ता और भौगोलिक अखण्डता के आधार पर शांति, मैत्री तथा सहयोगपूर्वक रहना चाहते हैं। (२) हम एक दूसरे को न धमकी देंगे, एक दूसरे पर न आक्रमण करेंगे। (३) हम एक दूसरे के आंतरिक मामलों में कोई हस्तक्षेप नहीं करेंगे। (४) हम सब जातियों और वर्गों को समान मानेंगे। छोटे-बड़े सभी राष्ट्रों को समान मानेंगे। (५) हम सभी देशों के लोगों के अपनी इच्छा के अनुसार स्वतंत्र रूप से अपनी रहन-सहन का ढंग और राजनीतिक एवं आर्थिक व्यवस्था स्थिर करने के अधिकार को मानेंगे और एक-दूसरे को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचायेंगे।

अंत में, सात दिनों के विचार-विमर्श के बाद उपर्युक्त पंचशील के सिद्धांतों का समर्थन करते हुए जो निर्णय किये गये, उनमें अर्थनीतिक और सामाजिक सांस्कृतिक पहलुओं का ही प्राधान्य रहा। संक्षेप में वे निर्णय इस प्रकार हैं : रंगभेद की नीति की निन्दा और इससे पीड़ित लोगों के प्रति सहानभूति-प्रकाश ; दक्षिण अफ्रीका, फ्रांस, ब्रिटेन, हॉलैंड, पुर्त्तगाल आदि से उपनिवेशवाद का अंत करने का अनुरोध; सब देशों को संयुक्तराष्ट्रसंघ की सदस्यता प्रदान करने की माँग; सब देशों से शांति एवं सहयोगपूर्वक अच्छे पड़ोसियों के रूप में रहने की माँग; आणविक अस्त्रों के उत्पादन, प्रयोगों तथा उपयोग का निषेध; अर्थनीतिक उन्नति के लिए पारस्परिक तथा बाहरी राष्ट्रों से भी आर्थिक लेन-देन और सहयोग-समझौते; विदेशी सहायता तथा पूँजी लगाने की आवश्यकता; पारस्परिक या बाहरी राष्ट्रों से यांत्रिक एवं विशेषज्ञों की सहायता लेना और इस संबंध में शिक्षण तथा शोध-केन्द्रों की स्थापना; इसके लिए संयुक्तराष्ट्रसंघ द्वारा विशेष

कोष की स्थापना; एक अन्तर्राष्ट्रीय कोष की स्थापना; कोष और वित्त-समिति की स्थापना; समान स्वार्थजन्य मामलों को सुलझाने के लिए संयुक्त प्रयत्न; प्राथमिक आवश्यकताओं की चीजों के लेन-देन और मूल्य-निर्धारण के संबंध में समझौता करना; इन कार्यों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संगठन बनाना; जहाज रानी की समुचित सुव्यवस्था; राष्ट्रीय क्षेत्रीय बीमा-कम्पनियों की स्थापना; पारस्परिक कार्यों की अभिज्ञता के आदान-प्रदान के लिए संपर्क-अधिकारियों की नियुक्ति; सांस्कृतिक आदान-प्रदान की अधिक सुविधा देने क व्यवस्था; निरस्त्री-करण आदि-आदि।

ये निर्णय समान स्वार्थों के लिए समान अधिकारों के रूप में ही थे; मान्य निर्णयों के रूप में नहीं। फिर भी, सम्मेलन में सम्मिलित होनेवाले एशिया-अफ्रीका के सभी राष्ट्र, इन्हें स्वीकृति प्रदान कर, कूटनीतिक संबंधों की अपेक्षा एक दूसरे से अधिक निकट आ गये—इस में सन्देह नहीं। साथ ही, इसके परिणाम-स्वरूप भविष्य में उनके कूटनीतिक तथा अन्य प्राकर के संबंधों के अधिक अच्छे और प्रभावपूर्ण होने की संभावना भी बढ़ी। इस सम्मेलन का दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रभाव यह देखा जा रहा है कि पश्चिम के उपनिवेशवादी राष्ट्रों को यह विश्वास हो चला है कि अब एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रों की आँखों में धूल झोंककर वे अपना-अपना उल्लू सीधा नहीं कर सकते हैं। विश्व की राजनीति में इस सम्मेलन का तीसरा महत्त्वपूर्ण प्रभाव यह भी लक्षित हो रहा है कि एक ओर तो सम्मेलन के निर्णयों के प्रति सशंकित होकर अमेरीका ने अपने कारनामों से यह स्पष्ट कर दिया कि वह बांडुंग सम्मेलन में सम्मिलित हुए अधिकांश राष्ट्रों को फूटी आँखों भी देखना नहीं चाहता। लेकिन, दूसरी ओर रूस ने पंचशील के सिद्धांतों को सच्चे हृदय से स्वीकृति प्रदान करने के क्रियात्मक रुख को अपना

कर अपने प्रभाव-क्षेत्र को कहीं अधिक विस्तृत करने में पूर्ण सफलता पाई।

बांडुंग सम्मेलन के साल-डेढ़ साल पश्चात् इजिप्ट ने स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण कर तथा हिन्देशीया ने हॉलैंड के करोड़ों रुपयों के ऋण को नाजायज करार देकर पश्चिम के राष्ट्रों को जो हतप्रभ कर दिया है, वह भी बांडुंग सम्मेलन का ही प्रत्यक्ष प्रभाव कहा जा सकता है। आज तो केवल रूस ही नहीं, बल्कि यूरोप के अन्य अनेक राष्ट्रों ने भी जो एक-एक कर पंचशील के सिद्धांतों को मान्यता देना प्रारंभ कर दिया है, उसे भी बांडुंग सम्मेलन का ही अप्रत्यक्ष प्रभाव समझना चाहिए। इन सभी दृष्टियों पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि बांडुंग सम्मेलन विश्व के इतिहास में बीसवीं शती के दो-चार इनी-गिनी महत्त्वपूर्ण घटनाओं में अपना विशेष स्थान रखता है। और, इसका सब से जबर्दस्त तथा स्थायी प्रभाव जो पड़ने को है, वह यह है कि पश्चिम के उपनिवेशवादी देशों की बची-बचाई शक्ति तथा प्रभाव का अंत भी अब बहुत निकट है; जैसा कि स्वेज के राष्ट्रीयकरण के समाचार को सुनकर भारत के प्रधान मंत्री जवाहरलाल नेहरू ने भी कहा है।

व्यष्टि और समष्टि

आज विश्व संकट-काल से गुजर रहा है। और, शांत-काल की अपेक्षा इसी घोर संकट-काल में हमें अपने-आपसे यह पूछना वांछनीय प्रतीत होता है कि आखिर वह कौन-सी चीज है जिसके लिए जीना-मरना और साथ ही मारना भी उचित है। तो हमें

आयः यही उत्तर मिलेगा कि आज के विश्व का संकट मात्र राजनीतिक सत्ता या अधिकार-संबंधी संघर्ष के परिणामस्वरूप ही नहीं वरन् हम क्या हों—इस प्रश्न के मतभेद की प्रतिक्रिया का भी फल है।

आज विश्व-आधिपत्य के निमित्त प्रधानतः दो मतभेदों या विरोधी विचारधाराओं के बीच घोर संघर्ष चल रहा है। पाश्चात्य मनीषी वैयक्तिक जीवन में ही मानव की महत्ता स्वीकार करते और दर्शन करते हैं। उनके लिए उन्हीं व्यक्तियों का समाज श्रेष्ठ या श्रेयस्कर है, जो आज की परिस्थितियों में भी यथासंभव सुखी, स्वतंत्र और उत्पादनकर्त्ता हैं। वे तो यह कल्पना भी नहीं कर सकते कि सब व्यक्ति समान हैं। उनकी कल्पना का समाज तो एक आर्केस्ट्रा के समान है, जिसमें विभिन्न वादक (बाजा बजानेवाला) विभिन्न वाद्य-यंत्रों से विभिन्न स्वर पहरी निकालते हैं; लेकिन उन सबमें एक समान उद्देश्य का ऐसा सहयोग-समन्वय रहता है कि कुल मिलाकर एक सुन्दर सुश्रव्य-कर्णप्रिय चीज की सृष्टि होती है। उनकी मान्यता है कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति में आत्म-सम्मान की भावना होनी चाहिए। उसका (व्यक्ति का) अपना आत्म-विवेक हो, जीवन का अपना उद्देश्य हो और बिना किसी को कष्ट या क्षति पहुँचाये उसे अपने ढंग पर विकास करने की पूरी स्वतंत्रता हो। जनता-जनार्दन के दुःख दारिद्र्य को कम करना उसके लिए उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि ज्ञान का विकास और प्रसार, कला एवं सौंदर्य की सृष्टि। 'राज्य' या 'शासन' तो उसके विकास का मात्र साधन है, साध्य नहीं।

लेकिन, इसके विपरीत, व्यक्ति और समाज के संबंध में दूसरी विचार धारा में व्यक्ति का कोई महत्त्व नहीं। समाज के लिए उसकी बलि तक दी जा सकती है। वहाँ 'राज्य' ही सब कुछ है।

मानवीय महत्ता का वहाँ कोई स्थान नहीं। वहाँ व्यक्ति उस आज्ञाकारी सेवक के समान है, जिसका 'राज्य' के महान् और देवतास्वरूप शासकों की इच्छा के आदेशानुसार चलना ही पुनीत कर्त्तव्य और धर्म है। और, उस पुनीत कर्त्तव्य और धर्म से च्युत व्यक्ति को कड़ी-से-कड़ी सजा देने में वहाँ के शासक तनिक भी हिचकिचाहट महसूस नहीं करते; क्योंकि उन्हें तो अपने देश या 'राज्य' रूपी देवता की आज्ञा पालन करनी है। और, उनकी आज्ञा के पालन में, उन्हें खुश और संतुष्ट रखने के लिए, वे (शासक वर्ग) कुछ भी कर सकते हैं।

यह वह दृष्टि, दर्शन अथवा मान्यता है, जो जीवन के मूल्य, महत्त्व और अर्थ को दरकिनार कर मानव-समाज को डंडे से हाँके जानेवाले पशुओं का एक झुंड-मात्र बनाकर छोड़ देती है। जिनका व्यक्ति के मूल्य और महत्त्व में विश्वास है, उन्हें, उसकी रक्षार्थ संघर्ष करना होगा। लेकिन, इस संघर्ष में यदि हमें विजयी होना है तो हमें भलीभाँति समझ लेना चाहिए कि वास्तव में मूल्य और महत्त्व की वह कौन-सी चीज है, जिसकी हमें रक्षा करनी है।

महान् व्यक्तित्व वही है, जो केवल अपने-आप में ही नहीं रहता, वरन् समष्टि को भी अपने में आत्मसात् कर लेता है। एक ओर जहाँ रूस में व्यष्टि (व्यक्ति) को समष्टि के आगे बिलकुल तुच्छ माना गया है, वहाँ दूसरी ओर पश्चिमीय देशों में व्यष्टि अथवा पृथक् व्यक्तित्व को ही विकास का एकमात्र सोपान मान लिया गया है। यह सही है कि व्यक्ति के अहम् को किसी खास दायरे में सीमित नहीं रखा जा सकता। उसके विकास-प्रसार का क्षेत्र तो असीम होना ही चाहिए, लेकिन बुद्धि-विवेक और नैतिकता का धर्म है कि अहम् की खिड़कियाँ यथसंभव खुली रखनी चाहिए। यों तो हम अपनी सन्तान को अपनी परिधि में शामिल करते ही हैं; साथ ही संकट-काल

में मित्र-परिजन और देश को भी उसमें शामिल किये बिना नहीं रह सकते। लेकिन, इतने पर भी हमारी पीड़ा और सहानुभूति का क्षेत्र संकुचित ही रहेगा। और, वह क्षेत्र तभी विस्तृत होगा, जब कि उसी पीड़ा और सहानुभूति की सीमा में हम विश्व को समेट लें, जिसमें अपनी संतान, परिजन या अपने देश को समेटे रहते हैं। और, तभी स्थायी विश्व-शान्ति भी संभव होगी।

मानवीय मूल्य और महत्त्व-सम्बन्धी अपनी धारणाओं को शुद्ध करने के लिए यह स्मरण रखना अपेक्षित है कि पहले मानव की स्थिति क्या थी और आज की उन्नतावस्था तक वह किस प्रकार पहुँचा है। और, इस विषय पर विचार करने से हमें मालूम होता है कि उसकी जीवन-यात्रा बड़ी ही कठिन थी। उन दुर्गम रास्तों से गुजरने के लिए उसके पास एक ही सहारा था—बुद्धि का। धीरे-धीरे उसने अपने बुद्धि-बल से सुरक्षा प्राप्त की और जीवन-यापन की साधन-सामग्री जुटाई। उसने आग का आविष्कार किया; धनुष-बाण बनाये; भाषा की सृष्टि की; पशु-पालन सीखा और अन्त में खेती का रहस्य भी जान लिया। इसके बाद उसने परिवार, झुण्ड आदि में रहना सीखा। फिर उसने बड़ी-बड़ी इमारतें और पिरामिड बनाये; दुनिया का चक्कर लगाया। उसने हवा, पानी और नक्षत्रों का अध्ययन किया। संक्षेप में, पत्थर के औजारों से लेकर अणु-बम और हाइड्रोजन बम तक उसने तैयार किया।

ज्ञान, विज्ञान, यन्त्र और नैतिकता आदि का इतना विकास उन्हीं व्यक्तियों की सूझ-बूझ और अदम्य साहस तथा उत्साह के फलस्वरूप सम्भव हुआ, जिन्होंने अक्सर शेष झुण्ड के विरोध के बावजूद अपनी टेक नहीं छोड़ी। और, यदि समाज को—समष्टि को—आगे बढ़ाना है, जंगम ही नहीं बना डालना है, तो ऐसे व्यक्तियों की सदा आवश्यकता है, और रहेगी, जिन्होंने समष्टिगत विरोध के

बावजूद अपने व्यष्टिगत सत्य का पल्ला नहीं छोड़ा। यदि गोलि-लियों को खत्म कर दिया गया होता, तो इटली में विज्ञान की शव-परीक्षा भी निश्चित ही थी। रूस के जारों की निरंकुशता एवं स्वेच्छाचारिता तो अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी, फिर भी, उन विकट परिस्थितियों में भी उग्र विचारकों और क्रांतिकारियों का आवि-र्भाव हुआ। वैसे ही समय में टाल्सटाय आगे बढ़ा और उसे अपने विचारों के प्रचार की सुविधा-स्वतन्त्रता भी मिली। इसी प्रकार धर्मों के विकास पर भी दृष्टि डालें और फिर विचार करें कि क्या वह विकास किसी भी समग्रतावादी राज्य में संभव था!

इसलिए, यदि हमें अपनी सभ्यता और संस्कृति को कायम रखना है, और मानव-समाज को पशु-समाज नहीं बनाना है तो हमें दो बातों को अनिवार्यतः मानना ही पड़ेगा। पहली बात तो यह कि यदि कुछ व्यक्तियों को आदर्श, कर्त्तव्य, नैतिकता अथवा अपने जाग्रत विवेक की भावना से प्रचलित प्रथाओं में कोई दोष या त्रुटि दिखाई दे, तो उसे बताने, उसे दूर करने के उपाय सुझाने और अपने अनुसार आचरण करने की उन्हें स्वतन्त्रता होनी चाहिए। साथ ही, उनके पड़ोसियों में भी इतनी सहिष्णुता होनी चाहिए कि वे अपने मत के विरोध को सहन कर सकें और अपनी मान्यताओं के प्रतिकूल भी दूसरों को रहने या चलने दें।

इस सम्बन्ध में शिक्षा बहुत कुछ कर सकती है। समूह अथवा झुण्ड-शक्ति की भावना बालकों में बड़ी प्रबल होती है। शायद इसीलिए आगे चलकर जीवन में जो लोग महान् और विशिष्ट हुए हैं, उन्हें स्कूल-जीवन में प्रायः अपने सहपाठियों के दुर्व्यवहार का शिकार होना पड़ा है। लड़कों की इस भावना को शिक्षक ही संयत कर सकते हैं—यद्यपि इस दिशा में अभी वे प्रायः शान्त और निष्क्रिय ही हैं। अक्सर विचारों की संकीर्णता और कट्टरता की जड़

विद्यालयों में ही जमती है। और, इस प्रकार शिक्षा वरदान नहीं होकर अभिशाप बन जाती है। यदि शिक्षा का सही प्रयोग किया जाय तो जो शिक्षा बड़े-से-बड़े तानाशाहों के हाथ का हथियार बन जाती है, वही व्यक्ति-स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए भी सर्वोत्तम साधन बन सकती है।

स्वराज्य, सत्याग्रह और सर्वोदय

'स्वराज्य' का अर्थ है, अपने देश में अपना राज्य; 'सत्याग्रह' का अर्थ है, सच्ची बात तथा सच्चे काम के लिए आग्रह; 'सर्वोदय' का अर्थ है, सब का उदय, सब का भला, सब का उत्कर्ष।

'स्वराज्य' के मंत्रद्रष्टा थे लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक। उन्हीं ने ही हमें यह नारा दिया—'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है; हम इसे लेकर ही रहेंगे।' और, इस ध्येय की प्राप्ति के लिए संघर्ष करने की सत्प्रेरणा दी महात्मा गाँधी ने—सत्याग्रह-जैसा साधन देकर। अतएव, स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व तक यह 'स्वराज्य' शब्द हमारी सत्प्रेरणा का मूल स्रोत बना रहा। महात्मा गाँधी के नेतृत्व में काँग्रेस ने वर्षों तक इसके लिए साधना की, तपस्या की और अब हमें स्वराज्य प्राप्त हुआ है—अपने देश में अपना राज्य प्रतिष्ठित है।

लेकिन, अब हमें कोई दूसरा शब्द चाहिए था, जो हमारे सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन में हमें प्रेरणा दे। ऐसा शब्द है 'सर्वोदय'। यों स्वराज्य का काम भी सर्वोदय के ही अन्तर्गत था; क्योंकि जबतक यह देश दूसरे के पंजे में गुलाम बना हुआ था, तबतक यहाँ सबका उदय होना असंभव ही था। अतः, स्वराज्य

सर्वोदय का प्रथम सोपान था। पश्चात् 'सब का उदय हो'—इस ध्येय को सामने रखकर अपने शिक्षण में, सभ्यता में और नित्य के व्यापार में हमें कार्य करना है।

'सत्याग्रह' और 'सर्वोदय'—इन दोनों महामंत्रों के मंत्रद्रष्टा हैं महात्मा गाँधी। जब गाँधी जी दक्षिण अफ्रीका से हिन्दुस्तान आये, तब 'सत्याग्रह' शब्द साथ लाये। जब वे इस दुनिया से विदा हुए, तब हमारे बीच 'सर्वोदय' शब्द छोड़ गये। गाँधी जी ने अपने जीवन में जो कुछ भी किया, हमें सिखाया, सब का सार 'सर्वोदय' शब्द में निहित है। 'सर्वोदय' हमारा ध्येय है; सत्याग्रह उसकी साधना है; अनासक्ति उसका व्रत है। रस्किन की एक पुस्तक पढ़ते-पढ़ते गाँधी जी को 'सर्वोदय' शब्द सूझा। उन्होंने देखा कि पाश्चात्य देशों ने आदर्श के तौर पर एक सूत्र निकाला है—'अधिक-से-अधिक लोगों का अधिक-से-अधिक हित करना।' यही पश्चिम के लोगों का सामाजिक आदर्श है। ज्यादा-से-ज्यादा लोगों का ज्यादा-से-ज्यादा हित-साधन करना—इससे बढ़कर कौन-सी भलाई हो सकती है! लेकिन, इस सूत्र के मूल में स्वार्थपूर्ण कपट की भावना भरी पड़ी है। इस सूत्र की व्याख्या तो यह भी हो सकती है कि जहाँ बहुतों को लाभ पहुँचता हो, वहाँ थोड़े से दुर्बलों पर अन्याय करने में भी कोई हर्ज नहीं है; बहुसंख्यक के लाभार्थ अल्पसंख्यक दुर्बलों को सताने में कोई पाप नहीं। और, हो भी, तो उसकी कोई शिकायत हो नहीं सकती। लेकिन, पश्चिम की इस व्यावहारिक जीवन-दृष्टि का विरोध करते हुए गाँधी जी ने कहा था कि अधिक-से-अधिक लोगों का नहीं, बल्कि सबका—बिना किसी अपवाद के सबका—भला, सबका उदय, सबका उत्कर्ष ही हमारा आदर्श होना चाहिए। यही सर्वोदय की कल्पना है।

'सर्वोदय' की कल्पना हमारे प्राचीन ग्रंथों में भी मिलती है। ऋषि गाते हैं—'सर्वे नः सुखिनः संतु।' यहाँ 'सर्व' शब्द में मात्र मानव-समाज का ही समावेश नहीं है, प्रत्युत् उन जानवरों को भी सम्मिलित कर लिया गया है, जिन्हें मनुष्य ने अपने कुटुम्ब का ही एक अंग मान लिया था। सब प्राणियों को तो हम अपने कुटुम्ब में स्थान दे नहीं सकते थे। जिनका उपयोग हम कर सकते हैं, उनकी ही रक्षा की चिन्ता हम कर सकते हैं। हम गायों और बैलों का उपयोग करते हैं; अतएव, मानव ने उन्हें अपने कुटुम्ब में स्थान दिया है। तभी तो ऋषि गाते हैं—'शंनो अस्तु द्विपादो:, शंनो अस्तु चतुष्पादो:'—दो पाँव वालों का और चार पाँव वालों का (मनुष्य और गो वंश का) भला हो। इस प्रकार हम देखते हैं कि सर्वोदय की जीवन-दृष्टि की बुनियाद में विश्व-कुटुम्ब-भाव है—'वसुधैव कुटुम्बकम्'।

अब प्रश्न है कि सर्वोदय के ध्येय को हम किस तरह सिद्ध करें, इसके आदर्श को व्यवहार में कैसे लावें। इसकी कसौटी यही है कि जो सब से छोटा है, सब से पिछड़ा हुआ है; अज्ञानी, दुर्बल, उपेक्षित और पददलित है, उसकी ओर हम अधिक ध्यान दें। उसी को आगे लाने का सर्वप्रथम प्रयास होना चाहिए। अगर हम अपने हृदय को विशाल करके सबको अपनाना सीखें, तो सर्वोदय की सारी बातें आप-से-आप हमारे हृदय में उपज जायँगी। कुटुम्ब में सबसे बड़े भाई को कहते हैं अग्रज और सब से छोटे को अंत्यज। आज हिन्दू समाज में अग्रज कहते हैं ब्राह्मण को और अंत्यज हरिजनों को। जिस तरह घर में बड़ा भाई अपने सबसे छोटे भाई को प्यार से बुलाता है; खाते-पीते और आनन्द मनाते समय छोटे भाई को प्यार से पहले याद करता है और हर तरह के कष्टों में उसकी सहायता करता रहता है, उसी प्रकार अपने को उच्च वर्ण का माननेवाले

लोग यदि हरिजनों को अपना समझ कर उनको आगे बढ़ायेंगे तो सर्वोदय का सिद्धांत सामाजिक क्षेत्रों में संस्थापित हो जायगा।

सर्वोदय की बुनियाद में जब कुटुम्ब-भाव है, तब उसकी भावना में जाति, वर्ण, वर्ग या वंश का भेद-भाव भी नहीं है। विश्व में जितने भी लोग हैं, सब एक ही भगवान् की संतान हैं, एक ही घोंसले के परिन्दे हैं। अगर इन में सच्चा प्रेम-भाव कायम रहे, तो एक के दुख से दूसरा सुखी नहीं हो सकेगा; एक के अज्ञान का लाभ दूसरा नहीं उठायगा। हिंसा, कपट, स्वार्थ और धोखा तो वहीं चलता है, जहाँ हृदय में अपनेपन की एकता नहीं है। हृदय का आदान-प्रदान, सुख-दुख की बातें कहना-पूछना, एक दूसरे के घर पर खाना-खिलाना—आत्मीयता के, प्रीति के ये छः लक्षण बताये गये हैं। हम जहाँ भी जायँ, यदि इस प्रेम-धर्म का पालन करते रहें, तो कहीं भी संघर्ष के लिए जगह ही नहीं रहेगी। अतएव, अपने को बड़ा और दूसरे को छोटा या तुच्छ समझना सर्वोदय-वृत्ति का द्रोह है। जाति-भेद और वर्ण-भेद सर्वोदय के वायुमंडल में गल जाते हैं। जहाँ मानवता का धर्म आया, वहाँ बाकी सब धर्म उसमें समा जाते हैं। हमारे समाज में हरिजन जातियों के साथ जो अन्याय हो रहा है, उसकी ओर लोगों का ध्यान अब समुचित रूप से खींच गया है। वैधानिक दृष्टि से भी अब अस्पृश्यता दूर हो ही गई। अतः, थोड़ा भी हृदय-परिवर्तन हो जाने से अस्पृश्यता आज नहीं तो कल दूर होकर ही रहेगी—इसमें जरा भी संदेह नहीं। अब हमें आदिम जातियों की ओर भी ध्यान देना चाहिए। वे अस्पृश्य तो नहीं मानी जातीं, लेकिन हैं वे बहिष्कृत ही। हम उन्हें अपने समाज से बाहर रखे हुए हैं। प्रगति की आशा तो वे बिलकुल छोड़ बैठी हैं। उनके बीच जाकर रहना, सेवा तथा

सहानुभूति द्वारा उन्हें अपनाना, उन्हें हर प्रकार की जीवन-कला सिखाना—यह भी सर्वोदय का प्रमुख कार्य है।

जब प्रेम-शक्ति क्षीण होती है, आत्मीयता नष्ट होती है; तब स्वार्थ बढ़ता है, ऐश-आराम ही सब से अच्छा लगता है। दूसरों को दबा कर रखने को जी चाहता है। इसीसे सब झगड़े और युद्ध पैदा होते हैं। अतएव, सादगी से रहना, परिश्रम से मुँह नहीं मोड़ना, स्वावलंबन और स्वाश्रय से जीवन बिताना, आस-पास के सब लोगों से हिल-मिल जाना, जिनकी सेवा लेते है, उनके उद्धार के लिए हमेशा प्रयत्न करते रहना और संयम को चारित्र्य की बुनियाद समझकर वासना पर विजय पाना—यही सर्वोदय की साधना है। किसी पर भी अन्याय होता हो, तो हमारा ही अन्याय है, ऐसा समझ कर अन्याय-निवारण के लिए कटिबद्ध रहना—यह भी सर्वोदय का ही एक महत्त्व का पहलू है। सर्वोदय बाह्य नियम-विधानों की ओर ध्यान नहीं देता। आन्तरिक परिवर्तन, हृदय-शुद्धि और हृदय-समृद्धि का ही यह ख्याल रखता है; क्योंकि जिसके हृदय में विश्व बंधुत्व की भावना आ गई, वह सब तरह से अच्छे विधानों का दिल से पाबंद हो जाता है। उसे कोई भय या लोभ कभी डिगा नहीं सकता। सर्वोदय ही सत्ययुग है, स्वराज्य है और यही गाँधी जी का रामराज्य भी है।

सारे विश्व की दशा पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अब हम एकांगी प्रगति कर ही नहीं सकते। एक वर्ग, एक वर्ण या एक जाति अगर अपने ही स्वार्थ पर विचार करे तो वह सब के प्रति सब से बड़ा द्रोह है। अगर हमें धार्मिकता बढ़ानी है तो सब धर्मों को समझना होगा। उनमें जो मुख्य-मुख्य बातें हैं, वे सर्वत्र एक-सी होती हैं। उनको स्वीकार करना होगा। सब धर्म सच्चे हैं, सब धर्म अच्छे और सब धर्म मेरे हैं, यह वृत्ति है

सर्वोदय की। सर्व धर्म-सम-भाव को मान लिया तो, उसमें से सर्व धर्म-सम-भाव पैदा हो ही जाता है। तभी तो सर्वोदय का पालन करने के लिए ही सर्व-सेवा-संघ की प्रतिष्ठा की गई है। अगर हम सेवा करने निकलें, तो हमें सब की सेवा करनी चाहिए। और, सेवा भी जीवन के एक भाग को नहीं, समग्र जीवन की ही हो सकती है। सेवा करनेवाले सब मिलकर, सब तरह के लोगों की सेवा और वह भी सब तरह की सेवा करें, यही सर्वोदय का आदर्श है।

हम सभी एक-दूसरे के उद्धार के लिए, एक-दूसरे से बँधे हुए हैं। हम सब एक-दूसरे के हैं। हमारी जिम्मेदारी बँट नहीं सकती, यही है सर्वोदय का ज्ञान। संक्षेप में, सर्वोदय का अर्थ है यथा-प्रमाण वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन के सभी पहलुओं का उदय, यानी उत्कर्ष। और, इसी सर्वोदय की दृष्टि से जो समाज-रचना करनी है, उसका प्रारंभ हमे अपने ही जीवन के परिवर्तन से करना है; क्योंकि जो निज का उद्धार करता है, वही संसार के उद्धार का रास्ता खोल देता है।

कुटीर-शिल्प और ग्रामीण उद्योग-धन्धे

स्वराज्य का सच्चा अर्थ यह है कि जन-साधारण की आर्थिक स्थिति में सुधार हो; उनकी रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठे, उनका जीवन स्वस्थ और सुखी रहे। यह तभी सम्भव है, जब कि देश का औद्योगिक विकास हो। और, भारत-जैसा कृषि-प्रधान एवं गाँवों का देश औद्योगिक प्रगति के पथ पर उसी दशा में अग्रसर हो सकता है, जब कि यहाँ उद्योगों का विकेन्द्रीकरण हो और कुटीर-शिल्पों

तथा ग्रामीण उद्योगों की ओर समुचित रूप से ध्यान दिया जाय। तभी तो, राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने जब स्वराज्य-प्राप्ति के लिए राजनीतिक आन्दोलन का नेतृत्व ग्रहण किया, तब इसके साथ-साथ कुटीर-उद्योगों की समस्या को भी हल करने के लिए रचनात्मक कार्य-क्रम के कार्यान्वयन पर विशेष रूप से ध्यान दिया। उनका तो यहाँ तक कहना था कि सत्य और अहिंसा का वास्तविक स्वरूप केवल कुटीर-उद्योगों में ही प्राप्त हो सकता है। मशीनों द्वारा बड़े पैमाने पर उत्पादित वस्तुओं के सम्बन्ध में उनका कथन था कि केन्द्रित उद्योगों के अन्तर्गत हमारा जीवन अधिकाधिक हिंसा और असत्य की ओर जाता है

अर्थशास्त्र का यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि अर्थोपार्जन का मूल साधन श्रम है; लेकिन जब से यन्त्र-युग का प्रारम्भ हुआ और लाखों-लाख श्रमिकों की श्रम-शक्ति का, बड़े-बड़े कारखानों में, केन्द्रीकरण होने लगा तब श्रम और अर्थ के बीच पूँजी का मात्र विकास ही नहीं हुआ, बल्कि इसने अपना महत्त्वपूर्ण स्थान भी बना लिया। फलतः पूँजी-प्रधान बड़े-बड़े उद्योगों के चलते श्रम का विशेष लाभ पूँजी को ही मिलने लगा, जिसके कारण एक ओर तो मूल पूँजी के आश्रय में अधिकाधिक धन-संचय होना प्रारम्भ हुआ और दूसरी ओर श्रमिकों को शोषित बनकर सर्वहारा बनने को बाध्य होना पड़ा। जिन देशों में श्रम का अभाव और पूँजी का प्राधान्य रहा, वहाँ की आर्थिक स्थिति को संतुलित करने में तो यंत्र-संचालित विशालकाय उद्योगों ने पूरी सहायता पहुँचाई; किन्तु जिन देशों में श्रम की प्रचुरता एवं पूँजी की स्वल्पता रही, वहाँ के लिए ऐसे उद्योग अभिशाप ही सिद्ध हुए। हमारा देश भी इन्हीं स्वल्प पूँजीवाले देशों में एक है। अतएव, इस देश के लिए भी उद्योगों का केन्द्रीकरण अभिशाप ही है।

लेकिन, हमारे देश में कुछ लोगों के दिमाग में यह धारणा बैठ गई है कि यहाँ जो भीमकाय कल-कारखाने हैं और नये-नये कारखाने खुलते जा रहे हैं, उनके समक्ष कुटीर-उद्योगों का विकास कतई सम्भव नहीं है। लेकिन, यह सबसे बड़ी गलत धारणा है। आज संसार के सबसे अधिक धनी देशों में अमेरिका का नाम सर्वप्रथम है। वहाँ भी लगभग १४ प्रतिशत कारबार छोटे-मोटे पैमानों पर ही चलते हैं और इन छोटी-मोटी संस्थाओं में प्रायः ५० प्रतिशत श्रमिक काम करते हैं। इसी प्रकार ब्रिटेन, जर्मनी, जापान, तुर्की, स्विटजरलैंड आदि देशों में भी लगभग ३० से ५० प्रतिशत व्यक्ति कुटीर-उद्योगों और छोटे-छोटे धन्धों पर अपना निर्वाह करते हैं। स्विटजरलैंड में तो घड़ी बनाने का उद्योग भी कुटीर-शिल्प के ही अंतर्गत आता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जब कि उद्योग-प्रधान देशों में भी वहाँ की उन्नति तथा आर्थिक सम्पन्नता मात्र बड़े-बड़े कारखानों पर ही निर्भर नहीं रहती, बल्कि वहाँ के छोटे-छोटे गृह-उद्योगों का भी देश को सुखी और संपन्न बनाने में पर्याप्त योग-दान है, तब भारत जैसे कृषि-प्रधान देश में कुटीर-उद्योगों के विकास से क्यों नहीं देश संपन्न और समृद्धिशाली होगा? यहाँ तो ८० प्रतिशत मनुष्य खेती पर ही अपना निर्वाह करते और गाँवों में ही वास करते हैं। अतएव, यहाँ की आर्थिक स्थिति में सुधार लाने के लिए कुटीर-उद्योग ही सर्वोत्तम साधन हो सकते हैं।

कुटीर-उद्योगों के सम्बन्ध में दूसरी आपत्ति यह है कि क्या गाँवों में रहनेवाले कुटीर-उद्योगों द्वारा प्रस्तुत अपने माल की खपत करने में बड़े-बड़े कारखानों में बने माल से प्रतियोगिता कर सकेंगे? क्या कुटीर-उद्योग हमारी समस्त आवश्यकताएँ पूरी करने में समर्थ हो सकेंगे? लेकिन इस आपत्ति में भी कोई तथ्य नहीं है, क्योंकि कुटीर-उद्योग ही अधिक-से-अधिक लोगों को काम देकर देश की

बढ़ती हुई बेकारी की विकराल समस्या को हल करने में कारगर सिद्ध हो सकते हैं; और वे काम भी ऐसे ही दे सकते हैं, जिनमें कम-से-कम खर्च करने पर मिलनेवाले श्रम और कला का भलीभाँति उपयोग हो सके; साथ ही, उनके द्वारा प्रस्तुत की गई वस्तुओं से जन-साधारण की अधिक-से-अधिक आवश्यकताएँ भी पूरी हों सकें। बड़े-बड़े कारखानों से बड़े पैमाने पर प्रस्तुत किये गये माल से गिने-चुने शोषक पूँजीपतियों को मालोमाल होने का अवसर भले ही मिलता रहे, मगर साधारण जनता की श्रीवृद्धि कतई संभव नहीं है। उद्योगों के विकेन्द्रीकरण से ही समाज की आर्थिक विषमता का अन्त संभव है।

कुटीर-उद्योगों के विरोध में एक यह भी आपत्ति है कि कुटीर-उद्योगों द्वारा प्रस्तुत सामान की कीमत अधिक होती है। यह विवाद भी निस्सार है। बाजारों में बिकनेवाले भोजन से घर में माँ के द्वारा तैयार किये गये भोजन का मूल्य आँकना कहाँ की बुद्धिमत्ता है ? जो लोग सस्ती दर के लोभ में पड़कर अर्थात् चमक-दमक के फेरे में पड़कर ढेंकी के कुटे चावल तथा चक्की द्वारा पीसे गये आँटे की उपेक्षा कर कल के चावल-आँटे का व्यवहार करते हैं, वे चावल-आँटे को खरीदते समय भले ही दस-पाँच रुपये बचा लेते हैं; लेकिन पीछे चलकर, अपने स्वास्थ्य को बिगाड़ कर, दवा-दारू में जितने रुपये फूँक देते हैं, उनका हिसाब लगाने पर क्या ढेंकी के चावल तथा चक्की के आँटे की कीमत अधिक जँचती है ? दूसरे, मशीनों द्वारा एक ही स्थान पर अधिक-से-अधिक माल तैयार करने का अर्थ होता है पूँजी का एक स्थान पर एकत्र हो जाना, जो आगे चलकर किसी भी देश की श्रीवृद्धि के लिए घातक है। गृह-उद्योगों द्वारा प्रस्तुत माल की ऊँची कीमत का अर्थ होता है कि लोहार, बढ़ई, कुम्हार आदि शिल्पकारों को अधिक मजदूरी मिले,

जिससे कि वे अपनी आवश्यक वस्तुओं—यथा; वस्त्र, खाद्य-पदार्थ आदि—के लिए ऊँची कीमत देने में समर्थ हों। इस तरह कुल उत्पादित पूँजी अच्छी कीमतों के साथ कुटीर-उद्योगों के क्षेत्र में ही चक्कर लगाती रहती है; बशर्त्ते कि शोषण की मनोवृत्ति रखनेवाला कोई व्यक्ति और कोई आर्थिक इकाई दाल-भात में मूसलचन्द की तरह इन उद्योगों के बीच में न टपक पड़े।

कुटीर-उद्योग हमारे देश के राष्ट्रीय धर्म की वृद्धि में किस हद तक उपयोगी हो सकते हैं, इसका एक दृष्टांत राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद के शब्दों में सुनें। उन्हों ने लिखा है कि "देश में करोड़ों ताड़ और खजूर के पेड़ यों ही खड़े हैं। अगर इनका उपयोग किया जाय, तो बहुत अधिक चीनी-गुड़ बन सकता है। इन पेड़ों से जो रस निकाला जाता है, वह लाभदायक गुड़ के बदले ताड़ी के रूप में ही खर्च हो जाता है। केवल बिहार में ही जितने ताड़ के पेड़ हैं, अगर उन सब का गुड़ के काम में इस्तमाल किया जाय तो उनसे इतनी चीनी तैयार हो सकती है, जितनी आज बिहार के सभी कारखाने तैयार करते हैं। चीनी के कारखानों से अधिक आदमियों को ताड़ के रस से चीनी बनाने के कुटीर-उद्योगों में काम मिलेगा। फिर तो बिना किसी जमीन को फँसाये ही उतनी ही चीनी देश को मिल जायगी।" स्पष्ट है कि इस उद्योग के विकास से लाखों एकड़ जमीन में हम ईख के बदले खाद्यान्न पैदा कर देश की खाद्य-समस्या को हल करने में भी बहुत दूर तक सफल हो सकते हैं।

इसमें संदेह नहीं कि हमारे देश में कुटीर-शिल्प ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के रूप में, किसी जमाने में पूर्ण विकसित थे, लेकिन ब्रिटिश राज्य-काल में इंगलैंड के कारखानों के बने माल का बाजार बनाने की स्वार्थपूर्ण नीति के कार्यान्वयन के सिलसिले में यहाँ के वस्त्र, आदि के उद्योगों को बेरहमी के साथ नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया।

लेकिन, प्रसन्नता की बात है कि स्वतंत्र भारत ने कुटीर-उद्योगों को प्रोत्साहन देना प्रारंभ कर दिया है; फिर भी, यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि देश की सरकार तथा जनता का, जैसा चाहिए वैसा, सहयोग अबतक भी कुटीर-उद्योगों को नहीं प्राप्त हो रहा है। यद्यपि द्वितीय पंचवर्षीय योजना में कुटीर-शिल्पों तथा लघु गृह-उद्योगों के विकास को स्थान दिया गया है, लेकिन आवश्यकता है कि इस दिशा में जनता का सहयोग प्राप्त कर क्रांतिकारी कदम उठाया जाय। अतएव, यदि हम ग्रामीणों द्वारा अर्जित धन को उन्हीं के बीच रहने देने के सिद्धांत के कायल हैं तो हमें कुटीर-शिल्पों तथा उद्योगों को उन्नत और विकसित रूप देने तथा उन्हें ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के मेरुदंड के रूप में पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए निम्न-लिखित बातों पर ध्यान देना परमावश्यक है—

(१) **कच्चा माल :** कच्चे माल की प्राप्ति का प्रबंध समुचित रूप से होना चाहिए; क्योंकि कच्चे माल की शृंखला कुटीर-उद्योगों के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्रायः ऐसा देखा गया है कि कच्चे माल के अभाव से कितने ही गृह-उद्योग आप से आप नष्ट हो गये हैं। और, इसकी ठीक-ठीक व्यवस्था तभी हो सकती है, यदि सरकार इसकी पूरी जिम्मेवारी ले ले।

(२) **खपत :** कुटीर-उद्योगों द्वारा प्रस्तुत माल की खपत के लिए ऐसी जीवित योजना होनी चाहिए, जिसमें पूँजी का बराबर विनिमय होता रहे। कुटीर-उद्योगों के माल के उपयोग के लिए लोगों में निष्ठा की भावना जाग्रत की जानी चाहिए। बाहर से आने वाले माल पर रोक होनी चाहिए और कुटीर-उद्योगों द्वारा प्रस्तुत माल को बाजार में अधिक-से-अधिक स्थान देना चाहिए। सरकार को चाहिए कि कुटीर-उद्योगों द्वारा प्रस्तुत माल को बाजार में अधिक-से-अधिक स्थान देने की व्यवस्था करे। सरकार को यह भी चाहिए कि

कुटीर-उद्योगों के माल के आवागमन के लिए किराये-भाड़े में रियायत करे, जिससे वे अधिक मँहगे नहीं पड़ें। यातायात की पूरी सुविधा मिलनी चाहिए। प्रदर्शनियों आदि का संगठन कर सरकार कुटीर-उद्योगों के बने माल की उपयोगिता का प्रचार भी करे।

(३) **श्रम संगठन और पूँजी :** गाँव-गाँव में संभव कुटीर-उद्योगों को भली भाँति संगठित करना भी एक मुख्य कार्य है, जिससे कि परस्पर मेल और श्रम का आदान-प्रदान होता रहे। उद्योगों में लगे लोगों के श्रम की मर्यादा का अनुभव कर उन्हें समाज में आदर की दृष्टि से देखना चाहिए। निर्धन एवं साधनहीन शिल्पकारों के संगठन तथा कुटीर शिल्प-उद्योगों को विकसित करने के निमित्त आवश्यक पूँजी की व्यवस्था भी करने की आवश्यकता है। पूँजी की प्राप्ति के लिए माल की बिक्री की सुसंगठित व्यवस्था होनी चाहिए।

उपर्युक्त तीनों समस्याओं का निदान यही है कि सरकारी नियंत्रण में प्रत्येक उद्योग के लिए विधिवत सुदृढ़ सहयोग-समितियों का संगठन किया जाय। सरकार सहयोगद्वारा कुटीर-शिल्पों के विविध अंगों के संबंध में उनके उत्पादनों, औजारों और विधियों के नवीनतम अनुसंधान और वैज्ञानिक गवेषणा की समुचित व्यवस्था आसानी के साथ करा सकती है। आवश्यकता पड़ने पर इन्हीं समितियों के द्वारा सरकार नवीन औजारों तथा कच्चे माल को खरीदने के लिए सुलभ ऋण भी बेखटके दे सकती है। हैंडलूम वीभर्स एसोसियेशन, अखिल भारतीय ग्रामोद्योग-संघ, अखिल भारतीय चर्खा संघ आदि अनेक ऐसी संगठित संस्थाएँ हैं, जो इस दिशा में अच्छा काम कर रही हैं; इन्हें आर्थिक अनुदान, ऋण आदि देकर प्रोत्साहित करने में सरकार को दत्तचित्त रहना चाहिए।

भारत के सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्र-वेत्ता डा० राधाकमल मुखर्जी के कथनानुसार संपूर्ण देश में १ करोड़ ४० लाख मनुष्य कुटीर-शिल्प-संबंधी औद्योगिक कार्यों में लगे हैं तथा ५० लाख व्यक्तियों द्वारा हाथ-करघे का उद्योग चलाया जाता है। यह आँकड़ा दस साल का पुराना है। निश्चय ही हाल के कुछ वर्षों में इस क्षेत्र में जैसी प्रगति हुई, उसे ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि आजकल दो करोड़ से भी अधिक व्यक्ति कुटीर-उद्योगों से अपना निर्वाह कर रहे हैं। और, हमारा विश्वास है कि यदि इस ओर सरकार तथा जनता का उत्साहवर्द्धक सहयोग मिले तो कुटीर-शिल्प-उद्योगों के पूर्ण विकसित होने के साथ-साथ देश में बेकारी की समस्या भी हल हो जाय और भारत एक संपन्न देश के रूप में दुनिया के परदे पर चमक उठे।

भारत का आर्थिक नव-निर्माण

आर्थिक दृष्टि से भारत का नव-निर्माण किस आधार पर किया जाय—इस संबंध में सारे देश को यह आदर्श मान्य है कि समाजवाद की आधार-शिला पर प्रतिष्ठित समाजवादी ढाँचे पर ही भारतीय अर्थ-व्यवस्था के भावी स्वरूप का निर्माण होना चाहिए। और, भारत इसी आदर्श को व्यावहारिक रूप देने की ओर कदम भी उठा चुका है। यों सिद्धांत के रूप में हम कह सकते हैं कि उत्पादन की वृद्धि तथा समान रूप से उसके वितरण की व्यवस्था के दृष्टिकोण से उत्पादन के साधनों पर राज्य का पूर्ण नियंत्रण या स्वामित्व स्थापित करना ही समाजवादी व्यवस्था है। और, भारत इसी ध्येय

तक पहुँचने को आज कटिबद्ध है। तभी तो सन् १९५६ की लोक-सभा के ग्रीष्मकालीन अधिवेशन में जो कम्पनी-एक्ट स्वीकृत किया गया, उसमें कम्पनियों की व्यवस्था या प्रबंध पर ही विशेष रूप से ध्यान दिया गया है, जिससे कि प्रायवेट कंपनियाँ नियंत्रण में रहें—उत्पादन में भी वृद्धि हो और वितरण में धाँधली नहीं हो। निश्चय ही, अबतक निजी उद्योगों को समाप्तप्राय करने की नीति नहीं अपनाई गई है। और, जब निजी उद्योगों को चालू रहने दिया जाता है, तब उन्हें चंद सीमाओं के अंतर्गत मुक्त रूप से कार्य करने की भी छूट मिलनी ही चाहिए। हाँ, वे अच्छी तरह चलते रहें—इसके लिए उन पर आवश्यक नियंत्रण अवश्य रहेंगे।

इसी प्रकार, समाजवादी अर्थ-व्यवस्था को ही ध्येय मानकर द्वितीय पंचवर्षीय योजना के प्रस्तुतकारण में पूरी सतर्कता से काम लिया गया है। फिर भी, कुछ लोगों को ऐसी आशंका हो रही है कि समाज के समाजवादी स्वरूप का निश्चित रूप से अर्थ है—अर्थोत्पादन के साधनों पर एकदलीय शासन-तंत्र का नियंत्रण। यह भी आशंका की जाती है कि उद्योगों के राष्ट्रीयकरण की नीति को अपनाने की यह एक प्रणाली है। साथ ही, कुछ व्यावसायिक क्षेत्रों में यह आशंका की जा रही है कि समाज को समाजवादी ढाँचे में ढालने का अभिप्राय है उद्योग के क्षेत्र में वैयक्तिक उद्यम तथा नेतृत्व का अंत कर देना। अतएव, हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम समाज के समाजवादी स्वरूप के यथार्थ अभिप्राय को समझें।

सर्व प्रथम, हम निजी उद्योगों के राष्ट्रीयकरण करने की आशंका पर विचार करें। इस संबंध में हमें कुछ मौलिक तथ्यों की ओर दृष्टिपात करना होगा। हमारी राष्ट्रीय आय अभी दस से लेकर ग्यारह हजार करोड़ तक की है, जिसमें प्रायः ७५ प्रतिशत आय कृषि के उत्पादन तथा ग्रामीण उद्योगों एवं कुटीर-शिल्पों से आती

है। ऐसी परिस्थिति में, सारे उद्योगों के पूर्णरूपेण राष्ट्रीयकरण से न तो समाज के समाजवादी स्वरूप की कल्पना ही सार्थक हो सकती है और न कृषि के क्षेत्र में ऐसा करना संभव ही है, जो अकेला प्रायः पाँच हजार करोड़ की वार्षिक आय का साधन है। भारत में औसत निकालने पर प्रति जन प्रायः '८ एकड़ जमीन पड़ती है। इस '८ एकड़ जमीन के राष्ट्रीयकरण की बात सोचने का तात्पर्य है इसके स्वामित्व का सारा उत्तरदायित्व सँभालना, जिसे कोई भी शासन-यंत्र सँभाल नहीं सकता। जब सरकार उत्पादन के किसी साधन का राष्ट्रीयकरण करता है, तब उस साधन से निर्वाह करनेवाले व्यक्तियों को जीविका देने का उत्तरदायित्व लेना भी सरकार का नैतिक कर्त्तव्य हो जाता है। हमारे देश में कृषि की भूमि उत्पादन का सबसे बड़ा साधन है, और देश की प्रायः ७५ प्रतिशत जनसंख्या कृषि पर ही निर्भर है। अतएव, कृषि-उद्योग के राष्ट्रीयकरण के साथ ही इतनी बड़ी जन-संख्या के सारे उत्तरदायित्व का बोझ सीधे सरकार के सिर आ पड़ता है। रेशम, ऊन, लाह, ताड़-गुड़ आदि के गृह-उद्योगों तथा कुटीर-शिल्पों के राष्ट्रीयकरण से भी इन उद्योगों में लगे लोगों का भार सँभालना एक जटिल समस्या है। इसलिए, द्वितीय पंचवर्षीय योजना में ऐसे औद्योगिक क्षेत्रों के राष्ट्रीयकरण की बात नहीं आती, जहाँ छोटे पैमाने पर उत्पादन-कर्त्ता खट रहे हैं, जहाँ व्यक्तिगत रूप से किसान अपनी खेती सँभाल रहे हैं, जहाँ उद्योग-पति अपने लक्ष्य की पूर्त्ति में सचाई से दत्त-चित्त हैं। हाँ, इन सब के साथ यह शर्त्त अवश्य है कि प्रत्येक उत्पादक को समाज के समाजवादी स्वरूप के अनुकूल बनना पड़ेगा—चाहे वह बड़ा उद्योग-पति हो, छोटा किसान हो या छोटा उत्पादक हो।

अब हमें एकदलीय नियंत्रण के प्रश्न पर विचार करना है। यह तो मानी हुई बात है कि भारत लोकतंत्र का कायल है। यहाँ

के संविधान के दृष्टिकोण से भी यह संभव नहीं है कि कोई एक दल राज्य की प्रभुत्व शक्ति पर अधिकार स्थापित कर विशुद्ध एकदलीय शासनतंत्र की प्रतिष्ठा कर सके। साथ ही, हमारे संविधान का स्पष्ट ध्येय है कि भारत में समाजवादी व्यवस्था की प्रतिष्ठा हो। हाँ, साम्यवाद के आदर्श पर ऐसी व्यवस्था का निर्माण करना निश्चय ही हमारा उद्देश्य नहीं है। हम सुविस्तृत सहयोग-शिला के आधार पर ही साम्यवाद के भवन का निर्माण करना चाहते हैं। और, सहयोग-मूलक व्यवहार निरंकुशवादी हो नहीं सकता। तीसरी आशंका यह है कि बड़े-बड़े उद्योगों पर अत्यधिक नियंत्रण हो जाने से बड़े-बड़े उद्योग-पति अपने साहसिक प्रयत्नों से जी चुराने लगेंगे। लेकिन, पूँजीपतियों को यह विश्वास होना चाहिए कि जब तक सरकार का यह लक्ष्य रहेगा कि उत्पादन अधिक-से-अधिक बढ़े, तब तक वह उद्योगपतियों के साहसिक प्रयत्नों में क्यों हस्तक्षेप करेगी ? हाँ, ऐसी शर्त्त अवश्य लग सकती है जिससे कि शोषण की कम-से-कम गुंजाइश रहे।

अब हम मुख्य विषय पर आते हैं। हमारी जमीन की होल्डिंग की औसत माप है ·८ एकड़। अगर हम अमेरिका या यूरोप के किसानों की होल्डिंगों से इसकी तुलना करें तो हमें भारत तथा उन देशों के किसानों के जीवन के मापदंड में जो अन्तर है, उसका कारण स्पष्ट दृष्टिगोचर हो जायगा। गणना के आधार पर बताया गया है कि हमारी राष्ट्रीय आय प्रतिजन २८०) रु० से २६०) रु० तक वार्षिक है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना की अर्थ-व्यवस्था के अंतर्गत यह आशा की गई है कि ८-१० वर्ष तक में यह आय दुगुनी हो जायगी। ढाई सौ से पाँच सौ रुपये तक आय की वृद्धि करना कोई असंभव कार्य नहीं है। और, तब प्रति किसान की औसत आय २००) रुपये से ३००) रुपये तक मजे में हो जाती है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में निहित अर्थ-व्यवस्था के संबंध में सत्ताधारी राजनीतिक दल के प्रधान श्री यू० एन० ढेबर ने कहा है कि समाज के समाजवादी ढाँचे की प्रथम अवस्था है—सामान्य मानव आवश्यकताओं की संतुष्टि। और, यदि लोकतंत्र एक विवेक-पूर्ण अवधि तक इतना भी नहीं कर सके तो मात्र लोकतंत्रात्मक सरकार ही अधः पतित नहीं होगी, बल्कि स्वतः लोकतंत्र का प्रयोग भी असफल हो जायगा। अतएव, मात्र वैयक्तिक आवश्यकताओं की संतुष्टि के ही दृष्टिकोण से नहीं, बल्कि इस दृष्टि से भी कि हमें भारत में लोकतंत्र के प्रयोग को सफल करना है—हमें अपनी भावी अर्थ-व्यवस्था की परिशंसा करनी है। अगर भारत में लोकतंत्र असफल सिद्ध होता है, तो इसका सारे एशिया से भी नाम-निशान मिट जाता है। इसलिए, यह आवश्यक है कि जनता की अतीव आवश्यक आवश्यकताओ को संतुष्ट करने के साथ-साथ लोकतंत्र के इस प्रयोग को भी कार्यान्वित किया जाय। अतएव, हमारी आर्थिक योजना का इस तरह निर्माण हो कि जनता का जीवन-स्तर ऊँचा उठे; साथ ही, देश की लंबी अवधि में पूरे किये जानेवाले उद्देश्यों की ओर भी देश अग्रसर हो सके।

अध्यापक महालानोबिस द्वारा प्रस्तुत तथा कुछ सुधार के साथ भारतीय सरकार द्वारा अङ्गीकृत द्वितीय पंचवर्षीय योजना में इन्हीं दोनों बातों पर जोर दिया गया है। एक ओर तो इस योजना के अन्तर्गत लोहा, कोयला, रासायनिक पदार्थ-जैसे मूलभूत अनुप्राणक उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर उन्हें इस अवस्था तक पहुँचा देना है कि पश्चात् पंचवर्षीय योजनाओं की तैयारी के समय तक देश अधिकाधिक व्यय, उत्पादन, समाज-सेवा आदि को संपन्न करने में अपने को समर्थ बना सके। दूसरी ओर, लाखों बेकारों को काम देने की जटिलतम समस्याओं के हल के लिए कुटीर-शिल्पों तथा गृह-उद्योगों

का भी विस्तार करना है। जनता के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के साथ-साथ कम से कम ५ प्रतिशत भी राष्ट्रीय आय की वृद्धि करना इस योजना का लक्ष्य है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना को कार्यान्वित करने की दिशा में सब से जटिल समस्या अर्थ की है। इसकी सफलता के लिए लगभग ४५० करोड़ रुपये चाहिए। इसके लिए जनता तथा सरकार, दोनों के सहयोग द्वारा दो रास्ते सोचे गये हैं—एक तो नये कर लगाकर, दूसरा, बचत के जरिये। सत्ताधारी दल के प्रधान श्री यू० एन० ढेबर का कथन है कि नये कर लगाने की गुंजाइश निकाली जा सकती है, मगर लोकमत को क्षुब्ध करके नहीं। जनता का भी यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि अपने देश के आर्थिक नव-निर्माण में वह सद्भावनापूर्वक नये कर को अदा करे। इसी प्रकार, मितिव्ययिता के सहारे भी बचत करने की भी पूरी गुंजाइश है। बचा कर रखने का यह अभिप्राय नहीं है कि सर्वसाधारण अपने सामान्य व्यय में काँट-छाँट करे। हाँ, हमारे बहुत से ऐसे भी काम होते हैं, जो समाज-विरोधी है। ऐसे कामों के व्यय को कम कर लोग बहुत-कुछ बचत कर सकते हैं। आज करोड़ों रुपयों के आभूषण व्यर्थ ही करोड़ों की पूँजी को घेरे हुए हैं; श्राद्ध आदि के कामों में जो व्यर्थ का व्यय हो जाता है, उसे भी नियंत्रित किया जा सकता है। और, समाज के आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए जन-साधारण में बचत की भावना तभी जाग्रत हो सकती है, जब कि राष्ट्रीयता एवं देशभक्ति की भावना लोगों में जगाई जाय।

समाजवादी अर्थव्यवस्था की सफलता की एक जबर्दस्त बाधा है शहरी और देहाती क्षेत्रों के आर्थिक स्तर में विषमता का होना। अतएव, आर्थिक नव-निर्माण के लिए ग्रामीण जनता को भी वे ही सुविधाएँ मिलनी चाहिए, जो शहरों के निवासियों को उपलब्ध हैं।

आर्थिक क्षेत्र में यह सामाजिक विषमता संपूर्ण समाज को ही प्रभावित कर रहा है। अतएव, आर्थिक पक्ष के नव-निर्माण के साथ ही सामाजिक पक्ष की भी अवहेलना नहीं करनी होगी।

जो हो, हमारे देश की शासन-व्यवस्था की ओर से, समाजवादी अर्थ-व्यवस्था के आधार पर, समाज के नव-निर्माण का द्वितीय पंच-वर्षीय योजना के कार्यान्वियन के द्वारा श्रीगणेश कर दिया गया है। लेकिन, इसमें समय लगेगा। चीन को ऐसी व्यवथा लाने में तीस वर्ष लगा है, जब कि वहाँ विरोधी राजनीतिक दल नहीं है, एक-दलीय शासन संगठित है। लेकिन, भारत को तो निरंकुश-तंत्र का सहारा लिये बिना ही समाजवादी व्यवस्था लानी है। यहाँ देशी रजवाड़ों तथा जमीन्दारियों की समस्याएँ जन-सहयोग के ही बल पर हल कर ली गई हैं, जो हमारे आर्थिक नव-निर्वाण के लिए जबर्दस्त बाधाएँ थीं। इसी प्रकार की शान्तिमय क्रांति के द्वारा—जनता के सहयोग से—भारत अपना आर्थिक नव-निर्माण भी पंचशील का ही सहारा लेकर संपन्न कर लेगा।

प्रथम पंचवर्षीय योजना

किसी भी स्वतंत्र देश की उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि उसके सामने आगे आनेवाले दिनों का एक सुस्पष्ट चित्र हो और उसके सारे साधन तथा शक्तियाँ उस चित्र के अनुसार सर्वतोमुखी उन्नति में लग जायँ। इसी सिद्धांत को ध्यान में रखकर मार्च, १९५० में भारत-सरकार ने, जन-जीवन के स्तर को ऊँचा उठाने और उसके लिए अधिक आरामदेह व्यापक जीवन के उपयुक्त अवसर प्रदान करने के अभिप्राय से, एक कमीशन की स्थापना की। जुलाई,

१९५१ में उस कमीशन ने अप्रेल, १९५१ से मार्च, १९५६ तक के लिए एक पंचवर्षीय विकास-योजना का प्रारूप प्रस्तुत किया, जो बाद में आवश्यक सुधार-संशोधन के साथ संसद् द्वारा स्वीकृत हुआ। यह योजना देश के आर्थिक विकास की ओर पहला सुदृढ़ कदम थी, जिसका प्रधान उद्देश्य था—आर्थिक नव-निर्माण। उसके मुख्य उद्देश्यों को मोटे तौर से हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं—(१) उत्पादन-वृद्धि, (२) बेकारी की समस्या का समाधान और आर्थिक असमानताओं को कम करना।

इस योजना के कार्यान्वियन में सरकार द्वारा अप्रेल, १९५१ से मार्च, १९५६ तक २,०६९ करोड़ रुपये व्यय करने का निश्चय किया गया, जिसका व्योरा यों है :

विषय	(करोड़ रुपयों में)	प्रतिदिन
कृषि और सामुदायिक विकास	३६१	१७·५
सिंचाई (लघु सिंचाई-योजना)	१६८	८·१
सिंचाई और विद्युत् योजनाएँ	२६६	१२·९
विद्युत्-शक्ति	१२७	६·१
परिवहन और संवाद-वहन	४९७	२४·०
उद्योग	१७३	८·४
सामाजिक सेवाएँ	३४०	१६·४
पुनर्आवास	८५	४·१
अन्य व्यय	५२	२·५

मार्च, १९५६ में इस योजना की अवधि समाप्त हो गई। सारे देश में इसके कार्यान्वयन में सरकार ने बड़ी मुस्तैदी दिखाई और जनता ने भी सहयोग दिया; लेकिन सरकारी संचालकों ने जन-सहयोग की प्रायः उपेक्षा ही की, जिससे योजना को जैसी सफलता मिलनी चाहिए, वैसी नहीं मिल पाई। फिर भी, जितना व्यय कृता

गया था, सरकार ने उससे अधिक ही व्यय किया। प्रत्येक क्षेत्र में उत्पादन की मात्रा में वृद्धि हुई, जिसका थोड़ा-बहुत प्रभाव देश की आर्थिक स्थिति पर भी अवश्य पड़ा। बेकारी की समस्या भी कुछ अंशों में, प्रायमरी शिक्षकों की नियुक्ति आदि के द्वारा, हल करने की कोशिश हुई, मगर इस दिशा में अधिक सफलता नहीं मिल पाई। आर्थिक असमानताओं को दूर करने की दिशा में भी आंशिक सफलता प्राप्त हुई और राष्ट्रीय आय की भी थोड़ी बहुत वृद्धि हुई। कुल व्यय २०६६ करोड़ रुपये के बदले २३२५·१ करोड़ रुपये हुआ, जिसका ब्योरा यों है—

मदें	व्यय (करोड़ रुपयों में)	प्रतिशत
कृषि और सामुदायिक निवास	३७२·५	१६·०
सिंचाई और विद्युत्-शक्ति	६५३·५	२८·१
परिवहन और संवाद-वहन	५५७·६	२४·०
उद्योग	१७६·६	७·७
सामाजिक सेवाएँ	३७६·६	१६·२
पुनर्आवास	१२६·७	५·६
अन्य व्यय	५५५·१	२·४
	२३२५·१	१००

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ मूल योजना में मात्र ८५ करोड़ विविध व्यय कूता गया था, वहाँ ५५५.१ करोड़ रुपये इस मद में व्यय किया गया और यह निश्चित है कि इस व्यय से विकास के काम में विशेष वृद्धि नहीं हुई होगी। हाँ, कृषि, सिंचाई तथा विद्युत्-शक्ति में कुल मिलाकर जो संपूर्ण व्यय का ४४.१ प्रतिशत व्यय किया गया, उसकी सार्थकता भी प्रत्यक्ष देखी जा रही है। कृषि की उत्पादन-वृद्धि में आशातीत सफलता मिली है। गत कुछ

वर्षों से कृषि-उत्पादन की स्थिति संतोषजनक रही है। बाहर से आनेवाले अन्नों की मात्रा में पर्याप्त कमी हुई है।

योजना में खाद्यान्नों के उत्पादन में १४ प्रतिशत वृद्धि का अनुमान किया गया था; लगभग इतनी ही प्रतिशत वृद्धि हुई भी। रूई के उत्पादन में जहाँ ४२ प्रतिशत वृद्धि की आशा की गई थी, वहाँ ५० प्रतिशत की वृद्धि हुई है। फलत; बाहर से आनेवाले अन्नों की मात्रा में काफी कमी हुई है; साथ ही, विदेशों को भेजे जानेवाले द्रव्यों की मात्रा में भी काफी कमी देखी जा रही है। योजना की अवधि में, नहरों आदि के विस्तार तथा उत्तम बीज, खाद आदि के प्रयोग द्वारा खाद्यान्नों की वृद्धि करने में पर्याप्त सहायता मिली है। खाद्यान्नों की कीमतों में भी प्राय; स्थिरता आ गई है और इनके वितरण पर से नियंत्रण भी हटा लिया गया है। योजना के अंतर्गत कई छोटी-बड़ी नदी-घाटी-योजनाओं तथा बहुमुखी योजनाओं को भी कार्यान्वित किया गया है, जिनके चलते सभी क्षेत्र विकासोन्मुख दृष्टिगोचर हो रहे हैं। कृषि के ही अंतर्गत सामुदायिक विकास-योजनाएँ बड़ी ही लोकप्रिय रहीं।

औद्योगिक क्षेत्रों में भी संतोषजनक उन्नति हुई है। इस योजना के अंतर्गत ऐसा सोचा गया था कि औद्योगिक उत्पादनों की पर्याप्त वृद्धि किये बिना उद्योगी-करण से देश का आर्थिक विकास नहीं किया जा सकता है। इसी हेतु कृषि के बाद उद्योग-धन्धों को ही प्रमुखता मिली। औद्योगिक उत्पादनों के आँकड़ों को देखने से पता चलता है कि जहाँ योजना के कार्यान्वयन के प्रथम वर्ष में वस्त्रोत्पादन ४३,००० लाख गज था, वहाँ सन् १९५५ में यह ५६,००० लाख तक पहुँच चुका है। योजना-पूर्व जहाँ प्रतिजन वस्त्र का औसत उपयोग १३ गज था, वहाँ अब वह बढ़कर १५ गज हो गया है। सन् १९५१ में ७,८०० लाख-गज भारतीय वस्त्र विदेशों

को भेजा गया था, जब कि सन् १९५४ में ८,३४० लाख गज भेजा गया। पाकिस्तान के अलग हो जाने से जूट के उत्पादन में जो ह्रास हुआ था, उसकी पूर्त्ति का प्रयास इस योजना में किया गया। फलस्वरूप, जहाँ सन् १९५०-५१ में जूट का उत्पादन ८,०५० लाख टन था, वहाँ सन् १९५४-५५ में बढ़कर ९०६८ लाख टन तक पहुँच गया। लोहे आदि के उत्पादनों की वृद्धि में भी बहुत-कुछ सफलता मिली है। औद्योगिक-क्षेत्र के विकास के साथ-साथ अन्य क्षेत्रों के निर्माण-कार्य के विस्तार को ही दृष्टि में रखकर द्वितीय पंचवर्षीय योजना में सरकार लोहा, कोयला आदि मुख्य उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करने का निश्चय कर चुकी है, जिससे कि उत्पादन तथा वितरण पर संयत रूप से नियंत्रण किया जा सके। प्रथम पंचवर्षीय योजना के ही अंतर्गत चितरंजन में रेलवे इंजिन तथा पारम्बुर में रेलवे डब्बे बनाने के कारखाने खुले हैं। सिंदरी में रासायनिक खाद बनाने के कारखाने का भी विस्तार किया गया है। कोयला, सीमेंट आदि खनिज द्रव्यों की उत्पादन-वृद्धि में बड़ी मुस्तैदी दिखाई गई है।

बेकारी की समस्या के समाधान में योजना के अंतर्गत जो काम हुआ, उसे संतोषजनक तो नहीं कहा जा सकता; फिर भी, इस दिशा में यथासंभव प्रयास अवश्य किया गया है। यों तो प्रारंभिक शिक्षा का विस्तार कर हजारों नये शिक्षकों की नियुक्ति कर के पढ़े-लिखे बेकारों को जीविका देने की कोशिश अवश्य की गई, मगर बेकारों की बढ़ती हुई संख्या के सामने ये नियुक्तियाँ नगण्य ही रहीं। और, जब तक कुटीर-शिल्पों तथा गृह-उद्योगों का सारे देश में जाल नहीं बिछा दिया जायगा तथा टेकनिकल स्कूलों की आशातीत वृद्धि नहीं की जायगी, तब तक बेकारी की समस्या का समाधान संभव भी नहीं।

योजना-काल में, उत्पादन की वृद्धि के अनुमात में, राष्ट्रीय आय की भी स्वभावत वृद्धि हुई है और उसी अनुपात में प्रतिजन आय की भी वृद्धि हुई है ; पर यह वृद्धि व्यावहारिक दृष्टिकोण से लाभप्रद नहीं हुई है, क्योंकि उपभोक्ताओं की उपभोग-शक्ति में अधिक वृद्धि नहीं हो पाई है। इधर प्रतिजन औसत आय में वृद्धि हुई, उधर कृषि के उत्पादनों की कीमत में कमी होने के साथ-साथ अन्य उपभोग्य वस्तुओं की कीमत में वृद्धि हो गई। और, इसी कारण योजना-काल में आय की असमानता में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ ; साथ ही, उत्पादन के अनुपात में वितरण का भी संतुलन बना नहीं रह सका।

जो हो, इन त्रुटियों के बावजूद भी प्रथम पंचवर्षीय योजना ने देश को इस आर्थिक स्थिति में अवश्य पहुँचा दिया है कि इन्हीं त्रुटियों को दृष्टि में रखकर जो द्वितीय पंचवर्षीय योजना प्रस्तुत हुई है, उसके कार्यान्वयन का मार्ग अधिक प्रशस्त हो गया है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना

प्रत्येक पंचवर्षीय योजना राष्ट्र के सर्वतोमुखी विकास के एक सोपान का संकेत करता है। वह ध्येय और उद्देश्य, कार्य-क्रम और लक्ष्य एवं नीति और अनुदेश—इन सभी बातों की विचार-सारिणी की समन्वित रूपरेखा हमारे सामने प्रस्तुत करती है, जिन्हें एक निर्धारित अवधि में संपन्न कर लेना चाहिए। अतएव, योजना में विद्यमान आर्थिक तथा सामाजिक वातावरण के साथ-साथ राष्ट्र के भविष्य की उज्ज्वल अभिलाषा का, अनिवार्य रूप से, आभास

मिलना चाहिए। संक्षेप में, पंचवर्षीय योजना आशाओं तथा अभिलाषाओं से ओत-प्रोत होकर वर्तमान और भविष्य के बीच एक सुदृढ़ संतुलन स्थापित करती है। लेकिन, योजना में निहित समस्याएँ तथा उनके निराकरण की दिशा में किये जानेवाले कार्य-कलाप यथार्थ जीवन में प्रायः पेंचीदे हो जाते हैं; इसलिए, कोई भी स्पष्ट-से-स्पष्ट योजना परिवर्तनों की दिशा निर्धारित करने तथा ऐसा ढाँचा प्रस्तुत करने के अतिरिक्त और कुछ अधिक नहीं कर पाती, जिसके अंतर्गत विभिन्न महत्त्वपूर्ण कार्य संपन्न किये जाते हैं। अतएव, योजना के गतिशील होते ही उसमें समय-समय पर सुधार करने की गुंजाइश रखना अनिवार्य हो जाता है। और, द्वितीय पंचवर्षीय योजना के निर्माण के पीछे इस बात का ध्यान रखा गया है कि इसके उद्देश्यों की पूर्त्ति की दिशा में इसका साभिप्राय, मगर लचीले ढंग से कार्यान्वयन हो।

उद्देश्य : द्वितीय पंचवर्षीय योजना के, मोटे तौर से, निम्नलिखित मुख्य उद्देश्य हैं—(१) राष्ट्रीय आय की वृद्धि, जिससे कि देश का जीवन-स्तर ऊँचा उठे; (२) मूलभूत एवं विशालकाय उद्योगों के विकास पर विशेष रूप से जोर देते हुए द्रुत गति से उद्योगीकरण; (३) जीविका-प्राप्ति या भृत्तियों के अवसरों का दीर्घ विस्तार और (४) आय एवं अर्थ और इससे भी अधिक आर्थिक शक्ति के वितरण में असमानताओं को कम करना।

यों तो ये उद्देश्य विशेष रूप से विकास के आर्थिक पहलुओं की ओर ही संकेत करते हैं; लेकिन, ये अन्य ऐसे उद्देश्यों को भी अभिलक्षित करते हैं, जो सामाजिक एवं संस्था-संबन्धी विकास से भी घनिष्ठतापूर्वक संबंधित हैं और जिन्हें मोटे तौर से निम्नलिखित पृथक् उद्देश्यों के रूप में भी बताया जा सकता है—(१) सामुदायिक स्वामित्व तथा नियंत्रण एवं सहयोगात्मक कार्यान्वयन पर जोर डालते

हुए उत्पादन-प्रणाली का पुनर्संगठन करना ; (२) समुदाय या समाज के निम्नतर या दुर्बलतर वर्गों की भृत्ति, आय तथा जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना ; (३) देश के सभी भागों के संतुलित विकास को स्थिर करना ; (४) तीव्र गतिशील विकास की आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए लोक-तंत्र की आधार-शिला पर प्रशासन की प्रणाली का पुनर्संगठन करना तथा (५) सभी नागरिकों के लिए प्रभावोत्पादक समानता का अवसर सुस्थिर करना।

उपर्युक्त उद्देश्यों में अवश्य ही कुछ ऐसे हैं, जिनकी अधिकांशतः प्राप्ति दूसरों की अपेक्षा कम समय में हो सकती है, लेकिन सभी उद्देश्य, एक दूसरे से, निकटतम रूप से आबद्ध हैं। आय, उत्पादन-शीलता, बचत और उपभोग के निम्न-स्तर अविकसित अर्थ-व्यवस्था की ओर संकेत करते हैं। इनके विकास की समस्याओं के निराकरण के लिए लंबी अवधि चाहिए। योजना की अनेक अवधियों तक उत्साहवर्द्धक कार्य करते रहने पर तथा समाज की क्रियाशीलताओं तथा साधनों के सावधानतापूर्वक संरक्षण से ही इन दिशाओं में प्रशंसनीय प्रगति हो सकती है। और, प्रत्येक पंचवार्षिक अवधि इस विकास-पथ की एक एक मंजिल बन सकती है। एक योजना की सफलता आनेवाली दूसरी बृहत्तर योजना के लिए पृष्ठभूमि प्रस्तुत कर देती है। किसी एक भी मंजिल पर असफलता मिलने से देश को जितना पीछे हटना चाहिए, उससे कहीं ज्यादा पीछे हटना पड़ता है। इसलिए, अल्प अवधि में कुछ चुने हुए क्षेत्रों में देखी जानेवाली कुछ सफलताओं की अपेक्षा योजना के संपूर्ण स्वरूप की सभी शाखाओं में विकास की नित्यता तथा संतुलित एवं अबाधित प्रगतिशीलता कहीं अधिक महत्त्व रखती है।

निर्दिष्टि : उपर्युक्त विचारों को ध्यान में रखकर हमें देखना है कि द्वितीय पंचवर्षीय योजना में जो आकार-प्रकार तथा लक्ष्य

अंगीकृत किये गये हैं, वे प्रथम योजना की अपेक्षा बृहत्तर हैं या नहीं। यह तो स्पष्ट है कि जितनी ज्यादा समस्याओं का निराकरण करना है तथा जितनी आवश्यकताएँ पूरी करनी हैं, उन्हें दृष्टि में रखने पर वे सारे लक्ष्य अपेक्षाकृत बहुत छोटे दीख पड़ते हैं, जिन्हें कुछ ही वर्षों में प्राप्त कर लेने में हम समर्थ हो सकते हैं। फिर भी, प्रथम तथा द्वितीय योजनाओं के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पहली की अपेक्षा दूसरी योजना कहीं अधिक विस्तृत और बड़ी है। दोनों योजनाओं में सार्वजनिक क्षेत्र तथा निजी क्षेत्र के विकास के लिए कार्यक्रम हैं। प्रथम योजना में, सार्वजनिक क्षेत्र में, प्रारंभ में, २,०६९ करोड़ रुपये व्यय करने का अनुमान किया गया था। लेकिन, इसके कार्यान्वयनके सिलसिले में, व्यय की यह रकम बढ़कर २, ३५६ करोड़ रुपये तक पहुँच गई। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में इससे दूनी रकम, यानी ४,८०० करोड़ रुपये व्यय करने की व्यवस्था की गई है। इसी प्रकार, निजी क्षेत्र में जहाँ प्रथम योजना में १,६०० करोड़ रुपये व्यय किये गये, वहाँ द्वितीय योजना में २,४०० करोड़ रुपये व्यय करने की आशा प्रगट की गई है। यह अनुमान किया जाता है कि चंद चालू व्यय को छोड़कर प्रथम योजना में कुल लागत की रकम ३,१०० करोड़ रुपये तक पहुँची, जब कि द्वितीय योजना के लिए लागत की रकम का लक्ष्य ६,२०० करोड़ तक पहुँच जाता है।

प्रथम और द्वितीय योजना में, सार्वजनिक क्षेत्र के कार्य-क्रम में, विकास के विभिन्न क्षेत्रों के मध्य व्यय के वितरण का हिसाब लगाने पर पता चलता है कि कृषि, सिंचाई, विद्युत्-शक्ति-जैसे क्षेत्रों में, जिनमें प्रथम योजना में खासी बड़ी रकम खर्च की गई, बड़े पैमाने पर प्रगति के लिए प्रयास को जारी रखने के लिए, उद्योग-जैसे क्षेत्रों की अपेक्षा कम ही रकम को जोड़ने की आवश्यकता प्रतीत

हुई; क्योंकि उद्योग के क्षेत्र में विकास के जिस मंजिल तक पहुँचने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है, वह हमारे आर्थिक इतिहास में अभूतपूर्व कहा जा सकता है। नीचे आँकड़ों की एक सारिणी दे दी जाती है, जिससे दोनों योजनाओं के तुलनात्मक अध्ययन में सहायता मिल सकती है—

व्यय के वितरण का विवरण

मद	प्रथम पंचवर्षीय योजना करोड़ में रु०–प्रतिशत		द्वितीय पंचवर्षीय योजना करोड़ में रु०–प्रतिशत	
कृषि और सामुदायिक विकास-क्षेत्र	३५७	१५·१	५६८	११·८
सिचाई और विद्युत्-शक्ति	६६१	२८·१	६१३	१९·०
उद्योग और खनिज	१७९	७·६	८९०	१८·५
परिवहन, संवादवहन	५५७	२३·६	१,३८५	२८·९
शिक्षा, सामाजिक-सेवाएँ	५५३	२२·६	९४५	१९·७
विविध	६९	३·०	९९	२·१

प्रथम योजना की समाप्ति पर जितना व्यय हुआ, उसीकी पृष्ठभूमि पर द्वितीय योजना के आकार-प्रकार का निर्धारण किया गया है। और, इसके लिए साधनों को जुटाने का सामान रूप से प्रयास करना सरकार तथा जनता का भी महान् कर्त्तव्य हो जाता है। अनुमान लगाया गया है कि अतिरिक्त करों के द्वारा ८५० करोड़ रुपये, ऋण तथा लघु बचत से १,२०० रुपये और विदेशी विनिमय के साधनों से ८00 करोड़ रुपये आ सकते हैं; फिर भी यदि विकास-योजनाओं के कार्यान्वयन के सिलसिले में ८00 करोड़ रुपये तक जुटा लेने का अन्दाज कर लिया जाय तो भी लगभग १,२00 करोड़ रुपये और भी जुटाने की जटिल समस्या सुलझानी ही पड़ेगी।

व्यय के इन आँकड़ों के दुहरे महत्त्व हैं; पहला अभ्यंतर पक्ष में यह कि ये कम-से कम लक्ष्य हैं, जिनकी प्राप्ति योजना-काल में जितना शीघ्र हो सके, उतना ही योजना की सफलता के लिए लाभ-प्रद है। और, दूसरा यह कि आनुभाविक व्यय तथा कार्य की प्रति वर्ष समीक्षा होती रहनी चाहिए और अर्थ-व्यवस्था की परिवर्तित अवस्थाओं तथा योजना की कार्यान्विति की प्रगति के अनुरूप व्यय का भी समाधान होते रहना चाहिए। यहाँ इस बात पर जोर डालने की आवश्यकता है कि विकास के लिए जो साधन होते हैं, वे एक-सा स्थिर रहनेवाले नहीं होते हैं; कार्य की प्रगतिशीलता के साथ ही उनमें वृद्धि होती जाती है। अतएव, जितनी ही तीव्र गति से विकास के क्षेत्र में कार्यान्वयन होगा, उतने ही आवश्यकता के साधन जुटते जायँगे। अतएव, द्वितीय पंचवर्षीय योजना में प्रारंभ के दो-एक वर्षों के लिए कार्यों में ऐसी तीव्रता तथा तत्परता की सृष्टि करने कि आवश्यकता है, जिससे कि घाटे की रकम योजना से ही प्राप्त हो सके।

राष्ट्रीय आय : प्रथम पंचवर्षीय योजना में ११ प्रतिशत राष्ट्रीय की वृद्धि की अपेक्षा की गई थी, जब कि वह १८ प्रतिशत बढ़ी। परन्तु जनसंख्या की वृद्धि के कारण प्रतिजन ११ प्रतिशत ही आय की वृद्धि हो सकी। द्वितीय पंचवर्षीय योजना की समाप्ति तक ऐसी आशा की गई है कि राष्ट्रीय आय २५ प्रतिशत तथा प्रतिजन आय १८ प्रतिशत तक बढ़ जायगी। इस प्रकार सन् १९५०-५१ से १९६०-६१ की दस वर्ष की अवधि में ४८ प्रतिशत तक राष्ट्रीय आय की वृद्धि हो जानी चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि राष्ट्रीय आय की वृद्धि के साथ-साथ बेकारी के समस्या का भी निराकरण होता जायगा। ऐसा अनुमान किया जाता है कि अगले पाँच-छः वर्षों में श्रम-शक्ति एक करोड़ तक बढ़ जा सकती है। विकास-योजना के

अन्तर्गत कम-से-कम इतने लोगों को तो काम पाने का अवसर मिलना ही चाहिए। देश में बेकारों या आंशिक रूप से काम करनेवालों की संख्या का ठीक-ठीक अन्दाज लगाना भी कठिन है। हाँ, योजना-कमीशन का अनुमान है कि द्वितीय पंचवर्षीय योजना के कार्यारंभ के समय शहरी क्षेत्रों में बेकारों की संख्या २५ लाख तथा ग्रामीण क्षेत्रों में २८ लाख तक कूती जा सकती है। इसी आनुमानिक संख्या को लक्ष्य कर योजना में, कृषि-क्षेत्र के बहिर्गत, योजना के सफल कार्यान्वियन के फलस्वरूप, ८० लाख व्यक्तियों के लिए अतिरिक्त काम देने की स्थिति उत्पन्न की जा सकती है। कृषि के क्षेत्र में अतिरिक्त कार्य की स्थिति किस हद तक उत्पन्न की जा सकती है—यह अन्दाज करना बिल्कुल कठिन है। ऐसा सोचा जाता है कि जितने अतिरिक्त कार्यों की स्थिति उत्पन्न की जाने की आशा की गई है, वे १६ लाख व्यक्तियों के लिए पूरे समय के कार्य हैं। दूसरे शब्दों में, २६ लाख बेकारों को काम देने की व्यवस्था की जा सकती है। अतएव, यह स्पष्ट है कि द्वितीय पंचवर्षीय योजना की अवधि में एक करोड़ अतिरिक्त कार्यों की स्थिति उत्पन्न करने की व्यवस्था की गई है।

उद्योग : द्वितीय पंचवर्षीय योजना में उद्योग को सर्वाधिक महत्त्व का स्थान दिया गया है। यद्यपि कृषि, सिंचाई, विद्युत्-शक्ति, यहाँ तक कि यातायात-जैसे अन्य क्षेत्रों का पूर्ण आकार-प्रकार अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत है; लेकिन प्रथम पंचवर्षीय योजना में इन क्षेत्रों में जितना विकास किया जा चुका है या और भी जितने विकास-कार्य प्रारम्भ किये गये हैं उन्हीं के स्वाभाविक विकास के कार्यों का ये विस्तृत क्षेत्र द्वितीय योजना में प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। उद्योग के क्षेत्र में एक ऐसे औद्योगिक स्वरूप को विकसित करने का ध्येय रखा गया है, जिसमें एक ओर तो मूलभूत तथा विशालकाय उद्योगों

का और दूसरी ओर छोटे-छोटे तथा ग्रामीण उद्योगों का विकास करना है। आशा की गई है कि जहाँ सन् १९५५-५६ में औद्योगिक उत्पादन का सूचनांक १३० है, वहाँ सन् १९६०-६१ में यह अंक १९४ तक पहुँच जायगा। बड़े-बड़े उद्योगों में सरकार की ओर से धन-विनियोग होगा या सार्वजनिक पूँजी लगाई जायगी तथा खनिज उद्योगों में ६९० करोड़ तक की पूँजी सरकार लगायगी और ५७५ करोड़ तक की पूँजी निजी उद्योगपतियों की रहेगी। कुटीर-शिल्पों तथा ग्रामीण उद्योगों के विस्तार तथा संगठन के लिए २०० करोड़ रुपये व्यय किये जायँगे। हैंडलूम, खादी, रेशम, नारियल की रस्सी बनाना, हस्तकला—इन सब गृह-उद्योगों को विशेष रूप से प्रोत्साहन मिलेगा।

सभी प्रकार के उद्योगों के विकास के लिए यह आवश्यक है कि उनके लिए कच्चा माल मिलने की सुविधा प्रदान की जाय और उनमें तैयार होनेवाले माल का यथोचित वितरण हो सके। इन दोनो बातों के लिए यातायात का विकास करना परमावश्यक है। द्वितीय योजना में, सड़क-निर्माण में २४५ करोड़ और स्टीमर-यातायात के विकास में ४८ करोड़ रुपये व्यय करने की व्यवस्था की गई है। रेलवे के विकास के लिए रेलवे मूल्यापकर्ष कोष से २२५ करोड़ रुपये तो व्यय किये ही जायँगे; साथ ही, ९०० करोड़ रुपये और भी सरकारी कोष से लगाये जायँगे।

ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था : ऐसे देश में, जहाँ सत्तर प्रतिशत से भी अधिक व्यक्ति कृषि-उत्पादन पर ही निर्भर रहते हैं, यह स्वाभाविक है कि उत्पादन-वृद्धि की दिशा में ही सर्वाधिक प्रयास किया जाय। इस क्षेत्र में प्रथम पंचवर्षीय योजना में उत्साहवर्द्धक सफलता मिली है। कृषि-उत्पादन के सूचनांक का चढ़ाव-उतार निम्नलिखित आँकड़ों से स्पष्ट हो जाता है—सन् १९५२-५३ में सूचनांक था

१०२, जब कि १९५३-५४ में सूचनांक ११४ रहा। इसके बाद सन् १९५५-५६ तक उत्पादन का सूचनांक ११२ और ११८ के बीच में चक्कर काटता रहा। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में सन् १९५५-५६ के कृषि के उत्पादन-स्तर को औसत १७.४ प्रतिशत तक बढ़ा देने की आशा प्रकट की गई है—खाद्यान्नों में १५ प्रतिशत, तेलहन में २७ प्रतिशत, गन्ने में २२ प्रतिशत, कपास में २२ प्रतिशत और जूट में ३१ प्रतिशत वृद्धि की जायगी।

योजना के निर्माताओं ने यह अनुभव किया है कि समाज-सेवाओं के पर्याप्त विस्तार के बिना यह आशा नहीं की जा सकती है कि बहुसंख्यक लोगों को समानता का अवसर प्राप्त हो सके। सामाजिक सेवाओं के लिए, क्षुधार्त्त समुदाय में, स्वभावतः प्रगतिशील सामाजिक व्यवस्था के अनिवार्य तत्त्वों का अभाव पाया जाता है। लेकिन, इसके साथ यह भी अनुभव किया जा रहा है कि दुर्बल अर्थ-व्यवस्था की आधार-शिला पर समाज-सेवाओं के अत्यन्त प्रारम्भिक स्वरूप का ही निर्माण सम्भव है। इसलिए, अर्थ-व्यवस्था की दुर्बलता को नष्ट करने के अभिप्राय से, द्वितीय योजना में ऐसी चेष्टा रहेगी कि स्थानीय सामुदायिक साधनों तथा स्थानीय सामुदायिक प्रयत्नों द्वारा ही सार्वजनिक साधनों का उपयोग हो। दृष्टांत के लिए, १४ वर्ष की उम्र तक के बालकों के लिए निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करने का जो संविधान में निर्देश है, उसकी पूर्त्ति के लिए यही प्रशस्त मार्ग हो सकता है। द्वितीय योजना की समाप्ति तक ६६ प्रतिशत बालकों के लिए अनिवार्य और निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था सम्भव हो जाती है। और, तृतीय योजना की समाप्ति तक इस ध्येय की प्राप्ति भी हो जाती है।

उपसंहार : शहरी और देहाती, दोनों क्षेत्रों में स्थानीय समुदायों को संगठित कर उन्हें इस तरह सत्प्रेरित किया जाना चाहिए, जिससे

कि ये द्वितीय पंचवर्षीय योजना में निहित अधिकांश महत्त्व के कार्यों के संपन्न करने का भार उत्साहपूर्वक अपने ऊपर लेने में समर्थ हो सकें। और, ऐसा होना निम्नलिखित बातों पर निर्भर करता है—गाँव-गाँव तथा जिले-जिले में योजना का स्वरूप आकर्षक तथा प्रेरणामूलक हो; सामुदायिक विकास परियोजनाओं तथा राष्ट्रीय सेवा-विस्तार खण्डों की स्थापना के कार्यक्रम का विस्तार हो; सर्वत्र सहयोगात्मक विकास का जाल बिछा दिया जाय; जिला-स्तर पर तथा शहरों एवं गाँवों तक में भी प्रशासन का लोकतंत्रात्मक ढंग पर पुनर्संगठन हो; अधिक से अधिक लोगों के सहयोग को प्राप्त कर उन्हें विकास के कार्य में लग जाने को उत्प्रेरित किया जाय; नागरिक जीवन को स्वस्थ तथा संयत बनाने के लिए नगर-निर्माण की योजना को बुद्धिमत्तापूर्वक कार्यान्वित किया जाय। द्वितीय योजना में इन सब बातों की ओर विशेष रूप से ध्यान देने का निर्देश है।

राज्य, व्यक्ति तथा स्थानीय समुदाय—इन तीनों में प्रत्येक को उचित अनुपात में अधिकार मिले; प्रत्येक का स्वतन्त्र मूल्य कूता जाय; प्रत्येक को स्वतन्त्र 'दरजा दिया जाय और सामान्य उद्देश्यों तथा आदर्शों की उपलब्धि के लिए प्रत्येक से उतनी सेवा ली जाय, जितनी उसके हिस्से में पड़ती हो। सुदृढ़ तथा सुविस्तृत अर्थ-व्यवस्था की आधार-शिला पर अखंड लोकतांत्रिक समाज-रूपी भवन के निर्माण में ये तीनों एक दूसरे के परिपूरक तत्त्व हैं। और, इसमें संदेह नहीं कि यदि राज्य, समाज और व्यक्ति—तीनों के सहयोग से द्वितीय योजना को आशातीत सफलता मिली तो तृतीय योजना की समाप्ति तक देश में समाजवादी लोकतंत्रात्मक समाज की स्थापना होकर रहेगी, इसमें सन्देह नहीं।

भू-नीति की विविध अवधारणाएँ

किसी भी युग में, किसी भी देश में, मात्र वस्तुगत शर्त्तों के ही द्वारा नहीं, बल्कि देश, काल की प्रचलित विचार-धारा के द्वारा भी भूमि सम्बन्धी नीति का निर्धारण किया जाता रहा है। यहाँ इन नीतियों में से कुछ के विषय में प्रकाश डालने का प्रयास किया जायगा।

मूल रूप में तो भूमि प्रकृति का स्वेच्छा दान है। लेकिन, यह विभिन्न प्रयोगों के निमित्त, श्रम तथा पूँजी के विशाल विनियोग के द्वारा, रूपांतरण का शिकार होती आ रही है। और, तब यह उत्पादन या उपयोग के लिए, एक निर्मूल्य अभिकर्त्री के रूप में अपना अस्तित्व खो देती है। विनियोग या लागत लगाने की इसी आवश्यकता के फलस्वरूप प्रारम्भिक सामुदायिक भू-स्वामित्व से निजी सम्पत्ति के रूप में व्यक्तिगत भू-स्वामित्व का विकास हुआ। अतएव, जिस प्रकार श्रम के सहारे अन्य चल सम्पत्तियों का निजी सम्पत्ति के रूप में संस्कार हुआ, उसी प्रकार भूमि का भी निजी सम्पत्ति के रूप में परिष्कार किया गया।

आदि-साम्यवादी समाज के स्थान पर, पारस्परिक दायित्वों के आधार पर, एक अमूर्त सामाजिक संगठन के रूप में, राज्य के आकस्मिक अवतरण के फलस्वरूप भूमि-प्रणाली के विकास में एक ऐसी शक्तिशाली गैर-आर्थिक समस्या आ उपस्थित हुई, जिसने आर्थिक विकास के मार्ग को पूर्णतः परिवर्तित कर दिया। यहाँ पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि यह मान लेना कि चल, चाहे अचल सम्पत्ति के विकास के ही फलस्वरूप राज्य का अवतरण हुआ है— निपट हठधर्म है। जैसा कि हमें अभिज्ञता है, अधिकांश राज्य परान्नभोजी या लूट-खसोट करनेवाली संस्थाओं के ही रूप में, पहले-पहल, अस्तित्व में आये हैं और सम्पत्ति-संस्थाओं के विकास का जितना

जबर्दस्त कारण आर्थिक शक्तियाँ है, उतना ही जबर्दस्त कारण राजनीतिक शोषण-वृत्तियाँ भी हैं। अतएव, भूमि-स्वामित्व के सामन्त-तन्त्र को प्रतिष्ठा राजनीतिक कारणों से ही हुई थी। यहाँ तक कि यूनानी लोकतन्त्र में भी कृषि-प्रणाली का शोषणात्मक रूप ही लक्षित होता है, जहाँ—विशेषकर स्पार्टा में—जमीन जोतनेवाले उतने भी अधिकारों का उपभोग नहीं कर पाते थे, जितनेका उपभोग मध्ययुग के कृषि-दास करते थे।

हाँ, कभी-कभी भूमि को सुधार कर कृषि के योग्य बनानेवाले जन-समूहों और परिवारों को नष्टप्राय करने में सामान्य राजनीतिक प्रवृत्तियों का पृष्ठपेषण आर्थिक समस्याएँ भी कर देती हैं। प्रकृति की ईति-भीति के चलते, वर्तमान काल तक भी, कृषि के लिए किये जानेवाले श्रम के फल संदेहात्मक ही बने हुए हैं। यही कारण है कि अबतक व्यावसायिक, खनिज-सम्बन्धी तथा औद्योगिक कार्यों की तुलना में कृषि-कार्य सामान्यतः छोटे पैमाने पर ही कार्यान्वित होते आ रहे थे। और, इसीलिए, प्रायः ऐसा देखा जा रहा है कि कृषि-कार्य में लगे हुए परिवार द्रव्य के धनी लोगों के ऋण से इस प्रकार ग्रस्त हो जाते हैं कि उनका भूमि पर स्वामित्व भी जाता रहता है और उनके स्थान पर द्रव्य के धनी व्यक्ति ही भू-स्वामी बन बैठते हैं। इस प्रकार राजनीतिक प्रवृत्तियों के साथ-साथ आर्थिक कारण भी धनी तथा शोषण की मनोवृत्ति रखनेवाले व्यक्तियों को, वर्तमान-काल तक, भू-स्वामित्व की ओर आकृष्ट करते रहे हैं। और, पश्चिम में कार्थेज के भाग्योदय के युग से ही, प्रायः दो हजार वर्षों तक, कृषि करने की कला और प्रणाली में कोई व्यावहारिक परिवर्तन नहीं आ सका और भूमि-कर के रूप में राज्यों को जो सबसे अधिक आय मिलती रही, वह सीधे भूमि जोतनेवाले खेतिहरों के बृहत् समुदाय के शोषण का ही परिणाम है। यूरोप में कृषि-

जन्य क्रान्ति तथा नवीन विश्व में बड़े-बड़े कृषि-फार्मों के संस्थापन के बाद भी औद्योगिक क्रांति के लिए पूँजी-निर्माण में कृषि की देन बहुत कम रही है।

इतिहास यह भी बतलाता है कि जब कि पहले से ही बसे हुए देश में नवागंतुक विजेताओं के दल के दल आकर बस जाते हैं, तब यदि खेती में लगी हुई पहले से ही बसनेवाली जनसंख्या की कृषि-प्रणाली विकसित और सुदृढ़ रही और विजेताओं ने अपने को भूमि का मध्यस्थ या श्रेष्ठतर स्वामी बनाये रखने का दम्भ किया तो पूर्व अधिवासी अपनी-अपनी कृषि-जन्य भूमि पर कृषक-रूप में बने रहते हैं। लेकिन, ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है, नवागन्तुक विजेताओं के परिवारों की अत्यधिक वृद्धि होती जाती है और वे पहले से बसे हुए खेतिहरों की जड़ उखाड़ते जाते हैं तथा उन पूर्व के किसानों को मात्र खेतिहर मजदूर बन कर रहने को लाचार कर देते हैं। यही कारण है कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रारम्भिक सेट्लमेंट अफसरों को उत्तर भारत में जो संयुक्त भू-स्वामीवाले गाँव मिले, वे सामुदायिक रूप से भूमि जोतनेवाले ग्राम समुदायों को नहीं, बल्कि भूमि-स्वामित्व-संपन्न वरिष्ठ परिवारों के समुदाय को ही सूचित करते हैं। हाँ, अधिकांश स्थलों में, ये वरिष्ठ भू-स्वामी एक ओर तो जनसंख्या के बहुसंख्यक का निर्माण किये हुए हैं, और दूसरी ओर उनकी संख्या में वृद्धि के कारण उनके अधिकांश परिवार स्वतः जमीन भी जोतते देखे जाते हैं। इसके विपरीत, भारत के उन क्षेत्रों में, जहाँ गत शताब्दी के प्रारम्भ तक आदि-वासियों के संगठन में कोई आँच नहीं आने पाई, सामुदायिक कृषि-स्वामित्व के अनेक लक्षणों से युक्त, जबर्दस्त ग्राम-समुदायों में दल-बद्ध एवं स्वतन्त्र खेतिहर परिवारों द्वारा निर्मित ग्राम-समुदायों के दर्शन होते हैं। लेकिन, जिन क्षेत्रों में मुगलों तथा ईस्ट इण्डिया कम्पनी के केंद्रित शासन के समाघात

ने आदिवासियों के समाज संगठन को आंशिक रूप से भी छिन्न-भिन्न करने में सफलता पाई, वहाँ समुदाय के भू-स्वामित्व के भू-स्वामियों के अधिकारों में परिवर्तित होने की प्रक्रियाएँ स्पष्ट दीख पड़ती हैं।

यह जानी हुई बात है कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन-काल में भूमिकर के संग्रह में प्रशासनिक कठिनाइयों के कारण ही जमींदारी-प्रथा का सूत्रपात हुआ और कर-संग्रह करनेवाले अभिकर्त्ताओं को वंशानुगत जमींदारों में परिवर्तित कर दिया गया। साथ ही, छोटे-छोटे वंशानुगत शासक-परिवारों तथा प्रारम्भिक किसानों पर स्वेच्छा से भार बने हुए समाज के मुखियों का भी इसी वर्ग में समीकरण कर दिया गया।

एक बात पर और ध्यान देना है। इन देहाती क्षेत्रों में भूमिहीनों की जनसंख्या का निर्माण मात्र ऐसे ही परिवारों से नहीं हुआ है, जिनका नवागंतुकों द्वारा अपनी-अपनी भूमि से उच्छेद कर दिया गया है। पश्चिम के देशों में औद्योगिक क्रांति के परिणाम-स्वरूप कृषि-जन्य क्रांति द्वारा उच्छेद की गई अतिरिक्त देहाती जनसंख्या का औद्योगिक क्षेत्रों में विलयन तो हो गया। मगर उन देशों के यंत्र-संचालित उद्योगों द्वारा बड़े पैमाने पर प्रस्तुत किये गये माल के सहारे चीन और भारत-जैसे देशों के गृह-उद्योगों में हाथ से बने माल पर ऐसा आक्रमण किया गया कि उसके प्रहार से गृह-उद्योगों और कुटीर-शिल्पों में लगे लोग बेकार हो गये और वे भूमिहीन मजदूर होकर या तो जहाँ-तहाँ जाकर बस गये या कृषि पर निर्भर रहनेवाली जनसंख्या की वृद्धि के कारण बन गये।

किसी उद्योग-प्रधान धनी देश तथा कृषि-प्रधान निर्धन देश के आदर्शभूत पारिवारिक बजट का, स्थूल रूप से भी, तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि पिछले का पहले की ओर संक्रमण करने का अभिप्राय यह है कि कृषि द्वारा भूमि से उपार्जित

आय की अपेक्षा उद्योग द्वारा उपार्जित आय पर बहुत कम व्यय होता है। यही साधारणीकरण संपूर्ण राष्ट्रीय आय के लिए भी लागू है। अतएव, चाहे घर में ही प्रस्तुतकरण द्वारा, चाहे आयात के द्वारा, भूमि से उपलब्ध भोजन एवं कुछ अन्य कच्चे मालों की मौलिक आवश्यकताओं की संतुष्टि के अतिरिक्त जीविका-निर्वाह और बेकारों को काम देने की दिशा में भूमि पर जो भार होना चाहिए, उसमें इस-लिए क्रमागत ह्रास देखा जा रहा, चूँके देश उद्योगीकरण की ओर तेजी से झुक रहा है। इसलिए, उद्योगीकरण मात्र भूमि पर लदे भार को ही न्यून नहीं करता, बल्कि कृषि-उत्पादनों के लिए बाजार के विस्तार में भी सहायक बनता है। और, तभी लोग औद्योगिक क्षेत्रों में काम पाने को ही विशेष रूप से उत्सुक रहते हैं और इसका कारण यही है कि उद्योग में एक ही परिमाण की आय के उपार्जन में कृषि-क्षेत्र की अपेक्षा यथार्थ खर्च बहुत कम पड़ता है।

औद्योगिक आधार पर प्रगतिशील देशों की एक विशेषता यह भी है कि वे एक स्वतंत्र कृषि-आधारित अर्थ-व्यवस्था का सहज ही अनुसरण कर सकते हैं और ऐसे देशों में ठीके पर खेती की भूमि देने की प्रणाली अल्प पूँजी रखनेवाले किसानों के लिए भी भूमि को उपयोग में लाने के लाभप्रद तरीके को सुलभ करती है। दूसरे, यह ठीके की प्रणाली ऐसे युवकों के लिए, जो चाकरी की अपेक्षा जीवन-निर्वाह की स्वतन्त्र वृत्ति अपनाने की मनोवृत्ति रखते हैं, सृजनात्मक साहसिक कार्य के लिए सुअवसर प्रदान करती है। यह दूसरी बात सघन जनसंख्यावाले देशों के लिए भी लाभप्रद हो सकती है। पश्चिम के छोटे-छोटे प्रजासत्तात्मक राज्यों में, जो अबतक भी भूमि के उपयोग-करण में, प्रधान रूप से, स्वतन्त्र अर्थ-व्यवस्था कायम रखे हुए हैं, सामान्यतः ऐसे छोटे-छोटे भूमि के ठीकेदार पाये जाते हैं, जो अपनी जोत को अपने परिवार के सदस्यों

के श्रम के ही सहारे आबाद करते है और सुखी जीवन व्यतीत कर रहे हैं। इतना ही नहीं, उद्योगशील तथा अध्यवसायी भूमिहीन खेतिहर मजदूर भी, अपने हाथ के कृषि-औजारों के ही सहारे, ठीकेदारों की श्रेणी में पहुँच जाते हैं। ऐसे छोटे-छोटे ठीकेदारों की आर्थिक अवस्था और सामाजिक स्थिति भी, जो स्वतः अपने परिवार के सदस्यों के साथ मिलकर खेतों में खटते हैं, खेतिहर मजदूरों की आर्थिक अवस्था और सामाजिक स्थिति से निश्चित रूप से श्रेष्ठतर और वरिष्ठ है।

भूमिनीति की जटिलता : सारे संसार की कृषि-प्रणाली का इतिहास यह बतलाता है कि कदाचित ही किसी देश में, किसी भी काल में, विशुद्ध आर्थिक विचारों को ध्यान में रखकर भूमि के प्रयोग की व्यवस्था की गई हो। फिर भी, सिद्धांत रूप से, एक दूसरे से विपरीत दो भूमिनीतियाँ सम्भव हैं—एक पूर्णतः अनियन्त्रित एवं स्वतन्त्र कृषि-प्रणाली और दूसरी, राज्य के भूस्वामित्व की ऐसी प्रणाली, जिसमें किसी तरह के मध्यवर्ती स्वार्थ का पूर्णतः अभाव रहे। जहाँ भूमि का बहुल्य हो और उसे आर्थिक पूँजी में परिवर्तित कर देने के लिए साहसिक प्रयत्नों की अपेक्षा हो, वहाँ निजी तौर से कार्य करने के उत्साह को मन्द करनेवाले किसी भी काम को नहीं कर के पूँजी लगाने तथा साहसिक प्रयत्नों में योगदान करने की भावना को प्रोत्साहन देने की ही समस्या रह जाती है। हाँ, राज्य कृषि-फारमों की प्रतिष्ठा कर उन्हें चलाने का भार निजी किसानों पर सौंप सकता है; जैसा कि इटली ने लीबिया में किया है। दूसरी नीति का कार्यान्वयन Incas के समाजवादी राज्य में देखा जाता है, जहाँ सिंचाई की पहुँच के अन्तर्गत की भूमि के निर्धारित क्षेत्रफल की भूमि प्रति व्यक्ति के हिसाब से एक-एक परिवार को सौंपी गई और जिस परिवार में कोई वयस्क पुरुष-सदस्य नहीं पाया गया,

उस परिवार की जोत की खेती की व्यवस्था भी की गई। वहाँ Adean ranges की ऊँची तराइयों में कृषि-योग्य भूमि के छोटे-छोटे उपलब्ध क्षेत्रों में खेती कराने के लिए ही ऐसी व्यवस्था अपनाई गई।

लेकिन, पश्चिम के छोटे-छोटे प्रजासत्तात्मक राज्यों में प्रचलित प्रणाली से यह स्पष्ट हो जाता है कि हॉलैंड-जैसा सघन जनसंख्या वाला देश भी, यदि अच्छी तरह विकसित हो, तो वहाँ कृषि-प्रणाली में स्वतन्त्र साहसिक प्रयत्नों को प्रोत्साहन देने की प्रणाली सफलता-पूर्वक चल सकती है। और, ऐसा इसलिए कि उद्योग और व्यापार जनसंख्या के अधिकांश भाग को भूमि से पृथक् कर अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। रूस में स्वतन्त्र कृषि-प्रणाली को सफलता-पूर्वक कार्यान्वित किया जा सकता था। लेकिन, दो-एक ऐसी बातें थीं, जिनके चलते उसे भूमि-सम्बन्धी अर्थ-व्यवस्था को जकड़ देना पड़ा। पहली बात तो यह है कि मार्क्सवादी दर्शन को दृष्टि में रख कर उसे संपूर्ण जनसंख्या को श्रमिक वर्ग में बदल देने को बाध्य होना पड़ा। इसी अभिप्राय से, पहले तो किसानों को जमींदारों के विरुद्ध खड़ा कर दिया गया, जो किसी भी प्रकार का उत्पादन कार्य नहीं करते थे। जमींदारों के अस्तित्व को मिटाने के बाद किसानों को राज्य-संचालित तथा सामूहिक फार्मों में काम करने को लगा दिया गया। दूसरी बात यह थी की नये-नये कृषि-क्षेत्रों में खेती करने की प्रणाली इतनी पिछड़ी हुई थी और भूमि को अधिक से अधिक उपजाऊ बनाने के लिए निजी साहसिक कार्यों की परम्परा का ऐसा अभाव था कि राज्य को नियोजित अर्थ-व्यवस्था तथा कृषि के राष्ट्रीयकरण की नीति के सहारे कृषि-कार्य को विकसित करने को लाचार हो जाना पड़ा।

फ्रांस की राज्यक्रांति के बाद शीघ्र ही बहुतेरे यूरोपीय देशों ने भूमिकर पानेवाले जमींदारों को हटा कर उनकी जगह किसान-भू-स्वामियों के वर्ग की सृष्टि करने की प्रणाली को कार्यान्वित किया और प्रथम विश्वयुद्ध के बाद पूर्वीय यूरोपीय राज्यों ने अधिक विस्तृत रूप से भूमि के वितरणार्थ असाधारण रूप से बड़े-बड़े ईस्टेटों या कृषि-क्षेत्रों को तोड़ देने की नीति अपनाई। उस समय तक अधिकांश पश्चिमीय यूरोपीय देशों में 'स्माल होल्डिंग ऐक्ट' जैसे विधान को स्वीकार किया गया, जिससे कि स्वतः खेतों में खटने की क्षमता तथा उत्सुकता प्रकट करनेवाले भूमिहीन परिवारों के लिए भूमि की मुहैया कर छोटी-छोटी होल्डिंगों की सृष्टि की जा सके। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद जापान को बढ़ती हुई जनसंख्या की समस्या का सामना करना पड़ा। इस समस्या के निराकरण के लिए वहाँ विस्तृत पैमाने पर छोटी-छोटी होल्डिंगों की सृष्टि करने की प्रणाली अपनाई गई और सहयोग तथा सेवा-विस्तार के सहारे उत्पादन-वृद्धि पर विशेष जोर दिया गया। आधुनिकतम टेकनिक के प्रचार से जापान को इस प्रणाली में आशातीत सफलता भी मिल रही है।

नवीन चीन ने जो भूमिनीति अपनाई है, उसके अन्तर्गत जमीन की होल्डिंग पर कोई सीमाबद्धता नहीं है और ऐसा प्रयत्न किया गया है कि प्रत्येक किसान परिवार को एक होल्डिंग अवश्य मिल जाय। ऐसा करना इसलिए आवश्यक समझा गया कि जनसंख्या के पर्याप्त प्रतिशत को उद्योग, व्यापार तथा नौकरियों में लगाने में एक लम्बी अवधि लगती। और, वहाँ ऐसा करना इसलिए सुगम हुआ, चूँके प्रत्येक गाँव में खेती करनेवाले परिवारों की बड़ी संख्या की तुलना में भूमि-स्वामियों की संख्या नगण्य थी। प्रत्येक परिवार को जो होल्डिंग दी गई, उसके क्षेत्रफल में भी, जनसंख्या की सघनता के अनुसार स्थान-स्थान पर भिन्नता रही। फिर भी, गत

चालीस सदियों की सघन कृषि-परम्पराओं तथा चीनी नर-नारियों के अध्यवसाय के कारण छोटी-छोटी होल्डिंगों में भी उत्पादन की दृष्टि से आशातीत सफलता मिल रही है। कुछ बाह्य क्षेत्रों के अलावा चीनी में बड़े-बड़े राजकीय कृषि फारमों की स्थापना की कोई आवश्यकता नहीं है। साथ ही, संयुक्त सहयोग-मूलक कृषि के लिए भी वहाँ क्षेत्र नहीं है; कारण श्रम-संगठन वहाँ की अपनी विशेषता है। फिर भी, अपने सामान्य उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिए किसानों के बीच सहयोग की भावना का संगठन तीव्र गति से किया जा रहा है। यह स्पष्ट है कि चीन की भूमिनीति यथार्थता के बहुत समीप है और तत्कालीन समस्याओं को अल्प अवधि में सुलझाने में सर्वथा सक्षम है। यदि भारत में भी, परिस्थिति के अनुसार कुछ सुधार के साथ, उसी प्रकार की भूमिनीति अपनाई जाय तो आर्थिक दृष्टि से श्रेयस्कर हो।

हमारे दो राष्ट्रीय त्योहार

राष्ट्र के जीवन में कभी-कभी ऐसी क्रान्तिकारी, महत्त्वपूर्ण और प्रभावोत्पादक घटना घटित हो जाती है, जिसका प्रभाव सारे राष्ट्र पर एक-सा पड़ता है। ऐसी राष्ट्रव्यापी घटना की स्मृति इतनी आकर्षक, प्रेरणामूलक और लोकप्रिय होती है कि राष्ट्र को उससे निरन्तर नवीन प्रेरणा प्राप्त होती रहती है। उसी प्रेरणा-स्रोत-स्वरूपा-स्मृति को स्थायी या अमिट बनाये रखने के सत्प्रयास में, जिस तिथि को ऐसी घटना घटती है, उस तिथि के मंगलमय मुहूर्त्त में सारा राष्ट्र आनन्द-विभोर होकर, सामूहिक रूप से त्योहार मनाता

है। और, ऐसे ही त्योहार को हम राष्ट्रीय त्योहार कहते हैं। १५ अगस्त और २६ जनवरी—वर्ष के ये दो महत्त्वपूर्ण दिवस हमारे लिए ऐसे ही राष्ट्रीय त्योहार मनाने के लिए निर्धारित हैं।

प्रत्येक स्वतन्त्र राष्ट्र अपनी स्वतन्त्रता से सम्बन्ध रखनेवाली पुण्य-स्मृतियों को स्थायित्व प्रदान करने की बलवती अभिलाषा से उत्प्रेरित होकर ऐसे दिवसों में, राष्ट्रीय त्योहार के रूप में बड़ी धूम धाम से, बड़े उत्साह से उत्सव मनाता है। एक सौ अस्सी वर्षों के बाद भी, संयुक्त-राज्य अमरीका के नागरिक, प्रति वर्ष चौथी जुलाई के दिन, असाधारण उत्साह का प्रदर्शन करते हुए, उत्सव मना कर अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा की स्मृति को नवीनता प्रदान करते हैं। अतएव, हमें भी, जो अभी स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में शिशु-रूप ही हैं, १५ अगस्त तथा २६ जनवरी—इन दोनों पुण्य दिवसों में, यथार्थ राष्ट्रीय त्योहार के रूप में, राष्ट्र-व्यापी पैमाने पर उत्सव मना कर इस प्रेरणामूलक परम्परा को अवश्यमेव विकसित करना चाहिए। प्रत्येक भारतीय का—चाहे वह किसी धर्म को मानता हो, किसी भी जाति या वर्ण का हो, किसी भी संप्रदाय का हो, किसी भी राजनीतिक दल को मान्यता देता हो, जो भी भाषा बोलता हो—यह एकांत कर्त्तव्य हो जाता है कि वह भारतीय लोकतन्त्र के स्वतन्त्र नागरिक के रूप में इन दोनों राष्ट्रीय उत्सवों में उत्साहपूर्वक योगदान करे। ये दोनों मांगलिक दिवस हमें संदेश देते हैं कि भारतीय राष्ट्र एक है, अविभाज्य है। भारत का प्रत्येक नागरिक भारतीय राष्ट्र का एक-एक अंग है और भारत-सव के संविधान की आधार-शिला पर प्रतिष्ठित सर्व-सत्ताधारी, स्वतन्त्र लोकतन्त्र के रूप में भारतीय राष्ट्र के प्रति अपनी भक्ति को अक्षुण्ण रखना उसका सर्वप्रथम महान् कर्त्तव्य है। अतएव, उन दोनों दिवसों को मनाते समय ऐसे ही रचनात्मक, सृजनात्मक तथा

सांस्कृतिक क्रिया-कलापों पर विशेष रूप से जोर डालना चाहिए, जो भारतीय लोकतन्त्र के सारे नागरिकों में एक निर्मल भावना की स्रोतस्विनी प्रवाहित करने की क्षमता रखते हों। यह 'राष्ट्रीय' शब्द अन्य सभी गुटों, दलों, वर्गों तथा संप्रदायों की जड़ उखाड़ देता है, जो संकीर्ण आधार-शिलाओं का निर्माण करते हैं। आज भारत में निवास करनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को अपने को भारतीय राष्ट्र का अंग कहलाने और इस महान् लोकतंत्र का नागरिक होने की गौरवपूर्ण सुविधा सुलभ है।

यह तो मानी हुई बात है कि राजनीतिक दृष्टि से एक राज्य के निवासियों को—चाहे वे विभिन्न भाषा-भाषी हों, विभिन्न धर्मावलंबी हों, विभिन्न संप्रदायों के हिमायती हों, या विभिन्न जातियों या वर्णों के हों—समान राजनीतिक कर्त्तव्यों एवं अधिकारों तथा समान आर्थिक स्वार्थों के संयम-सूत्र में शृङ्खलाबद्ध रखने की आवश्यकता के ही फलस्वरूप आधुनिक राष्ट्रीयता एवं राष्ट्र-प्रेरित देशभक्ति का उद्भव और विकास हुआ है। और, ऐसा राज्य अपने नागरिकों को उसी परिस्थिति में निश्चित रूप से राजनीतिक एवं आर्थिक स्वतंत्रता प्रदान कर सकता है, जब कि वह स्वतः स्वतंत्र हो और अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एक सुदृढ़ राष्ट्र के रूप में अपने व्यक्तित्व का पराक्रम दिखा सके।

प्रत्येक स्वतंत्र राष्ट्र की अपनी राष्ट्र-मुद्रा, अपना राष्ट्र-गायन और अपना राष्ट्र-ध्वज रहता है। ये सब राष्ट्र के मूर्त्त प्रतीक हैं। राष्ट्र के नागरिकों के हृदय में इनके प्रति अगाध प्रेम रहता है और आवश्यकता पड़ने पर इनकी रक्षा के लिए अपने प्राणों की भी बलि चढ़ाने को वे तत्पर रहते हैं। हमने देवानांप्रिय सम्राट् अशोक के स्तंभ में अंकित सिंह के संयुक्त तीन-सिरों को अपने चिह्न के रूप में अंगीकार किया है, जो धर्म और विधान के शाश्वत शासन की सर्वश्रेष्ठता का

द्योतक माना जाता है। 'वंदेमातरम्' तथा 'जन-मन-गन' हमारे राष्ट्र गायन हैं, जिनके अंतर्गत मातृभूमि के लिए सम्मान और प्रेम की सर्वोत्कृष्ट भव्य भावना निहित है। और, हमारा केसरिया, हरा और उजला—इन तीन रंगों का अशोक-चक्र-अंकित राष्ट्र-ध्वज आज हमारी स्वतंत्रता, शांति और विधान के शाश्वत शासन का प्रतीक बन रहा है। यह नवीन जीवन तथा नवीन दृष्टिकोण के नवस्फुरण के साथ ऊँचे आसमान में फहराता रहता है। अतएव, उपर्युक्त दोनों त्योंहारों के दिन हम अपने राष्ट्र-गायन के साथ अपने राष्ट्र-ध्वज की वंदना करते हैं, इसके प्रति अपना सम्मान प्रकट करते हैं।

हमारे दोनों राष्ट्रीय त्योहारों की तिथियाँ हमारे राष्ट्रय जीवन में बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। सन् १९४७ में इसी पंद्रह अगस्त को भारत ने अपने को स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में घोषित किया। पूर्ण स्वतंत्रता प्रत्येक सजीव राष्ट्र का जीवन-श्वास है। इसमें संदेह नहीं कि पारस्परिक सहायता, सहयोग, सदिच्छा, सद्भावना और मित्रता अंतर्राष्ट्रीय-जीवन के कोण-स्तंभ हैं। इसलिए, प्रत्येक वर्ष १५ अगस्त हमारे हृदय-पट पर उस महान् दिवस की गौरवमयी स्मृति को पुनर्जीवन प्रदान करता है, जब कि हमने स्वतंत्र राज्य-रूपी जहाज की लंगर खोल दी थी। अतः, उस दिन हमें उन महान् वलिदानों का पुण्य-स्मरण होना चाहिए जो देश की स्वतंत्रता की वलिवेदी पर अर्पित हुए हैं। तभी हम स्वतंत्रता का यथार्थ मूल्यांकन कर उसकी रक्षा के लिए सतर्कतापूर्वक अपना आत्मोत्सर्ग करने की क्षमता प्राप्त कर सकेंगे। किसी ने ठीक ही कहा है—'शाश्वत सतर्कता ही स्वतंत्रता का मूल्य है'।

इसी प्रकार २६ जनवरी की तिथि भी, गण तंत्र-दिवस के रूप में हमारे लिए विशेष महत्त्व रखती है। हाँ, सन् १९२९ में, इसी

२६ जनवरी को, भारतवासियों ने विश्ववंद्य महात्मा गाँधी के नेतृत्व में पहले-पहल यह प्रतिज्ञा की थी कि हम पूर्ण स्वतंत्रता-प्राप्त कर ही दम लेंगे। हमने प्रतिज्ञा की और सत्याग्रह के अमोघ अस्त्र के सहारे निरंतर बारह वर्षों तक अहिंसात्मक युद्ध में जूझते रहने के बाद, स्वतंत्रता के उन्मुक्त प्रांगण में अपने को मचलते पाया। और, सन् १९५० में, पुनः इसी २६ जनवरी की मंगलमयी घड़ी में गण-तंत्र की आधार-शिला पर प्रतिष्ठित सर्वसत्तात्मक स्वतंत्र भारत के संविधान के कार्यान्वयन की घोषणा की गई। इसलिए, यदि १५ अगस्त हमारा 'स्वतंत्रता-दिवस' है तो २६ जनवरी हमारा 'गण-तंत्र-दिवस' है। और, यह स्पष्ट है कि ये दोनों दिवस एक दूसरे के परिपूरक हैं—एक दूसरे के महत्त्व की वृद्धि करनेवाले हैं। स्वतंत्रता और गण-तंत्रात्मक लोकतंत्र—ये हमारे राष्ट्र के अनमोल धरोहर हैं। और, यह हमारे लिए सौभाग्य की बात है कि अपने दोनों धरोहरों के लिए खुशियाँ मनाने, दोनों के प्रति अपनी श्रद्धा तथा भक्ति प्रदर्शित करने के निमित्त संयोग वश वर्ष में दो पृथक् दिवस निर्धारित हैं—१५ अगस्त और २६ जनवरी।

बिहार में पंचवर्षीय योजनाएँ

भारत ने प्रथम पंचवर्षीय विकास-यज्ञ की पूर्णाहुति के साथ ही १ अप्रैल, १९५६ से, उसी शृङ्खला में, द्वितीय पंचवर्षीय विकास-यज्ञ का भी अनुष्ठान कर दिया। यज्ञ की सम्पन्नता के लिए भाग पानेवाले राज्यों में बिहार का स्थान पाँचवाँ था, लेकिन द्वितीय यज्ञानुष्ठान में इस राज्य को तृतीय स्थान प्राप्त है; बम्बई और

उत्तर-प्रदेश के बाद इसी का कार्य-क्रम सर्वाधिक विस्तृत भी है। सामुदायिक विकास-परियोजना एवं राष्ट्रीय विस्तार-सेवा के विकास-क्रम में, सारे देश में, बिहार की सफलता उत्कृष्ट सफलताओं में है। और, बुनियादी शिक्षा-क्षेत्र में कार्यान्वित इस राज्य की योजना को तो भारत-सरकार ने सारे देश के लिए आदर्श-रूप में मान्यता प्रदान की है। प्रथम पंचवर्षीय विकास-यज्ञ में विभिन्न विभागों एवं उपविभागों के अन्तर्गत बिहार ने कुल २१४ विकास-स्तम्भ निर्मित किये थे। और, इनके लिए इसे जहाँ ६,७७६.४ लाख रुपया व्यय करने का निर्देश था, वहाँ कुल ७,२५१ लाख रुपया व्यय हुआ। द्वितीय विकास-यज्ञ की सम्पन्नता के निमित्त, बिहार के लिए १६४.२२ करोड़ रुपया निर्धारित किया गया है। अर्थात् प्रथम यज्ञ में इसे जहाँ १६.६ करोड़ रुपया प्रति वर्ष व्यय करने का अवसर प्राप्त हुआ था, वहाँ द्वितीय अनुष्ठानमें ४८.२ करोड़ रुपये से कुछ ज्यादा ही व्यय करने का सौभाग्य प्राप्त होने को है।

प्रथम योजना में कृषि को सर्वोच्च स्थान मिला था। और, इस दिशा में बिहार को सफलता भी अच्छी मिली। योजना-काल के अन्त में कृषि-उत्पादन ५७ लाख टन से बढ़कर ६४ लाख टन तक पहुँच गया; यानी इस क्षेत्र में निर्धारित लक्ष्य से १२ प्रतिशत की वृद्धि हुई। भूमि-परीक्षण तथा कृषि-अनुसंधान की दिशा में भी संतोषजनक प्रगति रही। द्वितीय योजना में २० प्रतिशत कृषि-उत्पादन में वृद्धि करने की आशा प्रकट की गई है और सिंचाई की सुविधाओं को विस्तृत कर, पेड़-पौधे के संरक्षण के उपायों का अवलंबन कर तथा अन्य कृषि-अनुसंधानों के सहारे इस लक्ष्य तक पहुँचने का प्रयास किया जाने को है। प्रथम पंचवर्षीय योजनान्तर्गत सिंचाई की मद में १६.०८ करोड़ रुपये का व्यय कूता गया था, जिसमें ६६ प्रतिशत व्यय ही संभव हो सका। द्वितीय पंचवर्षीय

योजना में ५.३२ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई की व्यवस्था की गई है और इस योजना की समाप्ति तक, ऐसा अनुमान किया जाता है कि कुल मिलाकर ११.१४ लाख एकड़ भूमि के लिए सिंचाई का साधन सम्भव हो जायगा। सोन, गंडक तथा कोसी-परियोजनाओं द्वारा जो भूमि सिंचाई के अन्तर्गत आती है, वह इस हिसाब में सम्मिलित नहीं है। सिंचाई तथा उद्योग के लिए विद्युत-शक्ति के विकास की प्रगति भी बिहार में सन्तोषप्रद ही रही—ग्रामीण-क्षेत्रों तक भी इसकी प्रगति रही। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में सारे राज्य में विद्युत-शक्ति के विस्तार के लिए २० उपयोजनाएँ कार्यान्वित की जायँगी। इस सफलता से गाँव-गाँव में विद्युत्प्रकाश के फैल जाने की आशा की जाती है।

सड़क-परिवहन के मामले में बिहार को अभागा ही कहा जायगा। यद्यपि प्रथम पंचवर्षीय योजना-काल के अन्त में यहाँ जन-कार्य-विभाग के अन्तर्गत कुल ३,८६० मील लम्बी सड़कें बन चुकी हैं और इनके अतिरिक्त स्थानीय संस्थाओं की देख-रेख में भी पक्की सड़कें हैं; फिर भी, यहाँ योजना के अन्त तक प्रति एक लाख की जनसंख्या पर ६.६ मील की लम्बाई की पक्की सड़क से अधिक नहीं पड़ती है; जब कि प्रथम वर्ग के सभी राज्यों में द्वितीय योजना के अन्त तक २७ मील का औसत होना चाहिए। सन्देह है कि बिहार अपने लक्ष्य तक पहुँच सकेगा या नहीं।

सामुदायिक विकास-परियोजना तथा राष्ट्रीय विकास-सेवा के क्षेत्र में बिहार की प्रगति सर्वोत्तम रही—भौतिक लक्ष्य-प्राप्ति की दृष्टि से भी और जन-सहयोग की दृष्टि से भी। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत, ६६ राष्ट्रीय सेवा-विस्तार खंड १२,६६५ वर्गमील क्षेत्रफल के विस्तार में २४,८३७ गाँवों के लिए संस्थापित किये गये। द्वीतिय

पंचवर्षीय योजनान्तर्गत कुल मिलाकर ५६७ विकास-खंड राज्य के कोने-कोने में चालू हो जायँगे।

औद्योगिक क्षेत्र में, बिहार में, प्रथम पंचवर्षीय योजना में विशेष प्रगति नहीं देखी गई; यद्यपि यह राज्य उद्योगों के विकास के लिए सारे देश में, खनिज द्रव्यों के मामले में, सबसे अधिक समृद्धिशाली है। प्रथम योजना-काल में यहाँ का खनिज-उद्योग उपेक्षित ही रहा; और, सिंदरी में एक सीमेंट फैक्टरी के संस्थापन अतिरिक्त निजी क्षेत्र में कोई नवीन वृहत् कारखाना नहीं खुला। सार्वजनिक क्षेत्र में भी केवल सिंदरी में रासायनिक खाद की फैक्टरी को उत्पादन के अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचा दिया गया और कोक बनाने की भट्ठियों की स्थापना भी हुई। इसके अतिरिक्त किसी नये भारी उद्योग का प्रतिष्ठान नहीं किया गया। राज्य-सरकार की ओर से सिंदरी में सुपरफास्फेट फैक्टरी के निर्माण का कार्य-क्रम चलता रहा। हाँ, गृह-उद्योगों के क्षेत्र में, विशेष कर हैंडलूम उद्योग में, जिसके लिए ११८ लाख रुपये का व्यय निर्धारित था, अच्छी प्रगति अभिलक्षित हुई। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में गृह-उद्योगों के विकास के लिए १२ करोड़ रुपया व्यय करने का अनुमान किया गया है और ४०,००० लोगों को नये काम देने की आशा की गई है। इसके अतिरिक्त, राज्य-सरकार की ओर से कुछ मध्याकृति की उद्योग-इकाइयों की स्थापना की जायगी। एक सहयोग-मूलक चीनी का कारखाना तथा एक सहयोग-मूलक जूट-गठिये का कारखाना खोलने का भी आयोजन किया जा रहा है।

राष्ट्रीय सेवा-विस्तार-क्षेत्रों में उत्पादन के साथ-साथ प्रशिक्षण केन्द्रों की भी प्रतिष्ठा की जाने का विचार है। ऐसे केन्द्र ग्रामीण शिल्पकारों को सुधरे हुए टेकनिक में प्रशिक्षित करेंगे। पटना, मुजफ्फरपुर और सिंदरी में तीन अनुसंधान-संस्थान खुलने जा रहे

हैं। ये संस्थाएँ सुधरे हुए औजार प्रस्तुत करेंगे और नई डिजाइनों तथा विकसित उत्पादन-प्रणालियों को अपनाने की दिशा में उत्पादकों का मार्ग-प्रदर्शन करेंगे। कुछ चुने हुए क्षेत्रों में हैंडलूमों को बिजली से चलाने की व्यवस्था भी की जाने को है। निम्न-लिखित गृह-उद्योगों का विशेष रूप से विकास किया जायगा :— (१) घानी-उद्योग; (२) चमड़े का उद्योग; (३) गुड़ और खाँड़सारी बनाने का उद्योग; (४) मिट्टी के बर्तन बनाने का उद्योग; (५) हाथ से कागज बनाने का उद्योग; (६) ताड़-गुड़-उत्पादन; (७) मधुमक्खी पालन; (८) दिया-सलाई बनाने का उद्योग; (९) बाँस से सामान बनाने का उद्योग; (१०) साबुन बनाने का उद्योग; (११) ढेंकी से चावल तथा चक्की से आँटा पीसने का उद्योग।

जहाँ तक वृहत्तर उद्योगों के विकास का संबंध है, भारत-सरकार ने बोकारों में चौथा आयरन-स्टील प्लांट प्रतिष्ठित करने का निश्चय किया है, जो भारत में सब से बड़े कारखानों में एक होगा। अन्य उद्योग के विकास को प्रोत्साहन देने के लिए एक औद्योगिक वित्तीय निगम की स्थापना हुई है, जो निजी उद्योगों को विकसित करनेवालों को आर्थिक ऋण देगा। साथ ही, हैंडलूम-उत्पादनों की बिक्री की सुविधा के लिए, सन् १९५६ के प्रारंभ में ही, पटने में, एक केन्द्रीय भण्डार खोला गया है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना-काल में बिहार के बजट में सबसे अधिक रकम शिक्षा की ही मद में रखा गया था। पाँचवे वर्ग तक की प्राथमिक शिक्षा निःशुल्क कर दी गई है। प्राथमिक शिक्षा के सुधार के सिलसिले में तथा शिक्षितों की बेकारी दूर करने की दिशा में कुल ८,७५० नये शिक्षकों की नियुक्ति की गई। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के प्रथम वर्ष में ३,००० शिक्षक और नियुक्त होंगे और एक लाख अतिरिक्त छात्रों की शिक्षा की व्यवस्था की जायगी। तुर्की-वैशाली

क्षेत्र में, बुनियादी प्रणाली की शिक्षा की सघन-योजना का और भी अधिक विस्तार किया जायगा। द्वितीय योजनान्तर्गत बहुत से बेसिक सिनियर स्कूल तथा जुनियर बेसिक प्रशिक्षण-संस्थाएँ खुलने जा रही हैं। योजना-काल में ११० उच्च माध्यमिक विद्यालयों को उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों में परिवर्तित किया जाने का विचार है, जिनमें इंटरमेडिएट स्टैंडर्ड की एक कक्षा जोड़ दी जायगी और विश्व-विद्यालयों की बी० ए० डिग्री का पाठ्य-क्रम चार के बदले तीन वर्ष में ही पूरा किया जायगा। साथ ही, सघन पैमाने पर बहुत-से उच्च माध्यमिक विद्यालयों में स्थान-विशेष के उद्योगों की शिक्षा की व्यवस्था कर उन्हें बहु-प्रयोजनीय विद्यालयों का रूप दिया जाने को है। छोटा नागपुर तथा संथालपरगने के पिछड़े हुए क्षेत्रों में ५५ नये सब्सिडाइज्ड हाई स्कूल खोले जायँगे और लगभग ५० स्कूलों का बहु-प्रयोजनीय स्कूलों में परिवर्तन किया जायगा। सामाजिक शिक्षा के विकास की दिशाओं में भी प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में अच्छी प्रगति रही। द्वितीय पंचवर्षीय योजना की अवधि में सामाजिक कार्यकर्त्ताओं को प्रशिक्षण देने के लिए तुर्की में जनता कालिज से संलग्न दो केन्द्र खोले जा रहे हैं—एक पुरुषों के लिए और दूसरा महिलाओं के लिए।

पंचवर्षीय योजना के कार्यन्वयन में आवश्यक शिल्पियों या टेकनिकल व्यक्तियों के अभाव की पूर्त्ति के लिए राज्य-सरकार की ओर से टेकनिकल शिक्षा के विस्तार का भी भरपूर प्रयास किया जा रहा है। इसके लिए प्रथम पंचवर्षीय योजना-काल में सिविल इंजीनियरिंग का एक दूसरा कालिज मुजफ्फरपुर में खोला गया है। इसके अतिरिक्त दो और भी इंजीनियरिंग स्कूल, एक जुनियर टेकनिकल स्कूल, तथा एक इंसट्रक्टर-ट्रेनिंग केंद्र खोले जा चुके हैं। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के कार्यान्वयन के साथ ही सिंदरी के बिहार इंस्टी-

च्यूट ऑफ टेकनौलाजी में एक नये डिग्री कोर्स और एक पोस्ट ग्रैजुएट कोर्स की व्यवस्था की गई है। इस इंस्टीच्यूट का आगे भी विस्तार किया जायगा। और भी दस जुनियर टेकनिकल स्कूल द्वितीय पंचवर्षीय योजना-काल में खोले जायँगे। ऐसे छः स्कूल पहली योजना-काल तक खुल चुके थे। राँची में एक नये कृषि कालिज की स्थापना हुई है। प्रत्येक जिले में एक-एक कृषि-विद्यालय भी चालू कर दिया गया है और एक नये एक्सटेंसन ट्रेनिंग सेंटर की स्थापना की गई है। भेटेरिनेरी कालिज, पटना में दोनों वेला पढ़ाई की व्यवस्था की गई है, जिससे कि अधिक छात्र भरती किये जा सकें।

प्रथम पंचवर्षीय योजना-काल में, चिकित्सा को अधिक सुलभ बनाने की दृष्टि से, सभी जिला तथा सबडिवीजनल अस्पतालों का राज्यकरण कर दिया गया है तथा बहुत-से नये अस्पताल तथा डिसपेंसरियाँ भी खोली गई हैं। पटना मेडिकल कालिज अस्पताल में एक वृहत् सरजिकल इकाई, हमारे राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद के नाम पर, खोली गई है, जो आधुनिकतम सामान तथा औजारों से सुसज्जित होकर एशिया में अपने ढंग की अकेली है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना-काल में ३०० नये अस्पताल, डिसपेंसरियाँ तथा स्वास्थ्य केन्द्र स्थापित किये जाने को हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर यहाँ १,११६ अस्पताल आदि हो जाते हैं, जिनमें ५२८ राज्य-अस्पताल होंगे। पटने तथा दरभंगे में तो एक मेडिकल कालिज था ही, अब राँची में भी तीसरे मेडिकल कालिज की स्थापना हो चुकी है।

अंत में, योजना के संचालकों का कथन है कि प्रथम पंचवर्षीय योजना जन-सहयोग से कार्यान्वित होनेवाली सरकारी योजना थी; जब कि द्वितीय पंचवर्षीय योजना सरकारी अफसरों के सहयोग से कार्यान्वित होनेवाली जनता की योजना है।

ज्ञान और बौद्धिक संस्कृति

मनुष्य विवेकशील सामाजिक प्राणी है। विवेक के भंडार के रूप में इसे मस्तिष्क का श्रेष्ठतम वरदान मिला है और सामाजिकता के लिए सहयोग-प्रवृति की प्रेरणा प्राप्त है। दूसरे शब्दों में, विकसित मस्तिष्क और सामाजिक भावना—मनुष्य इन दो अनमोल एवं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण निधियों से सम्पन्न प्राणी है। और, इन्हीं दोनों निधियों की समन्वित आधार-शिला पर मनुष्य ने अपनी संस्कृति का निर्माण किया है। अतएव, मानवीय विकास के इतिहास में इन दोनों का प्रमुख स्थान है। यों चींटी, मधुमक्खी आदि जीवों की सामाजिक भावना मनुष्य से भी अधिक प्रबल दीख पड़ती है; लेकिन, इन्हें मनुष्य की नाईं विकसित मस्तिष्क नहीं; और, इसी कारण इनका प्रगति-पथ सर्वथा अवरुद्ध है। इसी प्रकार, गिद्ध, कुत्ते आदि के ज्ञान-तन्तु मनुष्य से अधिक सजग होते हैं; परन्तु, इनका मस्तिष्क मानव-मस्तिष्क की समता नहीं कर सकता; इनकी बुद्धि में प्रखरता आ नहीं सकती; और, इसीलिए ये भी जहाँ के तहाँ पड़े हुए हैं। संक्षेप में, विकसित मस्तिष्क तथा सामाजिक भावना के ही सहारे मनुष्य प्रगति के पथ पर निरन्तर प्रयत्नशील रह कर अन्य सांसारिक जीवों से श्रेष्ठतम माना जाता है।

लेकिन, इसका यह अर्थ नहीं कि मनुष्य यह जान कर ही संतोष कर ले कि जब कि उसका मस्तिष्क तो संसार के अन्य जीवों की अपेक्षा अधिक विकसित और पूर्ण है; इसलिए उसे बिना अधिक ज्ञान प्राप्त किये ही संसार के अन्य निम्न-कोटि के जीवों पर शासन करने का अधिकार मिल गया है। यथार्थ तो यह है कि मनुष्य को

जिस प्रकार अपना जीवन-सूत्र अक्षुण्ण रखने के लिए भोजन, जल और वायु की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार अपने ज्ञान-तंतुओं को और भी अधिक विस्तृत करने तथा अपने बौद्धिक दृष्टिकोण को व्यापक बनाये रखने की भी उसे आवश्यकता पड़ती है। और, इसके लिए उसे ज्ञानार्जन करना ही पड़ता है। जिस व्यक्ति का मस्तिष्क अलस् के वशीभूत होकर दिन-ब-दिन कुंठित होता जाता है, वह धीरे-धीरे पशु-श्रेणी में ही गिना जाने लगता है। वह स्वयं अपने लिए भार-स्वरूप होकर, दूसरों के लिए भी अखरनेवाला प्राणी बन जाता है। उससे किसी को भी किसी प्रकार की आशा नहीं रहती और वह समाज द्वारा उपेक्षा-पूर्वक 'दूध की मक्खी' की तरह पृथक् कर दिया जाता है।

विकसित मस्तिष्क के साथ मनुष्य रूप में, विश्व में, अवतरित होने का स्पष्ट अर्थ है—अधिकाधिक ज्ञानार्जन करके विश्व का कल्याण करना। अतएव, होश सँभालते ही मनुष्य को ज्ञान की खोज में संलग्न हो जाना जाहिए। यों, जीवन-यापन के लिए किसी भी विशेष उत्पादन-कला में पारंगत हो लेना नितांत अपेक्षित है; लेकिन, बौद्धिक विकास के बिना, प्रत्येक दृष्टि से, जीवन असन्तोष-जनक एवं अपूर्ण ही रह जाता है। और, ऐसे मनुष्य को समाज में वह आदर और प्रेम का स्थान नहीं मिल पाता है, जिसके लिए वह लालायित रहता है। सच पूछिए तो ज्ञान ही सत्य है, और सत्य के दर्शन होने पर ही आत्मा पूर्णत्व को प्राप्त करता है। अतएव, मानव का सब से बड़ा कर्त्तव्य यही होना चाहिए कि वह अपने आपको ऐसे वातावरण में संलग्न रखे, जहाँ उसे सर्वत्र ज्ञान-रश्मियों के ही दर्शन हों।

बुद्धि के सहारे अर्जित ज्ञान के आधार पर ही बौद्धिक संस्कृति का निर्माण होता है। जो मनुष्य ज्ञान की साधना में तल्लीन रहता

है, उसे न तो अन्ध-विश्वास ही पथ-भ्रष्ट कर सकता है और न वह राजनीति तथा धर्म के क्षेत्रों में भ्रामक नेतृत्व के ही बहकावे में पड़ सकता है। मनुष्य को ज्ञान-रूपी सत्य के अनुसन्धान के सिलसिले में ही अपने सच्चे कर्त्तव्य का भान होता है। और, तब वह उस कर्त्तव्य की पूर्त्ति में तल्लीन हो जाता है। अतएव, यदि मनुष्य स्वार्थी पुरोहितों, मुल्लाओं या पादरियों के चंगुल से बचना चाहता है, यदि वह शोषण पर आधारित योजनाओं के जाल में नहीं फँसना चाहता है, तो उसे धर्म और राजनीति के क्षेत्र में अपने विवेक को विकसित कर उससे काम लेना चाहिए—खुली आँखों से निरन्तर देखना चाहिए। और, यह खुली आँख की ज्योति उसे तभी प्राप्त हो सकती है, जब कि उसका मस्तिष्क भली-भाँति पुष्ट और परिपक्व हो। प्रायः देखा जाता है कि अधिकांश मनुष्य उन पतंगों की भाँति फड़फड़ाते रहते हैं, जिनकी बागडोर धर्माधिकारियों एवं राजनीतिज्ञों के हाथ में है। इसका प्रमुख कारण यह है कि दुर्भाग्यवश उन्हें विज्ञान, इतिहास, अर्थशास्त्र तथा अन्य शास्त्रों का यथार्थ ज्ञान नहीं रहता और उनके ज्ञान-चक्षु मुँदे रहते हैं। फलतः, धर्माधिकारी और राजनीतिज्ञ उन्हें भेंड़-बकरों की तरह चराते रहते हैं। अज्ञान से ही उनमें अहंभाव की भी सृष्टि होती है।

ज्ञान की वृद्धि के लिए मनुष्य को विशाल क्षेत्र उपलब्ध है। अतः, उसे इधर-उधर नहीं भटक कर, दत्त-चित्त होकर वैज्ञानिक ढंग से कार्य करना चाहिए और समय के प्रत्येक क्षण का पूर्ण उपयोग करना चाहिए। अपने दैनिक कार्यों से अवसर निकाल कर उसे उस अवसर का पढ़ने-लिखने तथा ज्ञान की बातों को सुनने-सुनाने के काम में उपयोग करना चाहिए। जिस प्रकार मनुष्य कई बार खाने-पीने का अभ्यस्त हो गया है, उसी प्रकार उसे अध्ययन करने तथा अधिकाधिक नवीनताओं की अभिज्ञता प्राप्त करने का

भी अभ्यस्त होना चाहिए। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि कुछ लोगों की स्मरण-शक्ति क्षीण होती है। ऐसे लोग पढ़ते तो पर्याप्त हैं, मगर स्मरण कम रखते हैं; यहाँ तक कि कुछ समय के बाद ही पहले का पढ़ा हुआ भूल बैठते हैं। फलतः, प्राप्त की हुई ताजगी के स्थान पर पुनः अज्ञान रूपी बासीपन आ जाता है। लेकिन, जिस प्रकार खाये हुए भोजन को भली-भाँति पचा लेने से रस परिपाक होता है और शारीरिक शक्ति की वृद्धि होती है; उसी प्रकार पढ़ी हुई अथवा नई जानी हुई चीजों को अच्छी तरह समझ लेने पर मानसिक शक्ति का विकास होता है और स्मरण-शक्ति की दुर्बलता दूर होती है।

यह तो मानी हुई बात है कि आज के युग में मुद्रण-कला के विकास के साथ-साथ बौद्धिक-संस्कृति के विकास के साधन भी सुलभ हो गये हैं। पुस्तकों, समाचार-पत्रों आदि के स्वाध्याय से व्यक्ति आसानी से अपने मस्तिष्क को ज्ञान का भंडार बना कर बौद्धिक संस्कृति को प्रगतिशील बनाये रख सकता है। स्वाध्याय के साथ-साथ दूसरों के अध्ययन का लाभ उठाना भी कम उपयोगी और आवश्यक नहीं है। अपने पास-पड़ोस के पुस्तकालयों तथा सांस्कृतिक-संस्थाओं और गोष्ठियों की सदस्यता स्वीकार कर वहाँ ऐसा नियम बनवाना चाहिए कि बारी-बारी से प्रत्येक सदस्य अपनी मौलिक कृति या पढ़ी हुई नवीन पुस्तक का सारांश लाकर पढ़े। इस प्रकार का सामुदायिक अध्ययन स्वाध्याय से भी अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

लेकिन, बौद्धिक संस्कृति के विकास के मार्ग में दो रुकावटे हैं। पहली यह कि अधिकांशतः लोग अर्थोपार्जन के पीछे इस प्रकार हाथ धोकर पड़ जाते हैं कि उन्हें उन कामों में कोई अभिरुचि नहीं रह जाती, जिनसे उन्हें कुछ आर्थिक लाभ न हो। ऐसे लोग ज्ञान-वृद्धि

को मात्र भौतिक उन्नति का साधन मान बैठे हैं। व्यक्तिगत बौद्धिक विकास का उनके लिए कोई विशेष मूल्य नहीं। भौतिक उन्नति की यह मान्यता समाज के सभी वर्गों में संक्रमण कर गया है; धनी-निर्धन सभी इस रोग से ग्रसित हैं। ऐसे लोग वस्तुतः पैसे कमाने के काम को ही अपना सर्वोपरि कर्त्तव्य समझ कर प्रकृति-प्रदत्त अमूल्य निधि मस्तिष्क का ह्रास कर रहे हैं। बौद्धिक विकास की दिशा में उनकी यह उदासीनता बहुत बड़ा अभिशाप है। उन्हें जान लेना चाहिए कि बौद्धिक विकास की साधना से जीवन को दो प्रमुख समस्याएँ हल हो जाती हैं। एक तो यह कि व्यक्तिगत विकास के लिए बहुत बड़ा साधन हाथ लग जाता है। दूसरे, समाज-सेवा करने की परम क्षमता प्राप्त हो जाती है।

यहाँ एक और बात पर ध्यान देना आवश्यक है। ज्ञान-वृद्धि का यह अर्थ कदापि नहीं है कि इसके द्वारा व्यक्ति दूसरे का अहित करे। यदि कोई व्यक्ति अपने अगाध ज्ञान के सहारे अपने साथी-नागरिकों को चूसने लगे तो वह कर्त्तव्य-च्युत एवं पथ-भ्रष्ट प्राणी समझा जायगा। पूँजीवादी वर्ग में तो इस रोग का कीड़ा ऐसी गहराई तक घुस गया है कि दूसरों को भी इसका घुसा रहना स्वाभाविक-सा जँचने लगता है। फलतः, दूसरे इसका विरोध नहीं कर उल्टे उसी कीड़े की मारण-शक्ति के शिकार हो जाते हैं। ऐसी दशा में मनुष्य यह भूल बैठता है कि प्रकृति ने उसे मस्तिष्क के रूप में ऐसी अमोघ शक्ति प्रदान की है कि वह भले-बुरे की बात सोच सकता है, समझ सकता है, जान सकता है, प्रयोग में ला सकता है, खोज सकता है और अंत में वह नैसर्गिक आनन्द प्राप्त कर सकता है, जो प्राकृतिक नियमों के पालन करने के पश्चात् स्वतः प्राप्त होता है। ज्ञान के विकास-पथ के सतत् अग्रसर व्यक्तियों के आनन्द का अनुमान नहीं किया जा सकता। उसका सच्चा रस उन्हें ही

मिलता है। सुख-संपन्न होकर जीवन व्यतीत करने में तो आनन्द है ही; मगर अधिकाधिक अभिज्ञान ही सुखी जीवन की कुञ्जी है।

जो हो, अन्त में यही कहा जा सकता है कि सर्वांगीन ज्ञान के विकास-मार्ग पर अग्रसर होना ही यथार्थ मानव-धर्म है। कूप-मंडूकता, अहंमन्यता और दृष्टिकोण-सम्बन्धी संकीर्णता की सँकरी गलियों से निकल कर मनुष्य को नूतन दिव्य प्रकाश के दर्शन करना है। यही सत्य है, यही शिव है और यही सुन्दर है।

जीवन का आदर्श क्या है

इस विशाल विश्व में लाखों करोड़ों प्रकार के प्राणी रहते हैं, जिनमें मनुष्य ही एक ऐसा विवेकशील जीव है, जो जीवन के यथार्थ मूल्य को समझने की क्षमता रखता है। लेकिन, मनुष्यों के भी संस्कारों तथा रुचियों में ऐसी विभिन्नताएँ हैं कि उनके भी जीवन के माप-दंड एक समान नहीं हैं। कुछ ऐसे भी मनुष्य हैं, जिनका विश्वास है कि यह मानव-शरीर बार-बार मिलने को नहीं; इसलिए खूब खाओ, खूब भोग भोगो और मौज की जिंदगी बिताओ—'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' ! ऐसे व्यक्तियों के जीवन में कोई उच्च ध्येय नहीं होता और वे सांसारिक भोग-लिप्साओं में ही लिप्त होकर अपनी जीवन-लीला की इतिश्री कर देते हैं। अतएव, उनके लिए जीवन का आदर्श है—भोग-विलास। इसके विपरीत, कुछ लोगों की मान्यता है कि मानव-शरीर एक दुर्लभ रत्न है, भगवान की देन है और पवित्रतम देन है। अतएव, इसे परमपिता का अनमोल धरोहर समझ कर संयम के साथ इसका उपयोग करना चाहिए। ऐसे लोग जीवन की सरलता

में ही ऊँचे विचार का उदय मानते है। कुछ लोग शहर की शान-शौकत के कायल हैं और शहर के जीवन की तड़क-भड़क के आकर्षण-जाल में फँस कर ऐसा मानने लगते है कि यदि कूपमंडूक का जीवन नहीं बिताना है तो शहर में ही बास ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि वहाँ आराम, भोग-विलास तथा मनोरंजन के सारे साधन उपलब्ध हैं। इसके विपरीत, कुछ लोग गाँव की रहन-सहन में जीवन की सरलता के साथ-साथ विचारों की श्रेष्ठता के दर्शन कर ग्रामीण जीवन को ही आदर्श मानते हैं।

गंभीरतापूर्वक इस पर विचार करने से यह स्पष्ट दीखता है कि आज मानवों के संसार में दो विभिन्न विचार-धराएँ प्रवाहित हो रही हैं। एक को हम भौतिक विचार-धारा कह सकते हैं और दूसरी को आध्यात्मिक। भौतिक विचार-धारा, सच पूछिए तो भारतीय विचार-धारा नहीं है; वह पश्चिम की देन है। उसमें मामव-जीवन की चरम सिद्धि भौतिक वस्तुओं की उपलब्धि और उन्नति तक ही सीमित है। उसकी दृष्टि में अधिकाधिक लिप्साएँ, इच्छाएँ ही अधिकाधिक उन्नति के मार्ग को प्रशस्त रख सकती हैं। इसके विपरीत, आध्यात्मिक विचार-धारा को मान्यता देनेवालों का जीवन-दर्शन कुछ दूसरा ही है। उनका कथन है कि भौतिक सुख-साधनों के अधिकाधिक अविष्कारों ने भले ही दुनिया की काया-पलट दी, लेकिन प्रारंभ में मानव-मानव के बीच जो भाईचारे का, पारस्परिक सहानुभूति का स्वर्गीय सूत्र था वह तो अब टूटता नजर आ रहा है। यंत्रों के आविष्कार के फेर में पड़कर मानव स्वतः यंत्रवत् हो गया है। रात-दिन हाय-हाय करते हुए असमय में ही मृत्यु की गोद में सो रहना तो मानव-जीवन का उद्देश्य कदापि नहीं होना चाहिए। भौतिक सुख में इससे अधिक क्या है? मानव जीवन का तो यथार्थ उद्देश्य होना चाहिए—मानव मात्र का सामूहिक मंगल। मानव-मस्तिष्क

में दास्य-मनोवृत्ति की जो जंग लग गई है, उससे छुड़ा कर, मानव को मोह, कुसंस्कार, परमुखापेक्षिता, क्षुद्र स्वार्थ और अहंमन्यता के चंगुल से बचाते हुए उसे सत्य, न्याय, आत्म-निर्भरता और उदार-भावना के प्रशस्त पथ पर ले चलना और मानव-समाज को ऐसी व्यवस्था के साँचे में ढालना जिससे कि मनुष्य मनुष्य का शोषण नहीं कर सके और उनमें सहयोग की भावना सतत् जाग्रत रहे—यही मानव-जीवन का सार्थक उद्देश्य है।

आध्यात्मिक-जीवन-दर्शन का सिद्धान्त है कि जो जितना संचय करेगा, परिग्रह इकठ्ठा करेगा तथा उसमें आसक्त रहेगा, उसका जीवन उतना ही अशांत और दुखी रहेगा। जीवन का यथार्थ सुख तो त्याग में है, भोग में नहीं। अतएव, अपनी इच्छाओं को, अपनी लालसाओं को नियन्त्रण में रखकर जीविक-निर्वाह के लिए जितना परमावश्यक हो, उतने से ही संतोष कर शांतिमय जीवन व्यतीत करना ही मानव-जीवन का आदर्श होना चाहिए। संक्षेप में, 'सरल जीवन और उच्च विचार' के आदर्श को अपना कर ही मानव अपने वैयक्तिक और सामाजिक जीवन को शांत और सुखी बना सकता है। तभी तो, इसी आदर्श को लक्ष्य कर बौद्ध जीवन-दर्शन में पंच-शील को मान्यता दे रखी है।

लेकिन, आज दुनिया का नकशा इस प्रकार बदल गया है कि मानव भौतिक विचार-धारा की बिलकुल अवहेलना कर नहीं सकता। अब तो दोनों विचार-धाराओं का समन्वय-शिला पर जीवन के नवीन आदर्श की प्रतिष्ठा करनी है। विज्ञान की कृपा से आज ऐसी-ऐसी वस्तुएँ प्रत्यक्ष हो रही हैं कि उन्हें देखकर आश्चर्य-चकित हो जाना पड़ता है। आज मानव आकाश में उड़ते हुए विमानों पर सैर करता है। तार-रेडियो के द्वारा आज जरा-सी देर में हमारी बातें दुनिया के एक छोर से दूसरे छोर पर पहुँच जाती हैं।

आज दिनों और महीनों का मार्ग सेकेंडों और मिटों में तय हो जाता है। और, इन सब का समावेश मानव-जीवन में इस प्रकार हो गया है कि, मनुष्य इसकी उपेक्षा कर नहीं सकता, इनसे अलग रह कर यथार्थ जीवन के दर्शन नहीं कर सकता। आज विज्ञान ने विश्व की विशालता को बहुत ही संकीर्ण कर दिया है और मानव-जीवन की परम आवश्यकताओं का विस्तार कर सरल जीवन की प्राचीन परिभाषा भी बदल दी है। दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि इन वैज्ञानिक आविष्कारों के ऊहापोह में आदमी ऐसा खो-गया है कि जीवन की घुड़दौड़ में किसी आदर्श को निर्धारित करना उसके लिए एक जटिल समस्या बन गया है।

सच तो यह है कि आज के अधिकांश विश्व की दृष्टि बहिर्मुखी हो गई है, अन्तर्मुखी नहीं रह गई है। बाहर की वस्तुएँ हमें दिखाई पड़ती हैं, मगर अपने भीतर की नहीं। मानों बाह्य वस्तुओं में ही विश्व सीमित हो गया है। तभी तो, आज बाह्य-संघर्ष में हम इस तरह उलझे रहते हैं कि अपने अन्तर में सुर-असुर के मध्य—पाप-पुण्य के बीच निरन्तर चलते हुए संघर्ष की ओर ध्यान देने का हमें होश ही नहीं रहता। फलतः, अपनी संस्कृति, अपने शील और जीवन के मूलभूत सिद्धान्तों को हमने विस्मृति के गड्ढे में डाल रखा है; सत्याचरण और कर्त्तव्य-पालन के प्रति हम उदासीन-से हो गये हैं। लेकिन, आज के इस उलझनमय युग में महात्मा गाँधी ही एक ऐसे आदर्श पुरुषोत्तम निकले, जिन्होंने इस बुराई पर गौर किया और हमें बताया कि जिस राह पर मनुष्य इतनी तीव्र गति से दौड़ा जा रहा है, वह मानवता को भटकाने का मार्ग है। सत्य, अहिंसा और प्रेम के मार्ग पर चलकर ही मनुष्य अपना तथा विश्व का मंगल कर सकता है। उन्होंने मानवीय गुणों के विकास पर जोर दिया और बताया कि यदि आदमी अपने को सुधार ले तो समाज

आप-से-आप सुधर जायगा। और, आत्म-सुधार के लिए उन्होंने हमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, सर्व-धर्म-समन्वय, स्वदेशी और अस्पृश्यता-निवारण—से ग्यारह व्रत दिये और दैनिक जीवन में इनका नियमित रूप से पालन करने का निर्देश किया। ये ग्यारहो व्रत भारतीय संस्कृति के आधार-स्तम्भ माने जाते हैं; इन्हीं में समग्र जीवन का शोध आ जाता है और इनका पालन ही जीवन का पवित्रतम आदर्श है।

आदर्श जीवन के सम्बन्ध में पश्चिम और पूर्व की विचार-धारा में बहुत विभेद है। पश्चिम की विचार-धारा परिग्रह-प्रधान है, जब कि पूर्वी विचार-धारा अपरिग्रह पर विशेष रूप से जोर देती है। और, आज मानव को इन्हीं दोनों के समन्वय की आधार-शिला पर जीवन के आदर्श की प्रतिष्ठा करनी है। निरा भौतिकवादी जीवन, स्वार्थ से आवेष्टित होकर, दूसरे के लिए त्याग की मनोवृत्ति को विकसित करने में सर्वथा असमर्थ है; जब कि निपट आध्यात्मिक जीवन भी आज के कर्म-प्रधान युग में अनुकरणीय नहीं हो सकता है। वह युग तो हमें आज स्वप्न-सा प्रतीत होता है, जब कि हमारे प्राचीन तपोवनों का जीवन आदर्श जीवन माना जाता था, जहाँ कुछ साधक एकत्र होकर सीधा-सादा जीवन बिताते थे और मानव-जाति के कल्याण की कामना में निरत रहते थे। और, उसीके अनुरूप विश्व-समाज के प्रति उनका आचरण होता था। लेकिन, आज तो इस विश्व का कण-कण साधना का नहीं, मानवों के वैयक्तिक स्वार्थ का उपादान बन रहा है। लोग यहाँ तक कहने लगे हैं कि हमारा आदर्श तो पैसा है, जिसके बिना आज की दुनिया में रहना भी सम्भव नहीं है—'टका कर्म, टका धर्म, टका ही परमं तपं।'

इसमें संदेह नहीं कि आज दुनिया की जैसी परिस्थिति है, उसमें जीवन के आदर्श का निर्धारण असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन

कार्य अवश्य है; फिर भी हमें निराश नहीं होना है। प्राचीन भारत के त्यागमय तपोवन-जीवन का आदर्श हमारे सामने है; श्रीमद्भागवत गीता में भगवान् श्री कृष्ण द्वारा बताये गये कर्मयोग-प्रधान त्याग-मय-जीवन का आदर्श भी हमें अपनी ओर आकृष्ट कर रहा है; भगवान् बुद्ध के पंचशील-प्रतिष्ठित अहिंसा-प्रधान जीवन का आदर्श भी हमें सत्प्रेरणा प्रदान कर रहा है; अन्त में, इस भौतिकवादी युग में भी विश्व-वंद्य बापू के सत्य, अहिंसा और प्रेम की आधार-शिलाओं पर संस्थापित जीवन के मार्ग का परिचय भी हमें मिल ही चुका है। हम यह भी जानते हैं कि मानव भगवान् की सर्वोत्तम सृष्टि है। इस विशाल विश्व में ऊँचे-ऊँचे विशालकाय पर्वत हैं; उमड़ते हुए अथाह सागर हैं; दूर तक व्याप्त सघन वन कांतर हैं; लेकिन हमें मालूम है कि मानव उन सब से ऊँचा है, महान् है। विश्व में मानव ही यदि नरक की सृष्टि कर सकता है, तो वह स्वर्ग की भी सृष्टि कर सकता है। हाँ, आवश्यकता इस बात की है कि मानव अपने भीतरी सद्‌गुणों का विकास करने की दिशा में सचाई से काम ले। वह समझ ले कि सब के उदय या उत्कर्ष में ही सब की भलाई निहित है। और, यही जीवन का सर्वोत्कृष्ट दर्शन है, सर्वोदय की साधना है। यही साधना जीवन का आदर्श है, जिसमें सत्य की प्रतिष्ठा है और जीवन का प्रत्येक कार्य भगवान् को, जनता जनार्दन को समर्पित है; जिसमें स्वार्थ, घृणा, अहंकार तथा अन्य निंदनीय भावनाओं के लिए कहीं स्थान नहीं है और व्यष्टि की कल्याण-भावना का माप-दण्ड समष्टि की कल्याण-भावना से होती है।

मानव-संस्कृति

मानव एक जीव है। यह अन्य सांसारिक जीवों में सर्वश्रेष्ठ प्राणी माना जाता है। इसकी विशेषताओं के संबंध में कहा गया है कि यह द्विपद जीव है; इसके दो हाथ हैं; यह हँसता और रोता है; इसे हँसने और रोने के लिए, इसे अपनी संवेदनाओं की अभिव्यक्ति के निमित्त वाणी का वरदान मिला है। और, इन सब के परे, इसे उपलब्ध है—चेतना-चर्चित मस्तिष्क— ज्ञान का अक्षय कोष। इन्हीं सब विशेषताओं के सहारे, अपनी सहयोग-मूलक एवं श्रम-साध्य प्रवृत्तियों की पयस्विनी में सतत् प्रवहमान रह कर, मानव अपनी संघर्ष-मूलक प्रवृत्तियों का परिष्कार करता है एवं उन्हें यम-नियम के सूत्रों में आबद्ध कर संयत मानव-समाज का निर्माण करने में अपने को समर्थ पाता है। इसीलिए तो मानव प्रगतिशील सामाजिक प्राणी भी कहलाता है। चेतना मानव की वह सद्सद्विवेकनी शक्ति है, जो विकसित होकर मानव को उसकी प्रवृत्तियों के गुणावगुण तथा लाभालाभ से परिचित कराती है। किस प्रवृत्ति का किस सीमा तक विकास या नियंत्रण किया जाय, जिससे कि मानव पूर्णता की ओर —मानवता की दिशा में—निरंतर प्रगतिशील बना रहे—इसकी अभिज्ञता भी मानव को उसकी चेतना ही प्रदान करती है। इस प्रकार उपर्युक्त साधन-संपन्न मानव अपनी प्रवृत्तियों को शील, संयम एवं अनुशासन की परिधि में मर्यादित कर, प्रगति-पथ पर अग्रसर होने के लिए—सामाजिक परंपराओं की आधार-शिला पर अपनी जीवन-यात्रा की एक लीक का निर्माण करता है। अपनी सद्-सद्-विविकिनी चेतना-शक्ति के सहारे, अपनी प्रवृत्तियों को संयत और अनुशासित रखने के लिए उनके परिष्कारार्थ जो मानवीय प्रक्रियाएँ करनी होती हैं, वे परंपराओं के रूप धारण कर लेती हैं। और, परि-

ष्करण की इन्हीं परंपरागत प्रक्रियाओं को 'संस्कार' कहा गया है तथा परिष्कृत या संस्कृत मानव-प्रवृत्तियों को ही 'संस्कृति' की संज्ञा दी गई है।

संस्कृति के राज-पथ पर मानव सतत् प्रगतिशील रहे—इसी उद्देश्य की सत्प्रेरणा से वैदिक युग के भारतीय मानव ने संस्कारों को बड़ा महत्त्व दिया और व्यक्ति के जीवन-काल की अवस्था पर आधारित, गर्भाधान से लेकर दाह-कर्म तक, सोलह संस्कारों का विधान समाज में प्रतिष्ठित किया। वस्तुतः जीवन के लक्ष्य—पूर्णता—तक पहुँचने के लिए ये सोलहो संस्कार संस्कृति-पथ के एक-एक योजन स्तंभ है। मैथ्यू आरनाल्ड ने भी संस्कृति की व्याख्या करते हुए बताया है कि 'मानव से संबंधित सभी विषयों में—चाहे स्वतः ज्ञान द्वारा, चाहे समय-समय पर विश्व में अन्य मनीषियों द्वारा प्रकट किये गये सर्व-श्रेष्ठ विचारों या प्रवचनों द्वारा—अपनी पूर्णता की प्राप्ति का नाम 'संस्कृति' है।" इससे स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्तित्व की पूर्णता ही मानव का एकमात्र लक्ष्य है और संस्कृति उसका एक-मात्र साधन है। अतएव, संस्कृति की साधना से—अपनी मानवता के सर्वतोमुखी विकास से—ही मानव-पशु मानवता की ओर अग्रसर हो कर यथार्थ मानव कहला सकता है—सर्वश्रेष्ठ प्राणी; अन्यथा वह पशु ही बना रहता है। हाँ, यही संस्कृति और उसकी साधना 'जीवन के सत्य' के दो ज्वाज्वल्यमान स्वरूप हैं, जिनके आकर्षण-सूत्र में आबद्ध होकर ही मानवता टिकी हुई है। हमारे प्राचीन आचार्यों ने इसी सत्य को स्पष्ट करते हुए कहा है कि आहार, निद्रा, भय एवं मैथुन की भावनाएँ पशुओं और मनुष्यों में समान रूप से विद्यमान हैं, लेकिन मनुष्य में धर्म विशेष है, और धर्म से रहित मनुष्य पशु के समान है। यहाँ धर्म का तात्पर्य मानव-संस्कृति से ही है, जो पशु से मनुष्य को पृथक् करती है।

यह तो स्पष्ट हो गया कि अपने चरम लक्ष्य–पूर्णता–की प्राप्ति के प्रयास की स्थिति ही मानव संस्कृति है। लेकिन, अब देखना यह है कि 'पूर्णता' की स्थिति क्या है। प्राचीन भारतीय विचारकों ने चार फलों की प्राप्ति को जीवन का परम ध्येय माना है। ये चारों फल हैं —अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष। जो व्यक्ति इन चारों फलों को प्राप्त कर लेता है या जिसके लिए ये चारों फल सुलभ हैं, वही पूर्ण मानव समझा जा सकता है। अतएव, भारतीय विचार-धारा के अनुसार विवेक पर आधारित इन्हीं चारों फलों की प्राप्ति को पूर्णता की स्थिति कहा जा सकता है। इन चारों फलों में अर्थ और काम को भौतिक सुखों की स्थिति कहा गया है और धर्म एवं मोक्ष को आत्मिक या आध्यात्मिक सुख—परमानंद—माना गया है। इसी विचार-धारा से मिलती-जुलती एक दूसरी भारतीय विचार-धारा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'सत्य, शिव और सुंदर' की प्राप्ति ही मानव की पूर्णता की स्थिति है। अतएव, सत्य की आधार-शिला पर 'शिव' या 'लोक-कल्याण' के 'सत्य'-भवन का निर्माण कर उसमें 'सुंदर' अर्थात् उत्कृष्ट कला की प्राण-प्रतिष्ठा करना ही मानव का परम ध्येय है, चिर आकांक्षा है और मानवों का जो समाज इस ध्येय की प्राप्ति में जितनी सफलता प्राप्त कर सका है, उतना ही उसकी संस्कृति का विकास माना जाता है। और, यही कारण है कि किसी समाज-विशेष के धर्म, कला, साहित्य, अर्थ, राजनीति आदि के विकास को ही हम उस समाज की संस्कृति का मापदंड मानते हैं।

लेकिन. सत्य, शिव एव सौंदर्य-समन्वित अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष की प्राप्ति मानव की व्यक्तिगत नहीं, वरन् समष्टिगत साधना से ही संभव है और यही समष्टिगत मानवीय साधना संस्कृति के रूप में प्रस्फुटित होकर विकास की ओर अग्रसर होती है। तभी तो, सम्मिलित हित पर आधारित उन मानव-संस्कारों के समूह को भी संस्कृति

की संज्ञा दी जा सकती है, जो मनुष्यों को एक साथ मिल कर रहना, काम करना, और अपने श्रम के फल का उपयोग करना सिखाते हैं। और, इस दृष्टि से विश्व-प्रेम, विश्व-मानवता को मानव-संस्कृति का मूलाधार कहा जा सकता है। वस्तुतः मानव-पूर्णता के लिए समाज का सामंजस्यपूर्ण विकास परमावश्यक है। पूर्ण विकसित समाज में ही व्यक्ति पूर्णता को प्राप्त कर सुसंस्कृत मानव का पद ग्रहण कर सकता है। अतएव, संस्कृति व्यक्तिगत भी है और समष्टिगत भी।

संक्षेप में, संस्कृति का अर्थ है—मानवता का सर्वतोमुखी विकास, समाज के सभी अंगों का और व्यक्ति के पूर्ण जीवन का विकास। और, इस संस्कृति के शिलान्यास में सामाजिक भावना-प्रेरित सहयोग-मूलक मानव-श्रम का बड़ा भारी हाथ रहा है। और, चूँकि प्रकृति मानव की धात्री है और वातावरण उसका नियामक—गढ़नेवाला; इसीहेतु देश-काल के तकाजों के अनुसार वातावरण में ढलती हुई मानव-रुचियों में जो भिन्नताएँ देखी जाती हैं, उन्हीं को हम संस्कृतियों के भिन्न-भिन्न स्वरूप के नाम से पुकारते हैं; लेकिन यह भ्रम है। सारे विश्व की मानव-संस्कृति में मूलतः कोई विभेद नहीं है; और, न होना चाहिए।

हम और हमारे संस्कार

हम मनुष्य हैं—संसार का सर्वश्रेष्ठ प्राणी, संवेदनशील जीव, विधाता की सृष्टि का सर्वोत्तम रत्न। लेकिन, मनुष्य बनने के लिए हमें बहुत कुछ सीखना पड़ता है और यह सीखने की प्रवृत्ति हमारा स्वाभाविक गुण है। इसी गुण के विकास के लिए हमने समाज का

निर्माण किया है। हाँ, यदि मानव के एक नवजात शिशु को केवल प्रकृति के ही भरोसे जीने और मरने के लिए छोड़ दिया जाय, उसे मानवोचित स्वभाव को विकसित करने का अवसर नहीं दिया जाय, तो वह वयस्क होने पर भी किसी दूसरे मनुष्य से बातचीत तक नहीं कर सकेगा—भले ही कुछ अटपटी ध्वनियाँ अपने मुँह से निकाल ले। आवश्यक सामाजिक शिष्टाचार तो क्या, सीधा खड़ा होना भी वह नहीं सीख पावेगा। दूसरे मनुष्यों को अपनी ही जाति का जीव समझने की क्षमता भी कदाचित् ही उसे प्राप्त हो सकेगी। भेड़िये की माँद में पले हुए भेड़िया-बालक की कहानी प्रायः सर्व-विदित है। मनुष्य-जाति का जीव होकर भी उसके और भेड़िये के स्वभाव में कोई भेद नहीं रह गया था—मनुष्य होकर भी वह पशु बना हुआ था।

जो हो, मानवता की लीक पर मनुष्य का जीवन-रथ सतत् प्रगति-शील रहे, आगे की ही ओर बढ़ता चले—इसी की सत्प्रेरणा से ही मानव ने, परिस्थिति तथा वातावरण के अनुकूल, अपने को समाज-बद्ध किया और समाज-हित पर आधारित अपनी मानवोचित प्रक्रियाओं को परम्पराओं के रूप में प्रतिष्ठित कर, अपनी जाति के जीवों को उन्हें अंगीकार करने का सुअवसर प्रदान किया। अतएव, समाज के सर्वाङ्गीन विकास के साथ-साथ व्यक्ति के निजी विकास की दिशा में जो मानवीय प्रचेष्टाएँ या प्रक्रियाएँ परिष्कार की खराद पर चढ़कर परम्पराओं के रूप में समाज में प्रतिष्ठित हो जाती हैं, वे ही हैं मानव-संस्कार—मानव के सुसंस्कृत कर्म-विधान। और, इन्हीं मानव-संस्कारों की समष्टि को हम मानव-संस्कृति कहते हैं।

लेकिन, यद्यपि काम, क्रोध, मोह, लोभ, भय, लज्जा आदि मूल प्रवृत्तियाँ प्रकृत रूप में, सभी मानवों एवं मानव जातियों में पाई जाती हैं; फिर भी, उनकी अभिव्यक्ति के स्वरूप भिन्न-भिन्न होते हैं।

और, इसका कारण यही है कि मानव-शरीर तथा मानव-मस्तिष्क कुछ ऐसे बने होते हैं कि, जिस परिस्थिति और जिस वातावरण में वह रहता है, उसी के अनुकूल वह रहना और सोचना भी सीखता है। और, यही कारण है कि देश, काल तथा पात्रता के अनुसार मानव-संस्कारों में भी विभिन्नता आ जाती है। अतएव, मोटे तौर से मानव-संस्कार मनुष्य की उन आदतों को भी कहा जा सकता है, जिन्हें बचपन से ही वह सीखता आया है। फलतः, मनुष्य की एक जाति का संस्कार दूसरी जाति के संस्कार से भिन्न देखा जाता है; एक देश का मानव-संस्कार दूसरे देश के मानव-संस्कार से भिन्न होता है; यहाँ तक कि मनुष्य मनुष्य के संस्कार में भी, यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो, भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जन्म से ही मानव-शिशु अपने समाज के तौर-तरीके, रहन-सहन, रीति-रिवाज आदि सीखने लगता है और आगे चलकर उन्हें अंगीभूत कर उन्हीं के अनुसार वह बन जाता है। हाँ, व्यक्तिगत विशेषताओं के कारण शिक्षा, परिस्थिति और वातावरण का प्रभाव प्रत्येक व्यक्ति पर भिन्न-भिन्न रूप से या न्यूनाधिक मात्रा में अवश्य पड़ता है।

प्रत्येक मानव-समाज में कुछ व्यक्ति विशेष मानवीय गुणों से भी युक्त पाये जाते हैं—चाहे वे अमेरिका में जन्म लें, चाहे चीन या रूस में; भारत में या अफ्रीका के हब्शी कुल में। यही क्यों, एक ही परिवार में एक व्यक्ति प्रतिभा-सम्पन्न हो सकता है तो दूसरा निपट भोंड़ा। अतएव, यह धारणा भी सर्वथा मिथ्या है कि समाज-विशेष या देश-विशेष के लोग दूसरों से मूलतः अधिक बुद्धिमान और प्रतिभाशाली होते हैं। हाँ, इतना कहा जा सकता है कि समाज-विशेष या देश-विशेष में शिक्षा तथा संस्कृति का ऊँचा स्तर होने के कारण उस समाज या देश के लोगों को अपना विकास करने की विशेष

सुविधा मिल जाती है और इसलिए वे अधिक शिक्षित और सभ्य कहलाने लगते हैं। दृष्टांत के लिए, यदि कोई बच्चा ऐसी जाति में उत्पन्न हो, जो अंकों से परिचित नहीं हो, उँगलियों पर या निशानों के जरिये दस-दस का ही लेखा-जोखा करती हो, तो वह बच्चा कितना ही प्रतिभाशाली क्यों न हो, और गणित की योग्यता उसमें चाहे जितनी भी हो, वह वैसा गणितज्ञ नहीं बन पावेगा, जैसा सभ्य तथा शिक्षित कहलानेवाले देशों में उत्पन्न साधारण बुद्धि का भी एक बच्चा बन सकता है। इटली के निवासी संस्कार से ही अधिक भावुक, कलाप्रिय एवं उग्र स्वभाव के होते हैं; लेकिन यहीं के किसी बच्चे को जन्म से ही किसी दूसरे देश के समाज में रखकर पाला-पोसा जाय, तो वह पूरा हिसाबी, बहुत सोच विचार करनेवाला और नम्र प्रकृति का भी बन सकता है।

नर-नारी के सम्बन्ध और आचरण के विषय में प्रत्येक जाति में नियम हैं, जिससे कि अल्प-वयस्कों की रक्षा हो सके; विवाह की मर्यादा का निर्वाह किया जा सके और एक ही वर्ग के व्यक्तियों में नर अथवा नारी को लेकर अनुचित प्रतिस्पर्द्धा अथवा विद्रूप विरोध की भावना को बलवती होने का अवसर नहीं मिल सके। इसी प्रकार, श्रम के विभाजन की समस्या भी प्रत्येक जाति को अपने-अपने सामाजिक वातावरण के अनुकूल ही हल करना पड़ता है। कौन भोजन की व्यवस्था करेगा, कौन गृह-कार्य करेगा, कौन शत्रुओं से समाज की रक्षा करेगा एवं कौन लेखन-कार्य—इसके नियम प्रत्येक समाज में हैं। लोग आपस में लड़ें नहीं, एक दूसरे की वस्तु चुरायें नहीं, दूसरे की पत्नी पर लोभ न करें—इत्यादि सामाजिक व्यवस्था ठीक रखने के विधान भी प्रत्येक देश या जाति में पाये जाते हैं—चाहे वह जाति निपट असभ्य जंगली जाति हो, अथवा बड़ा-से-बड़ा सुसभ्य राष्ट्र। सामाजिक विधानों का उल्लंघन करनेवाले पर

भी प्रत्येक समाज में दण्ड की व्यवस्था है, भले ही दण्ड के रूप में भिन्नता हो। दृष्टांत के लिए, एक ही कोटि के अपराध के लिए कहीं मृत्यु-दण्ड का विधान है, तो कहीं देश-निकाला या कारावास का अथवा कहीं मात्र धूप में बैठने की सजा का विधान। और, अपराध का अनुभव भी तो सभी जातियों में एक-सा नहीं होता। कभी-कभी तो जो बात एक स्थान पर घृणित, निंदास्पद तथा कुकृत्य समझी जाती है, वही दूसरे स्थान पर कर्त्तव्य मानी जाती है। कहीं पर पति-पत्नी के यौन-सम्बन्ध के अतिरिक्त यौन-सम्बन्धों को निकृष्टतम अपराध माना जाता है तो कहीं हल्के ढंग से इन पर विचार किया जाता है। समोअन जाति में यौन-सम्बन्ध को अनुचित नहीं मान कर इसे मात्र आनन्द-प्राप्ति का साधन समझा जाता है, जब कि संथाल आदि वन-जातियों में अनुचित करार दिये गये यौन-सम्बन्ध के अपराधी को कठोरतम दण्ड का भागी बनना पड़ता है।

लज्जा और आनन्द का अनुभव भी भिन्न-भिन्न जातियों के लोगों में भिन्न-भिन्न तरीकों से किया जाता है। कौन-से लोग किस बात पर खुश होंगे और किस बात पर लज्जित—यह बहुत-कुछ उनके संस्कारों पर ही निर्भर करता है। अमरीका की एक 'रेड इण्डियन' जाति में ग्लानि या लज्जा की भावना इतनी प्रबल थी कि, यदि नाव चलाते वक्त एक डाँड़ भी टूट जाय, तो नाविक नदी में कूद कर अपनी आत्म-हत्या कर लेता था, चाहे उसे किसी ने देखा भी न हो। शोक-प्रकट करने के लिए चीन के लोग उजले रंग का प्रयोग करते हैं, तो पाश्चात्य देशों में शोक का प्रतीक काला रंग है। भारत में भी उजला रंग ही शोक का सूचक है, यहाँ कफन उजले ही रंग का होता है। संसार की अधिकांश जातियों में मृत्यु के समय रोने-पीटने का रिवाज है, तो साइबेरिया की 'कोर-मान' जाति के लोग मृत्त व्यक्ति की लाश पर ताश खेलते और

हँसते-गाते हैं। अधिकांश भारतीय समाजों में तथा यहूदियों में शोक पड़ने पर गला फाड़-फाड़ कर रोने-चिल्लाने की प्रथा है, जिससे कि लोग उन्हें सान्त्वना दे सकें। इसके विपरीत, कुछ जातियों में मृतक के अंतिम संस्कार के समय खुशियाँ मनाये जाते हैं।

मानव ने युद्ध की प्रवृत्ति को प्रश्रय देकर इसे अत्यधिक विकसित तो अवश्य कर रखा है, लेकिन इसे हम मानवों का सुसंस्कार नहीं कह कर कुसंस्कार ही कहेंगे। मानव के सारे संस्कार उसकी सहयोग-भावना की पृष्ठभूमि पर ही पनपते हैं और उन्हें मानव-स्वभाव से अटूट सम्बन्ध रहता है। यहाँ तक कि मानव अपनी सहजात प्रवृत्ति संघर्ष को भी संयत रूप से शान्ति की गोद में ही विकसित रूप देने को सतत् प्रयत्नशील रहता है। लेकिन, जब यही संघर्ष-प्रवृत्ति मानव की कुसंस्कार-जन्य स्वार्थ-बुद्धि का सहारा पाती है, तब हिंसा के रूप में परिवर्तित होकर युद्ध की प्रवृत्ति को उत्प्रेरित कर देती है। अतएव, युद्ध की परम्परा निश्चित रूप से पाशविक प्रवृति है; मानव-स्वभाव का इससे कोई अटूट सम्बन्ध नहीं है। जब स्वार्थ की प्रबल प्रवृत्ति मानव-मस्तिष्क को ग्रसती है, तभी युद्ध की प्रवृत्ति को प्रश्रय मिलता है। और, यही कारण है कि आज तक भी जब तक कि साधारण लोगों को प्रलोभन आदि देकर उत्तेजित नहीं किया जाता, तब तक वे सैनिक बनकर जूझने को तैयार नहीं होते हैं। मानव शांति का उपासक है, इसलिए युद्ध की परम्परा को मिटाना असम्भव नहीं है।

यह निर्विवाद है कि मानव शांति और सुख चाहता है; इन्हीं की खोज में, प्रारम्भ से ही, वह परीशान है, सचेष्ट है; लेकिन उसकी स्वार्थ-भावना-प्रेरित पशु-प्रवृत्तियाँ उसे सफलता के अन्तिम सोपान पर पहुँचने में बाधक बनी रहती है। फिर भी, वह आगे ही बढ़ता जा रहा है; उसकी चेतना क्रम-क्रम से उसके संस्कारों को अधिकाधिक

परिष्कृत करती जा रही है। और, यह निश्चित है कि एक-न-एक दिन वह अपने चरम ध्येय—पूर्णता—को प्राप्त कर ही दम लेगा।

ज्ञानेन्द्रियों का विकास

स्पर्श, स्वाद, गंध, श्रवण और दृश्य—इन पाँचों शक्तियों के अनुभव प्राप्त करने के पाँच साधन मानव-शरीर में समन्वित हैं, जो पंचेन्द्रियों के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये हैं—त्वचा, जिह्वा, नाक, कान और आँखें। और, चूँकि ये पाँचों इंद्रियाँ चेतन हैं, संवेदनशील है, इसलिए इन्हें ज्ञानेन्द्रिय भी कहा जाता है। मनुष्य इन पाँचों इन्द्रियों को विकसित कर अपनी पाँचों चेतन-शक्तियों की वृद्धि कर सकता है या नहीं; और, यदि वृद्धि कर सकता है तो कहाँ तक?—यह प्रश्न मनोविज्ञान-वेत्ताओं के लिए विचारणीय, है। कुछ मनोविज्ञान-वेत्ताओं के अनुसार भूत-काल में मनुष्य को केवल पीला और नीला रंग दिखाई देता था और कालांतर में उसे लाल और हरे रंग की जानकारी प्राप्त हुई। इसी प्रकार भविष्य में भी यह बहुत सम्भव है कि, पंचेन्द्रियों की शक्ति बढ़ जाय। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि, यदि पंचेन्द्रियों की शक्ति बढ़ गई, तो सारी सृष्टि पूर्णरूप से बदल जायगी। और, इस बदली हुई सृष्टि का कल्पना-चित्र वस्तुतः बड़ा ही सुखद है।

वर्तमान-काल में मनुष्य की उँगलियाँ सबसे अधिक स्पर्श का अनुभव करती हैं और पीठ सबसे कम। यदि भविष्य में मनुष्य का सारा अंग उसकी उँगलियों के समान ही बन जाय, तो मखमल से मुलायम वस्त्र भी उसे खुरदरे और आकर्षणहीन मालूम होंगे। यदि

यह स्पर्श-संवेदन अत्यंत तीव्र हो जाय, तो हवा में मिले हुए धूल के कण शरीर में अवश्य ही गड़ने लगें और सारे शरीर को तकलीफ होगी।

यदि जिह्वा की स्वाद शक्ति बढ़ जाय, तो आनंद की वृद्धि होगी। इस समय हम खट्टा, मीठा, खारा, तीखा आदि कुछ स्वादों का अनुभव करते हैं; लेकिन, स्वाद-शक्ति के बढ़ जाने पर खान-पान के पदार्थों की संख्या भी बढ़ जायगी।

गंध-शक्ति के बढ़ जाने पर लाभ के साथ ही हमें हानि भी कम नहीं होगी। आजकल म्युनिसपैलिटी या नगर-पालिका की अव्यवस्था से उत्पन्न गदंगी का हम प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। ऐसी स्थिति में, यदि गंध-शक्ति तीव्र हो जाय, तो बाजारों से निकलना असम्भव-सा बन जायगा। किन्तु साथ हो, हम अनेक प्रकार की सुगंधों को सूँघने का सुअवसर भी प्राप्त कर सकेंगे। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार कुत्ते तथा अन्य प्राणी सूँघ कर अपने मित्र या शत्रु का पता लगा लेते हैं, उसी प्रकार मनुष्य भी, सूँघने की शक्ति के बढ़ने पर, अपने मित्रों और शत्रुओं को पहचान सकेगा। तब किसी के मन में कोई द्वेष-भावना हुई, तो सामनेवाले व्यक्ति से वह छिपी नहीं रहेगी। पुलिस को चोर पकड़ने के लिए अधिक कष्ट नहीं उठाना पड़ेगा। चोर को सूँघ कर ही वह पहचान लेगा। सरकार के मद्य-निषेध-विभाग को तो बहुत लाभ होगा। सूँघने की शक्ति बढ़ जाने पर सरलता से पता चल जाया करेगा कि, कौन व्यक्ति शराब पीये हुए है, शराब ले जा रहा है अथवा शराब की भट्टी कहाँ चल रहा है! संक्षेप में, वैयक्तिक आनंद के साथ-साथ सामाजिक कल्याण की सम्भावना भी इसमें छिपी हुई है।

श्रवण-शक्ति के बढ़ने से भी अनेक लाभ होंगे। साथ ही, कुछ हानियों का भी सामना करना पड़ेगा। सुनने की शक्ति तीव्र होने पर, अत्यंत धीमी आवाज भी सुनाई देने लगेगी और तब किसी भी

व्यक्ति के समक्ष कुछ दूरी पर खड़ा रहनेवाला व्यक्ति गुप-चुप बातें नहीं कर सकेगा। मनुष्य को अनवरत कोई ध्वनि सुनाई देती रहेगी और जब वह यह जानने के लिए कि, आवाज कहाँ से आ रही है, चारों ओर देखेगा, तो उसे कोई नहीं दिखाई देगा। इसका एक कारण है। वायुमंडल में हवा के कण सदा इधर-उधर दौड़ते रहते हैं। आज हवा में होनेवाली कणों की इस नर्तन-क्रिया की ध्वनि हमारे कान नहीं सुन सकते; लेकिन जब सुनने की शक्ति बढ़ जायगी, तब मनुष्य को सदा ऐसा आभास होगा, मानो कहीं से आवाज आ रही है। इस समय मनुष्य प्रति सेकेंड में २० से २०,००० कम्पन-ध्वनि सुन सकता है। इससे अधिक कम्पन-ध्वनि मनुष्य को सुनाई नहीं देती। लेकिन, जब वह २०,००० से अधिक कम्पन-ध्वनि सुनने में समर्थ हो जायगा, तो निसर्ग के अनेक स्वर उसे सुनाई देने लगेंगे और निसर्ग की नवीन माधुर्य-पूर्ण ध्वनियाँ सुनकर निश्चय ही उसका मन-मयूर नाच उठेगा। आज जिन छोटे कीड़ों को हम देख भी नहीं सकते, उसकी विचित्र ध्वनि सुनकर हमें एक नये प्रकार का अनुभव होगा। साथ ही, श्रवण-शक्ति बढ़ने पर वाद्य-यंत्रों की संख्या भी बढ़ जायगी और उन यंत्रों से निकलनेवाले सुर भी आज की अपेक्षा अधिक हो जायँगे। नये सुरों का जन्म देने के लिए वाद्य-यंत्रों के आकार में वृद्धि करनी होगी। उदाहरणार्थ, हारमोनियम अथवा पियानो-जैसे वाद्य-यंत्र का आकार काफी बड़ा हो जायगा।

लेकिन, सबसे महत्त्वपूर्ण और मनोरंजक अंतर मनुष्य की देखने की शक्ति में होगा। पंचेन्द्रियों में नेत्र ही सबसे अधिक उपयोगी माने गये हैं। इस समय जितनी दूर तक हमें दिखाई देता हैं, उससे कहीं अधिक दूर तक नेत्रों की शक्ति बढ़ जाने पर हम देख सकेंगे तथा इस समय जितनी सूक्ष्म या बारीक वस्तु हम देख सकते हैं, उससे अधिक सूक्ष्म वस्तु उस समय हमें दिखाई देगी। अधिक दूर तक

दिखाई देने पर रास्तों पर होनेवाली दुर्घटनाओं की संख्या में कमी हो जायगी तथा क्रिकेट-मैच या घुड़दौड़ देखने के लिए दूरबीन लगाने की आवश्यकता नहीं रह जायगी।

इस समय प्रकाश में न दीखनेवाली अदृश्य वस्तुएँ भी आगामी वर्षों में हमें दीखने लग जायँ, तो दुनिया में काफी परिवर्तन हो जाय। मनुष्य को इस समय सात रंगों का ज्ञान है; लेकिन इन सात रंगों के दूसरी ओर अनन्त प्रकाश का दृश्य भाग वर्तमान रहता है। उदाहरणार्थ, लाल रंग के दूसरी ओर अतिरिक्त (इन्फ्रा-रेड) किरणें रहती हैं। श्वेत शुभ्र प्रकाश में करीब-करीब सारी उष्णता समाई रहती है और इसलिए इसे 'उष्ण-किरण' भी कहते हैं। इस समय ये किरणें मनुष्य को दिखाई नहीं देतीं। यदि ये किरणें दिखाई देने लग जायँ, तो मनुष्य का बहुत लाभ हो। उस अवस्था में डाक्टरों को अपने साथ थर्मामीटर रखने की आवश्यकता नहीं रहेगी। नेत्रों के समक्ष यदि रोगी खड़ा रहेगा, तो उसे देख कर ही उसकी उष्णता का पता लग जायगा। रात्रि के अंधकार में भी शरीर की उष्णता के कारण मनुष्य एक-दूसरे को आसानी से देख सकेंगे और फिर शायद चोरियों की संख्या भी घट जायगी। इसके अतिरिक्त इस किरण के प्रभाव से दूर रेडियो-स्टेशन से निकलनेवाली तरंगें, जो आज अदृश्य हैं, दिखाई देने लगेंगी। इसका प्रभाव यह होगा कि, दूर के रेडियो-स्टेशन हमारी दृष्टि में सरलता से आ जायेंगे। पूना या दिल्ली-रेडियो-केन्द्र भिन्न-भिन्न प्रकार का आभास देंगे; क्योंकि प्रत्येक केन्द्र से भिन्न-भिन्न प्रकार की लम्बाई की रेडियो-तरंगें फेंकी जाती हैं।

जामुनी रंग के दूसरी ओर के अदृश्य भाग भी दिखाई देने लगें, तो और भी आनन्द आये। जामुनी रंग की अदृश्य किरणें (अल्ट्रा-वायलेट) यदि दिखाई पड़ने लगें, किसी चेक पर मिटाये

हुए अक्षरों का पता लगाने के लिए या उसकी परीक्षा करने के लिए उसे सिर्फ़ सूर्य के प्रकाश में रख देना होगा।

यदि 'क्ष'-किरण दिखाई देने लग जाय, तो 'क्ष'-किरण-चिकित्सा के लिए छाया-चित्र निकालनेवाले की कोई आवश्यकता नहीं रह जाय। किसी भी रोगी को 'क्ष'-किरण-यन्त्र के समक्ष खड़ा करने पर डाक्टर अपनी इन्हीं आँखों से रोगी के शरीर के भीतरी विकार के दृश्य को सरलता से देख सकेगा। यदि 'क्ष'-किरण के दूसरी ओर की अद्भुत विश्व-किरण (कास्मिक-किरण) नेत्रों से दिखाई देने लगे, तो दुनिया में कोई वस्तु अदृश्य न रह जायगी; क्योंकि विश्व-किरण बड़े-बड़े पहाड़ों को पार करने की शक्ति रखती है। उस दशा में बड़े-बड़े खड्डों में भी अन्धकार नाम-मात्र के लिए नहीं रहेगा। लेकिन, इसके साथ ही, प्रति सेकेंड स्वयं मनुष्य के शरीर से इस किरण के आरपार होने के कारण जो दृश्य दिखाई देगा, वह बड़ा विचित्र होगा। ऐसी किरणों से आसपास के व्यक्तियों के शरीर में कभी-कभी चलनी के समान छिद्र भी दिखाई देंगे।

उपर्युक्त पाँच इन्द्रियों के अतिरिक्त एक छठी इन्द्रिय (सिक्स्थ सेंस) भी है, जो अगम्य है और जिसे हम अतीन्द्रिय कह सकते हैं। कुछ वैज्ञानिकों को ऐसा प्रतीत होता है कि, यदि मनुष्य प्रयत्न करे, तो इस छठी इन्द्रिय का विकास हो सकता है या इसकी तीव्रता बढ़ सकती है। विशेष स्पष्टीकरण करने के लिए इसे विचार-संक्रमण-सम्बन्धी इन्द्रिय माना जा सकता है। इस इन्द्रिय या शक्ति के कारण इस समय भी कुछ व्यक्ति दूसरों के मन की बात जान सकते हैं। मन के विचार जानने के अतिरिक्त ऐसे लोग दूर घटी हुई घटना की सूचना भी प्राप्त कर सकते हैं। कुछ वर्षों पूर्व ऐसी बातें करनेवालों को लोग मूर्ख मानते थे; लेकिन इधर सुप्रसिद्ध मनोविज्ञान-वेत्ताओं ने

काफी शोध-कार्य के पश्चात् इस तथ्य में विश्वास करना आरम्भ कर दिया है।

कुछ विद्वानों का ऐसा विश्वास है कि, प्राचीन काल में इस शक्ति का बहुत विकास हुआ था; लेकिन जब से लोगों ने अधिक बोलना शुरू कर दिया है, उनकी यह शक्ति लुप्त होती जा रही है। साथ ही. यह भी बहुत सम्भव है कि, यदि प्रयत्न किया जाय, तो यह शक्ति फिर से विकसित हो जाय। उस स्थिति में मनुष्य दूसरे के मन के विचारों को समझने लगेगा और तब 'गुप्त विचार' नाम की कोई चीज नहीं रह जायगी। दूसरों को धोखा देना, अपने जाल में फँसा लेना, किसी भी आदमी के लिए असम्भव-सा बन जयगा। कोई भी व्यक्ति या राष्ट्र, किसी भी व्यक्ति या राष्ट्र के साथ गुप्त बातें नहीं कर सकेगा। युद्ध की सम्भावना बहुत कम हो जायगी। और, तब निश्चय ही सम्पूर्ण विश्व में शांति का साम्राज्य फैल जायगा।

मित्र बनाने की कला

पारस्परिक सहयोग तथा सद्भावना की प्रवृत्ति के प्रावल्य ने ही मानव-समाज में मित्रता-जैसे गुण की सृष्टि की है। और, विपत्ति-काल में तथा जटिल समस्याओं के समाधान के अवसर पर निस्वार्थ-भावना-प्रेरित सहायता तथा सहानुभूति-प्रदर्शन ही मित्रता का सक्रिय विधान है। इसी हेतु ऐसा कहा जाता है कि जो बिना हिचक भारी-से-भारी विपत्ति में भी, अपने स्वार्थ की हानि उठा कर भी, सहायता-प्रदान करने को प्रस्तुत रहता है, वही सच्चा मित्र है। लेकिन, अक्सर लोग ऐसी शिकायत करते पाये जाते हैं कि, सच्चे मित्र नहीं मिलते;

जो मिलते हैं, वे सब समय साथ नहीं देते। लेकिन सच्चे मित्रों को पाने के लिए हमारे अपने व्यक्तित्व में भी कुछ विशेषताओं का होना आवश्यक है, यह बहुत कम लोग समझ पाते हैं। मैत्री प्राप्त करने की स्वयं हम में कितनी पात्रता है, वस्तुतः यही विचारणीय प्रश्न है; क्योंकि हमारे घर-परिवार के लोग तो, हम जैसे भी हैं, वैसे ही निभा लेते हैं; परन्तु बाहर के लोग हमारी खामियों को क्यों बर्दाश्त करने लगें? लोगों के प्रति हमारा अपना व्यवहार ही उन्हें मित्र या अमित्र बनाता है। इसलिए आइए, हम पहले अपने मन को ही टटोलें कि हम स्वयं मैत्री के कैसे पात्र हैं! नीचे दिये हुए प्रश्न का उत्तर 'हाँ' या 'न' में दीजिए और अन्त में दिये हुए उत्तरों से मिलाकर अपनी पात्रता का सही पता लगा लीजिए।

१. क्या आप अपनी वेश-भूषा और आकृति को इतनी सुव्यवस्थित रखते हैं कि बाहर किसी के साथ दिखाई पड़ने पर आप बुरे और अव्यवस्थित न लगें।

२. क्या आप लोगों पर यह प्रकट करते हैं कि उनसे मिलकर आपको बड़ी प्रसन्नता हुई?

३. क्या आपके व्यवहार से उन्हें यह अनुभव होता है कि आप उनकी मैत्री की कद्र करते हैं?

४. क्या आप उन बातों में रुचि रखते हैं, जिनमें अधिकांश लोग प्रायः रस लिया करते हैं?

५. क्या आप, लोगों से सम्बन्ध बनाये रखने के लिए, उनके पत्रों के उत्तर बराबर देते हैं, किसी को समय देने पर उसकी पाबन्दी रखते हैं और मित्रों को अपने यहाँ बुलाते और उनके यहाँ बराबर आया-जाया करते हैं?

६. क्या आप सामाजिक कार्यों में भाग लेते हैं अथवा लोगों के साथ उनके कामों में हाथ बटाते हैं?

७. पैसे के बारे में क्या आप आत्मत्याग को अपनाते है—अर्थात् अपने हिस्से को और यदि सम्भव हो, तो उससे भी कुछ अधिक खर्च करने को बराबर तैयार रहते हैं ?

८. क्या आप किसी की सहायता के लिए सदा अपनी सेवाएँ अर्पित करने को प्रस्तुत रहते हैं ?

९. क्या आप लोगों की उत्सुकता एवं महत्त्वाकांक्षाओं को दबाने के बजाय उन्हें प्रोत्साहन देते हैं ?

१०. क्या आप लोगों पर हुक्म चलाने की अपनी प्रवृत्ति को बराबर रोकते हैं ?

११. क्या आप अपने मित्रों का परिचय लोगों से करवाने और उनकी संगति का लाभ दूसरों के साथ उठाने को सदा तत्पर एवं इच्छुक रहते हैं ?

१२. क्या लोग आपको अपनी व्यक्तिगत बातें बताकर भी निश्चिंत रह सकते हैं कि आप उन्हें गोपनीय रख सकेंगे ?

१३. क्या लोगों को यह विश्वास है कि आप अपने वादे पूरे करने में सदैव अग्रसर रहते हैं ?

१४. समाज में कलह और अशांति की प्रसारक अफवाहें फैलाने और इधर की बात उधर करनेवाले व्यक्ति न होकर, क्या आप ऐसे व्यक्ति हैं, जिसका प्रभाव सामाजिक सुख-शांतिवर्द्धन में होता है ?

१५. क्या आप अपने मिजाज और गुस्से पर नियंत्रण रख सकते हैं, अपने मन पर नियंत्रण रख सकते हैं ?

१६. कष्ट एवं रोग के विषय में शिकायत करते रहने की प्रवृत्ति को क्या आप रोक पाते हैं ?

१७. दूसरों की बातों को क्या आप सहानुभूति से सुनते हैं ?

१८. लोगों की प्रशंसा और गुणग्राहकता में क्या आप उदारता से काम लेते हैं ?

१९. क्या आप लोगों पर यह प्रकट करते हैं कि आप उन्हें पसन्द करते हैं ?

२०. क्या आप सदा उदार एवं विनीत बने रहते हैं ?

प्रत्येक 'हाँ' के लिए पाँच अंक प्राप्त कीजिए। ६०-७० तक अंक संतोषजनक हैं; लेकिन आपको ७० से अधिक प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। ६० से कम अंक पर्याप्त नहीं। जितने भी उत्तर नकारात्मक हैं, उन्हें सुधारने का प्रयास करें। तभी आप मित्र बनाये रखने की कला में कुशल समझे जायेंगे।

परिवार और उसका परिवर्तित स्वरूप

परिवार समाज की इकाई है; क्योंकि व्यक्तियों का यह सबसे छोटा संगठित समूह हैं और सामाजिक परिवर्तनों में सबसे स्थिर वस्तु है। इतिहास के आदिकाल से ही परिवार का अस्तित्व रहा है और अत्यन्त आदिम मनुष्यों में भी—यहाँ तक कि बनमानुसों और चिड़ियों में भी—पारिवारिक सम्बन्ध रहता था। मानव-समाज की विभिन्न संस्थाओं में परिवार का प्रधान स्थान रहा है। बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार इसमें परिवर्तन होते हुए भी, इसने अपने आधारभूत स्वरूप एवं कार्यों में परिवर्तन नहीं होने दिया है।

वर्त्तमान समय में तो परिवार से पति-पत्नी और उनके बच्चों का ही बोध होता है। पर पृथ्वी पर जब से मानव का आगमन हुआ, तब से लेकर आज तक के समय को समाज-शास्त्रियों ने मोटे तौर पर तीन भागों—जंगल युग, बर्बर-युग और सभ्यता-युग—में विभक्त किया है। आदिम काल में परिवार का स्वरूप बहुत विस्तृत होता था पर ज्यों-ज्यों परिस्थितियों में परिवर्तन होता गया और विशेष रूप

से आर्थिक अवस्था बदलती गई, त्यों-त्यों परिवार छोटा होता गया। जांगल युग में लोग समूहों में रहते थे और पूरा समूह ही एक परिवार होता था, जिस में स्वच्छन्द रूप से आपस में ही यौन-सम्बन्ध होता था। जब इसमें कठिनाइयाँ पैदा होने लगीं और झगड़े बढ़ने लगे, तब लोगों ने आपस में तय किया कि एक पीढ़ी के लोगों का विवाह दूसरी पीढ़ी से न हो—अर्थात् पितामहों का पितामहियों से, पिताओं का माताओं से और भाइयों का बहनों से हो। इस प्रकार के यौन-सम्बन्ध को सगोत्र विवाह कहा गया। इस युग में, परिवार में स्त्रियों की स्थिति पुरुषों के बराबर ही नहीं, बल्कि कुछ श्रेष्ठ थी; किन्तु इस वृहत् परिवार का वृद्धतम पुरुष अपने अनुभव के कारण परिवार का मुख्य व्यवस्थापक होता था। फल, मूल और शिकार का मांस खाकर ये लोग जीवन-निर्वाह करते थे। अत: श्रम-विभाजन केवल स्त्री-पुरुषों में ही था। पुरुष लड़ाई तथा शिकार करता था एवं स्त्री घर देखती, खाना तैयार करती और बच्चों का लालन-पालन करती थी। सम्पत्ति का उत्पादन, वितरण और उपभोग समान रूप से सहयोगिता के आधार पर होता था।

बर्बर-युग में धीरे-धीरे यौन-सम्बन्ध की स्वच्छन्दता पर नियन्त्रण होते-होते मिथुन-विवाह की प्रथा आरम्भ हुई। कारण यह कि शिकार के साथ-साथ जलाशयों के किनारे खेती शुरू होने से समूह के जीवन में एक प्रकार की स्थिरता आने लगी और घुमक्कड़ी जीवन का अन्त होने लगा। इस समय विवाह-विच्छेद स्त्री-पुरुष, दोनों की ओर से हो सकता था। गृहस्थी सामूहिक ही रही और परिवार में स्त्रियों का स्थान ऊँचा ही रहा; क्योंकि सन्तान पिता की अनिश्चितता के कारण माता की ही गिनी जाती थी। स्त्रियाँ कभी-कभी मुखियों को उनके पद से उतार कर योद्धाओं के दल में भेज देती थीं। मिथुन-विवाह की प्रेरणा स्त्रियों की ओर से हुई थी, जिन्होंने

तरह-तरह के मुआवजे देकर समूह से पवित्रता का अधिकार खरीदा था; क्योंकि आर्थिक सुविधाओं की वृद्धि के साथ-साथ सामूहिक व्यवस्था के क्षीण होने और जनसंख्या की वृद्धि के कारण सामूहिक यौन-सम्बन्ध स्त्रियों के लिए एक बोझ और अपमान बन गया।

व्यक्तिगत सम्पत्ति के उदय के साथ-साथ विवाह-निषेध का दायरा बढ़ता गया और विवाह का दायरा छोटा होता गया तथा मिथुन-विवाह एक-विवाह के रूप में बदल गया और परिवार समाज की आर्थिक इकाई बनने लगा। मिथुन-विवाह से परिवार में जो एक नया तत्त्व आया, वह यह था कि बच्चे की माता के साथ उसने पिता को ला बिठाया। माता के अधिकार को हटाने के लिए केवल इतना ही नियम करना पड़ा कि बच्चे माता के कुल में न रहकर पिता के कुल में रहें। किन्तु इससे पहले यह नियत हुआ कि केवल बच्चों का नाम माता के स्थान पर पिता के जन का रहे, जिससे वे पिता की सम्पत्ति के उत्तराधिकारी हो जाते थे। इसमें गड़बड़ी होने के कारण यह नियत हुआ कि बच्चे पिता के कुल में रहें। वंश-परम्परा तथा सम्पत्ति का अधिकार माता के स्थान पर पिता से चलने लगा। अब बच्चों की देख-भाल करने, उनकी आर्थिक एवं मनोरंजन की आवश्यकताओं को पूरा करने का भार केवल माता पर ही नहीं, बल्कि पिता पर भी आ गया। माता के अधिकार का अन्त संसार के इतिहास में स्त्री-जाति की पराजय के रूप में आया। पुरुष घर का मालिक बन गया। स्त्री का दर्जा घट कर दासी का हो गया। वह पुरुष की वासना की दासी और केवल बच्चा पैदा करने का उपकरण बन गई। बच्चों के पिता का निश्चय करने के लिए माता का पातिव्रत आवश्यक था। इसी-लिए स्त्री पति के पूर्ण अधिकार में दे दी गई। अब तक पुरुष

और स्त्री में सम्पत्ति का बँटवारा परिवार के आंतरिक श्रम-विभाग पर आश्रित था। यह श्रम-विभाजन नहीं रहा, फिर भी उसने पारिवारिक सम्बन्ध को उल्टा कर दिया, क्योंकि परिवार के बाहर के श्रम-विभाजन का स्वरूप बदल गया।

इसके बाद सभ्यता का युग आता है, जिसमें एक विवाह की प्रथा दास-काल से लेकर आज के पूँजीवादी काल तक प्रचलित रही है। इसमें सम्पत्ति पर व्यक्तिगत प्रभाव बढ़ता गया। जिस कारण सम्पत्ति के उत्तराधिकार के स्वार्थवश पिता के अधिकार और एक-विवाह का प्रभुत्व अधिकाधिक हुआ, उसीसे विवाह पूर्णतः आर्थिक कारणों पर आश्रित हो गया। क्रय विवाह का उद्देश्य हो गया। न केवल स्त्री की, बल्कि पुरुष की भी कीमत लगने लगी—उसके व्यक्तिगत गुणों के अनुसार नहीं, किन्तु उसकी सम्पत्ति के अनुसार। आज की सभ्यता ने पूँजीवाद का विकास किया, जो कि आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र में व्यक्ति-स्वातंत्र्य और समानता का युग है। इस समय सभी सम्बन्ध परम्परा के स्थान पर स्वच्छन्द समझौते का रूप ले रहे हैं। इसके प्रभाव-स्वरूप प्रत्येक विवाह, जो कि पारस्परिक स्वच्छन्द प्रेम पर आश्रित न हो, अनैतिक समझा जाने लगा। इस प्रकार प्रेममूलक विवाह मनुष्य के अधिकार के रूप में घोषित हुआ और न केवल पुरुष के ही, बल्कि एक प्रकार से पहली बार स्त्री के अधिकार के रूप में भी। किन्तु मनुष्य का यह अधिकार उनके अन्य सब अधिकारों से भिन्न है। पूँजीवादी समाज-व्यवस्था के कारण स्त्री-पुरुष की यह 'स्वच्छन्दता' भी आर्थिक कारणों से प्रभावित है। फलतः, विवाह परस्पर के प्रेम से तो अपवाद-स्वरूप ही होते हैं—अधिकांश सौदे के रूप में ही होते हैं। फिर भी, समाज-व्यवस्था के अर्थ-प्रधान होने से परिवार का रूप बदल रहा है।

जैसे-जैसे उत्पादन और श्रम के साधन बदले, नदियों एवं अन्य जल-मार्गों के किनारे अथवा उनके निकट के गाँव नगरों में परिवर्तित होने लगे। परिवार की स्थिति में भी परिवर्तन होने लगा। शहरी परिवार कृषि पर निर्भर रहनेवाले परिवारों की भाँति जमीन से चिपका नहीं रहा। वह लोहारगिरी करने, चक्का बनाने तथा कपड़े बुनने आदि के कामों में विशेष कुशलता प्राप्त करने की ओर झुका। उस प्रकार के धन्धों में श्रम की आवश्यकता थी; पर एक पूरे परिवार के श्रम की अपेक्षा व्यक्ति के श्रम की आवश्यकता अधिक थी। पहले तो उन धन्धों को सीखने के लिए ही दूसरे परिवारों के नौजवान आकर काम करते थे, धीरे-धीरे उन्हें मजदूरी भी दी जाने लगी। अब तक काम घर के अन्दर ही होता रहा था और पत्नी का काम अब भी घर-गृहस्थी की देख-भाल करना-मात्र ही था; पर अब औद्योगिक संगठन एवं विकास ने उद्योग-धन्धों को घर की चहारदिवारी से बाहर निकाला। उत्पादन के साधनों में ज्यों-ज्यों नये आविष्कार होते गये, त्यों-त्यों वह क्रम तेज होता गया, और जब भाफ से चलनेवाली बड़ी-बड़ी मशीनें बनने लगीं, तब घर के अन्दर काम होना तो एकदम असम्भव हो गया और उत्पादन की इकाई घर की जगह कल-कारखाने हो गई। एक बड़े परिवार के लिए भी कारखाने में काम करने के लिए पर्याप्त व्यक्तियों को जुटाना असम्भव हो गया। बाहरी लोगों की सहायता लेना अनिवार्य हो गया। अतः, परिवार के आर्थिक कार्य घर से बाहर की विभिन्न सामाजिक संस्थाओं ने अपने हाथ में ले लिये।

ऐसी स्थिति में परिवार के तीन मुख्य कार्य रह जाते हैं; सन्तान-पालन, स्थायी रूप से काम-वासना की तृप्ति और गृहस्थी के आर्थिक, सांस्कृतिक और मानसिक सुख। इसका मतलब यह नहीं कि ये

सारे काम परिवार ही करता है; बल्कि इन सब कार्यों का ऐसा सामंजस्यपूर्ण समन्वय परिवार में ही होता है, जिससे प्रत्येक का सुख दूसरों की सहायता से अधिक सुसंस्कृत हो जाता है तथा बढ़ भी जाता है। काम-तृप्ति एक पृथक् वासना न रहकर जीवन के कार्यों में सहयोग का एक आधार बन जाती है और बच्चों का पालन परिवार के वायुमण्डल में जितनी अच्छी तरह हो सकता है, उतनी अच्छी तरह किसी सरकारी अथवा सामाजिक संस्था के द्वारा नहीं। पारिवारिक कर्त्तव्यों के इन तीन कार्यों में सीमित हो जाने के साथ ही इन तीनों कार्यों का अधिकाधिक विकास हो जाता है। किन्तु सच तो यह है कि आजकल सन्तानोत्पत्ति और सन्तान-पालन ही परिवार का मुख्य काम हो गया है। इस कार्य को परिवार अधिक योग्यता और बुद्धिमत्तापूर्वक करता है, जिससे बच्चों की मृत्यु-संख्या घट गई है तथा उनके रोगों पर भी नियन्त्रण प्राप्त हो गया है।

इन महत्त्वपूर्ण कार्यों पर जनसंख्या के स्थान-परिवर्तन का भी काफी प्रभाव पड़ा है। अमरीका के बड़े शहरों का औसत परिवार प्रत्येक दो वर्षों के बाद स्थान-परिवर्तन करता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि माता-पिता और बच्चों को हर दो साल पर नये प्राथमिक समूहों से सम्बन्ध स्थापित करना पड़ता है। नतीजा यह होता है कि उनका किसी भी समूह से संपर्क नहीं रह पाता। साथ ही, पुरुष, उसकी स्त्री और उनके बच्चे ही इस नये परिवार की इकाई हो गये हैं। अन्य परिजनादि कुछ समय के लिए आकर 'मेहमान' की तरह भले ही उनके साथ रह लें। पितृमूलक परिवार की अपेक्षा आधुनिक विवाह अधिक स्वच्छन्द होता है और पति-पत्नी के बीच एक-दूसरे के व्यक्तिगत गुणों का आकर्षण अधिक महत्त्व रखता है। इसलिए यह सम्बन्ध अधिक घनिष्ठ होता है।

नई सामाजिक और अर्थनीतिक परिस्थितियों के उत्पन्न हो जाने के कारण स्त्रियों की स्थिति-सम्बन्धी धारणा में भी बड़ा परिवर्तन हो गया है। कृषि पर आधारित समाज में परिवार एक आर्थिक संगठन था, जिसमें एक प्रधान की आवश्यकता होती थी। यह अधिकतर पुरुष ही होता था; क्योंकि उसके काम अधिक महत्त्वपूर्ण थे। नारी उसकी सहायिका-मात्र थी; अतः उसका स्थान द्वितीय और उसपर निर्भर करने का ही था। पर अठारहवीं शताब्दी के अन्त में पाश्चात्य सभ्यता में नई आर्थिक शक्तियों के प्रभाव से सामन्तयुगीन पितृमूलक परिवार की प्रथा का अन्त हो गया। उसमें राजा से लेकर परिवार तक अधिकारियों की एक सीढ़ी थी। उस समय पुरोहित, योद्धा या जमींदार—यही तीन सम्मानित पेशे थे। इस अधिकार-शृङ्खला में स्त्रियों का स्थान बहुत नीचा था। जब धर्म और राजनीति में इस अधिकारवादी नीति का अन्त हुआ, तब सामन्तयुगीन पितृमूलक परिवार का सांस्कृतिक आधार भी जाता रहा। परिवार के सदस्यों पर मुखिये का नियन्त्रण कम हो गया। जनतांत्रिक प्रवृत्तियों ने नागरिकता का अधिकार परिवार से हटाकर प्रत्येक व्यक्तियों को दे दिया। बच्चों के विवाह का चुनाव पिता के हाथ से निकल कर स्वयं बच्चों के हाथ में आ गया। प्रेम की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता ने स्वच्छन्द प्रेम का आदर्श उपस्थित किया, जिसकी परिणति विवाह के रूप में होना स्वाभाविक मानी गई। इस सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन का आधार आर्थिक था। बहुत-सी स्त्रियाँ भी कारखानों और दफ्तरों में काम करने लगीं और पुरुषों से स्वतन्त्र जीविकोपार्जन करने लगीं। बीसवीं सदी के प्रारम्भ से तो यह प्रवृत्ति बहुत विकसित हो गई है।

आज अमरीका, यूरोप और कुछ एशियाई देशों में तथा कुछ हद तक भारत में भी औरतों का अपनी सम्पत्ति पर अधि-

कार है। बच्चों पर पिता के एक-मात्र स्वामित्व के अधिकार में भी परिवर्तन हो गया है। स्त्रियों को भी राजनीतिक क्षेत्र में मत देने का अधिकार है। उद्योग-धन्धों में शोषण से उनकी रक्षा कानून द्वारा की जाती है। वे कॉलेजों में जा सकती हैं और इच्छानुसार वकील, डाक्टर, इंजीनियर आदि के पेशों को अख्तियार कर सकती हैं। अपने जीविकोपार्जन में स्वतन्त्र होने के कारण विवाह का समय और साथी चुनने में भी वे स्वतन्त्र हैं। विवाह के बाद भी स्त्रियों पर से पुरुषों का प्रभुत्व जाता रहा है। परिवार के कार्यों का कम और हल्का होना, स्त्रियों को अधिक समय मिलना, अधिक आयु में विवाह होना आदि से परिवार में स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध सर्वथा बदल गया है। इन परिवर्तनों का प्रभाव परिवार के प्रौढ़ सदस्यों को एकता के सूत्र में बाँधे रहनेवाले बन्धन पर पड़ा। पहले परिवार के सभी व्यक्ति आर्थिक, धार्मिक, संरक्षात्मक एवं इसी प्रकार के विभिन्न बन्धनों से एक साथ बँधे रहते थे। सम्प्रति मुख्य बन्धन प्यार और पारस्परिक पसन्द का ही रह गया है। विवाह के प्रारम्भिक वर्षों में प्रेम का बन्धन बहुत दृढ़ रहता है; परन्तु बाद को बहुतों में वह दृढ़ता कायम नहीं कर पाती। जब वह टूट जाता है, तब विवाहित जोड़ी स्वभावतः एक दूसरे से अलग होना चाहती है। किन्तु सभी निराश जोड़ियाँ इस प्रकार के सख्त कदम नहीं उठातीं। कठिनाइयों के बावजूद कुछ एक साथ रहते हैं।

ऊपर हमने परिवार के स्वरूप के जिस चित्र को खींचने की चेष्टा की है, उससे यही पता चलता है कि भूतकाल में उसमें बहुत ज्यादा परिवर्तन हुए हैं और उसके कार्य भी बदलते रहे हैं। यद्यपि उसके स्वरूप एवं कार्यों में मौलिक परिवर्तन हुए हैं, फिर भी प्रत्येक समाज में उसका अस्तित्व कायम रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि प्यार की आकांक्षा तथा सन्तान का लालन-पालन ही ऐसा बुनियादी

पहलू रहा है, जिसने परिवार को सर्वव्यापी एवं चिरंतन सामाजिक संस्था बना रखा है। आधुनिक युग के परिवार में जो अस्थिरता सम्प्रति दिखाई पड़ रही हैं, उससे कुछ लोगों के मन में यह भय उत्पन्न होने लगा है कि कहीं परिवार का अस्तित्व ही न मिट जाय। पारिवारिक झंझटों तथा तलाक की बढ़ती हुई संख्या को देखकर इस प्रकार के भ्रम का उत्पन्न होना अस्वाभाविक नहीं है। इस वैमनस्य और तलाक के बाहुल्य के दो प्रधान कारण हैं। एक तो यह कि स्वच्छन्द परिवार में पितृमूलक परिवार की अपेक्षा मानसिक संकट अधिक उपस्थित होते हैं। पहले का परिवार तो आर्थिक आवश्यकता और सामाजिक दबाव से पति-पत्नी के बीच सामंजस्य कायम रखता था। आज इस आवश्यकता और दबाव के कम हो जाने के कारण पति-पत्नी को पारस्परिक सामंजस्य की स्थापना के लिए अपनी मानसिक शक्ति पर ही आश्रित रहना पड़ता है। यह कठिनाई इस बात से और भी बढ़ जाती है कि स्त्रियों पर पुरुषों का प्रभुत्व कम होता जा रहा है, इसलिए दो स्वच्छन्द आत्माओं का सामंजस्य कठिनता से सध पाता है।

किन्तु आधुनिक परिवार का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इसने व्यक्ति और जाति के विरोध को कम कर दिया है। हरबर्ट स्पेन्सर ने बतलाया है कि जब जन्म-संख्या और मृत्यु-संख्या ,दोनों अधिक होती हैं, तब जाति-रक्षा में शक्ति का अधिक व्यय होता है, और जब इन दोनों की संख्या कम होती है, तब कम। विकास के क्रम में हम देखते हैं कि छोटे जीवों में जन्म-संख्या जन-संख्या के अनुपात में बहुत अधिक होती है। किन्तु जैसे-जैसे मानव-समाज विकास की उन्नत सीढ़ियों पर पहुँचता है, यह अपेक्षाकृत कम होती जाती है। आज के उन्नत समाजों की जनसंख्या को कायम रखने के लिए प्रति परिवार में दो-तीन बच्चों का औसत पर्याप्त है। इस

प्रकार मानव-जीवन का बहुत-सा अपव्यय और बहुत-सी वेदना बच जाती है तथा स्त्रियों के व्यक्तित्व पर से बहुत बड़ा बोझ उतर जाता है। थोड़े-से बच्चों का पालन समुचित प्रकार से होता है और उनके पालन में परिवार के श्रम का अपव्यय नहीं होता और उस परिश्रम का सन्तोषप्रद फल भी प्राप्त होता है। काम-वासना तथा सन्तानोत्पादन का सभ्य मनुष्य की आकांक्षाओं से अधिक सामंजस्य होता है। परिवार का सामाजिक महत्त्व इस बात से सिद्ध होता है कि विवाहित व्यक्तियों में अपराध, उन्माद और दारिद्रय अपेक्षाकृत कम पाये जाते हैं। अमरीका में ३० वर्ष से ५० वर्ष तक की आयु के विवाहित पुरुषों की अपेक्षा अविवाहितों की मृत्यु-संख्या दुगुनी है। इससे सिद्ध होता है कि परिवार अपनी प्रत्यक्ष सेवाओं के अतिरिक्त सामाजिक दृढ़ता और शक्ति का आधार भी है और रहेगा भी।

बुनियादी शिक्षा

मनुष्य-समाज के लिए शिक्षा अनिवार्य है। मनुष्यता पैदा करने, जाग्रत करने या बढ़ाने का सर्वोत्तम साधन है शिक्षा। मनुष्य के साथ इसका जन्म हुआ और अन्त तक यह रहनेवाली है। शिक्षा से मनुष्य को ऐसे लाभ हैं जिनके बिना उसका गुजारा नहीं। अतः, शिक्षा का लाभदायक होना आवश्यक है। प्रत्येक लाभदायक वस्तु अवश्य प्रिय होती है। इसलिए शिक्षा मनुष्य समाज को प्रिय लगनी ही चाहिए। समाज को यदि शिक्षा लाभ-हीन और अप्रिय लगे तो समझना चाहिए कि वह गलत है या वह शिक्षा है ही नहीं।

ऐसी निष्प्रयोजनीय शिक्षा की ओर से आँख मूँद लेने से भी काम नहीं चलेगा। ठीक रास्ता एक ही है और वह है शिक्षा में ऐसे परिवर्तन और सुधार करना कि वह समाज के लिए उपयोगी सिद्ध हो। समाज को भी चाहिए कि ऐसे सुधारों में वह सुधारकों का पूरा-पूरा साथ दे।

यहाँ पुरानी तालीम से मतलब हमारे देश की प्राचीन शिक्षा से नहीं है, बल्कि उस शिक्षा-प्रणाली से है जो पिछले दो सौ साल में बनी, चालू रही और अभी तक हमारे देश में काफी हद तक प्रचलित है। यह शिक्षा अंग्रेजी राज में जन्मी और पली। अतः, इसे 'अंग्रेजी तालीम' कहना भी ठीक है। जिन लोगों ने इस शिक्षा-प्रणाली को चलाया वे विदेश के थे और अपने देश इंगलैंड के लिए ही इसका उपयोग करने की चेष्टा करते रहे। इसलिए इसे 'विदेशी शिक्षा' का नाम देना भी गलत न होगा। देश के स्वतन्त्र हो जाने पर अब भी इसी शिक्षा-प्रणाली को हम अपने यहाँ जारी रख रहे हैं और उसमें आवश्यक सुधार करने में उदासीनता दिखा रहे हैं। इस दृष्टि से इसे हम आधुनिक शिक्षा भी कह सकते हैं। इसी आधुनिक, विदेशी या अंग्रेजी तालीम को हमने यहाँ 'पुरानी तालीम' कहा है। यह 'पुरानी तालीम' हिन्दुस्तान की सभ्यता और आवश्यकता के अनुसार नहीं है। हिन्दुस्तान में शिक्षा हिन्दुस्तानी-समाज के हित के लिए हो, इसे जरूरी न मानने का नतीजा यह हुआ कि हमारी शिक्षा हमारे समाज के लिए लाभ-हीन बन गई और समाज शिक्षा की ओर से उदासीन हो गया। लेकिन, ऐसी हालत देर तक नहीं टिक सकती। समाज से मतलब थोड़े-से बड़े शहरों में रहने वाले पढ़े-लिखे और अमीर लोगों से नहीं, बल्कि हिन्दुस्तान के दूर-दूर के कोनों में बसनेवाली गरीब, अनपढ़ देहाती जनता से भी है। अपढ़ आदमी का तो अभी तक यही कहना है कि बच्चे को तालीम

दिलाना अपने घर के एक आदमी को निखट्टू बनाना या खोना है। यह उसका वहम या भूल नहीं है। उसकी यह धारणा सही है और इसके कई कारण है। इन कारणों पर हमें गंभीरतापूर्वक विचार करना और उन्हें दूर करने का यत्न करना चाहिए। संक्षेप में, पुरानी तालीम की त्रुटियाँ ये हैं: यह शिक्षा समाज की जरूरतें पूरी नहीं करती। शिक्षा पा लेने पर शिक्षार्थी अपने माता-पिता के घर में रहने में कठिनाई अनुभव करता है। वह अपने देश का अच्छा नागरिक नहीं बन पाता। शिक्षा मातृभाषा में नहीं होती। शिक्षा सर्वव्यापी यानी सब बच्चों के लिए नहीं है। शिक्षार्थी शिक्षा पाने के बाद भी अन्याय और शोषण के चलते अपना जीवन-निर्वाह कर सकने के योग्य नहीं बन पाता, उसके मन में गुलामी और स्वार्थ-परायणता की भावना की जगह स्वावलम्बन और सेवा की भावना पैदा नहीं होती। पुरानी तालीम के दोषों को बताने का अभिप्राय बुराइयाँ गिनना नहीं है, अपितु उसमें शीघ्र ही आवश्यक संशोधन करने की अनिवार्यता को स्पष्ट करना है।

आज से कोई दस वर्ष पहले हमारे देश के हितचिन्तक नेताओं का ध्यान हमारी शिक्षा की त्रुटियों और उन्हें दूर करने के उपाय ढूँढ़ने की ओर आकर्षित थे। अतः, सेवाग्राम (वर्धा) में देश के अनेक शिक्षा-शास्त्री जमा हुए। शिक्षा-सम्बन्धी काम चलाने के लिए 'हिन्दुस्तानी तालीमी संघ' नाम की एक संस्था की स्थापना हुई। उस संघ ने तालीम सम्बन्धी समस्यायों पर विचार करके शिक्षा-प्रणाली में क्रान्तिकारी परिवर्तन करने का निश्चय किया। शिक्षा के उद्देश्य, सिद्धांत, पाठ्यक्रम और पद्धति को एकदम बदल देने का निर्णय हुआ। इन सब प्रकार के परिवर्तनों से शिक्षा का जो रूप बना, वह बिल्कुल नया था। अतः, इस शिक्षा का नाम नई तालीम पड़ा। नई तालीम का प्रबन्ध शुरू में केवल पहले यानी

बुनियादी सात वर्गों के लिए किया गया; इसलिए यह शिक्षा बुनियादी तालीम के नाम से प्रसिद्ध हुई। शिक्षा के इस नये रूप-रंग के मूल में गांधी जी के विचार हैं। इससे कुछ लोगों ने इसे गांधीवादी शिक्षा कहना पसन्द किया। शिक्षा-शास्त्रियों की पहली बैठक और इसका पहला प्रयोग वर्धा में हुआ। इस कारण इसको वर्धा की तालीम भी कहा जाता है। इस शिक्षा-पद्धति का निर्माण करते समय अपने देश की स्थिति और आवश्यकताओं का हर प्रकार से ध्यान रखा गया। इस कारण इसको स्वदेशी शिक्षा का नाम देना भी उचित मालूम हुआ। इस शिक्षा में उद्योग को प्रधान स्थान देने से कई लोग इसे उद्योगी शिक्षा भी कहते हैं। यह नई गांधीवादी, वर्धा की, स्वदेशी, उद्योगी या बुनियादी तालीम देश और समाज की सब बीमारियों के लिए अमृत साबित हो सकती है। इस शिक्षा के कई नाम होना इसके बहुगुणी होने का सूचक है। नई तालीम में पुरानी तालीम का कोई भी दोष नहीं ठहर सका।

देश में बुनियादी तालीम को फैलाने का यत्न शुरू हुआ। विदेशी सरकार और अंग्रेजी-प्रिय हिन्दुस्तानियों ने इस शिक्षा के प्रचार का विरोध भी किया; परन्तु सत्य तो अपना स्थान पाता ही है। बुनियादी स्कूल कायम करने के लिए बुनियादी शिक्षकों को ट्रेनिंग देने की जरूरत हुई। उसे पूरा करने के लिए सेवाग्राम (वर्धा) और जामिया मिल्लिया (दिल्ली) में सबसे पहले बुनियादी शिक्षक प्रशिक्षण केन्द्र खोले गये। ये दोनों केन्द्र केवल हिन्दुस्तान में ही नहीं, बल्कि सारे संसार में प्रसिद्ध हैं। शिक्षा-क्षेत्र में इन दोनों की सेवाएं अमूल्य हैं। सेवाग्राम का केन्द्र श्री आर्यनायकम् और श्रीमती आशादेवी की देख-भाल में और जामिया मिल्लिया का डाक्टर जाकिर हुसैन और जनाब सईद अन्सारी की निगरानी में सफलतापूर्वक चलने लगा है। उनमें हिन्दुस्तान के प्रत्येक प्रांत के

शिक्षकों ने बुनियादी तालीम की ट्रेनिंग पाई; और उनके द्वारा देश के हर भाग में ऐसे ट्रेनिंग केन्द्र खोले गये। इस समय तो देश के हर कोने में बुनियादी शिक्षा के स्कूल मौजूद हैं। केन्द्रीय सरकार के शिक्षा-मन्त्री मौलाना अबुल कलाम आजाद की प्रेरणा से पिछले कई सालों से दिल्ली प्रान्त में बुनियादी शिक्षा का प्रचार जोरों से हो रहा है। अब बुनियादी तालीम को परखने की बात नहीं रही। उसका अधिक-से-अधिक फैलाव करना हमारा धर्म है।

संक्षेप में, नई तालीम का उद्देश्य है 'सर्वोदय'। साधारण आदमी सर्वोदय के सिद्धान्त को एक सामाजिक कल्पना या विचारधारा मानता है। ऐसा मानने में कोई गलती नहीं है। आदर्श समाज के निर्माण में शिक्षा को एक साधन बनाना गलती नहीं है। समाज का हर अंग समाज की उन्नति में सहायक हो। समाज जीवित अथवा शक्तिशाली होगा, तभी उसके व्यक्ति भी स्वस्थ और योग्य होंगे। सर्वोदय-समाज का उद्देश्य है कि हर व्यक्ति का हर प्रकार से अहिंसक साधनों द्वारा कल्याण और उदय। और, शिक्षा का उद्देश्य है हर व्यक्ति का हर प्रकार से विकास और उदय। इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है। अतः, सर्वोदय के लिए शिक्षा को साधन बनाने या सर्वोदय को शिक्षा का उद्देश्य ठहराने को गलत मानना भ्रम है। शिक्षा की इसमें कोई हानि नहीं है। शिक्षा की शोभा और उपयोगिता इसी में है। शिक्षा-रूपी अमृत द्वारा हर व्यक्ति और समाज का कल्याण होना ही चाहिए।

पुरानी तालीम के दोषों को दूर करने और नई समाज-रचना में तालीम को सहायक बनाने की दृष्टि से बुनियादी तालीम के जो सिद्धान्त तय किये गये हैं, उनमें से कुछ ये है: बुनियादी तालीम मुफ्त हो; लाजिमी यानी सर्वव्यापी हो; सात साल की हो; मातृभाषा में हो; उत्पादक-उद्योग द्वारा हो; स्वावलम्बी हो और सामाजिक

जरूरतों को पूरा करने योग्य हो। देखने में ये सिद्धान्त बहुत सरल हैं; परन्तु इन सबको एक साथ अमल में लाना बड़ा कठिन है। बुनियादी तालीम को चलाने में आवश्यक श्रद्धा और भावना जरूरी है। ये गुण पुरानी तालीम के शिक्षक और शिक्षार्थी, दोनों में आवश्यक मात्रा में नहीं मिलते। बुनियादी शिक्षा के निष्ठवान शिक्षकों की कमी शुरू से ही रही है और आज भी है। इसका कारण यह है कि बुनियादी शिक्षा ऊपरी नहीं है, असली जीवन के लिए है। शिक्षक को आवश्यक गुणों को अपने जीवन में धारण करना ही पड़ता है। बुनियादी शिक्षक का जीवन आदर्श होना और उसमें समाज-सेवक होने की भावना बुनियादी तालीम के सिद्धान्तों को अमल में लाने की एक शर्त्त है। दूसरी शर्त्त यह है कि सब सिद्धान्त एक साथ लिये जायँ। कुछ लेने और कुछ छोड़ने से हमारी शिक्षा न पुरानी रहेगी, न नई बनेगी। मिसाल के तौर पर हम तालीम के मुफ्त और लाजिमी होने के सिद्धान्त को पसन्द करें और स्वावलम्बी होने के सिद्धान्त से बचना चाहें तो पहली बातें सम्भव नहीं होंगी, यानी हम किसी भी सिद्धान्त को न अपना सकेंगे। इन सिद्धान्तों द्वारा पुरानी तालीम में पूरा परिवर्तन या सुधार तभी हो सकता है, जब शिक्षक को इनमें श्रद्धा हो और वह इन सबको एक साथ अपनाने का हौसला और विवेक रखता हो।

बुनियादी तालीम के पाठ्य-क्रम के लिए जो-जो विषय निर्धारित किये गये हैं, उनको निश्चित रीति से पढ़ाने से शिक्षा के सिद्धान्तों को अमल में लाना कठिन नहीं है और निस्सन्देह इस तालीम के उद्देश्य की पूर्त्ति भी आसानी से हो सकती है। साधारण तौर पर विषय ये हैं: सफाई, खादी, खेती, रसोई, सामाजिक शिक्षा, गणित, मातृभाषा, विज्ञान, शारीरिक शिक्षा, कला और संगीत। इन विषयों में से कुछ तो हमारे दैनिक जीवन में

काम आते हैं और कुछ इन कामों की सर्वांगीण शिक्षा में सहायक होते हैं। यदि गणित खादी के काम में सहायक है तो विज्ञान रसोई के काम में। बुनियादी तालीम का पाठ्य-क्रम है जीवन के लिए उपयोगी काम और उन्हें ठीक रीति से करने का ज्ञान। ज्ञान काम के अधीन है। इस पाठ्य-क्रम से प्रकट होता है कि अच्छे मनुष्य-जीवन के लिए, आवश्यक कामों के लिए, शक्ति, बुद्धि और भावना पैदा करने और बढ़ाने का नाम शिक्षा है। जिस पाठ्य-क्रम से बच्चों की तीन प्रकार से उन्नति और विकास हो पाये, वही हमें मान्य होना चाहिए।

उद्देश्य, सिद्धान्त और पाठ्य-क्रम के सिवा हम इस शिक्षा के तरीके को भी जान लें तो मालूम होगा कि चारों मिलकर सचमुच तालीम का एक बिलकुल नया ढाँचा बना देते हैं। इस तरीके का नाम 'समवाय' प्रसिद्ध है। शिक्षक के लिए जरूरी है कि वह बच्चे को दिये जानेवाले ज्ञान को बच्चे के किसी काम या आस-पास की वस्तु से जोड़े, यानी बच्चे का हर नया पाठ उसके पुराने ज्ञान के किसी अंग से सम्बन्धित हो। इस तरह नया पाठ अपनाने में बच्चे को कोई कठिनाई नहीं होगी और यदि नया पाठ बच्चे में पैदा हुई जिज्ञासा को सन्तुष्ट करता है, तो वह भी उसके लिए स्वाभाविक होने के कारण बोझ नहीं होगा। सब विषयों की शिक्षा का ऐसा मेल बैठाया जाय कि बच्चा रोजाना स्कूल में पढ़ाई के खत्म होने पर यह अनुभव करे कि एक ही पाठ कई पहलुओं से उसने पढ़ा और सीखा है। उस समवाय-पद्धति द्वारा बच्चे की बुद्धि पर बेजा बोझ नहीं पड़ेगा, प्रयोजनहीन जबानी बातों से बचाव होगा और शिक्षा जीवन में अवश्य उपयोगी सिद्ध होगी।

शिक्षा और राष्ट्र-निर्माण

शिक्षा मानव-शिशु को गढ़ कर उसे व्यक्ति के साँचे में ढालने का काम करती है। और, इसी हेतु शिक्षालय को नवीन व्यक्ति का निर्माण-शाला कहा जाता है, जिसमें मानव-शिशु अपने भावी जीवन के लिए आवश्यक सामग्री जुटाता है और अपने व्यक्तित्व का निर्माण करता है। प्रत्येक शिशु कुछ जन्मजात प्रवृत्तियाँ लेकर जन्म-ग्रहण करता है, जिनका परिष्कार, परिवर्द्धन और सुनियोजन उसकी शिक्षा ही करती है। लेकिन, शिक्षा का क्षेत्र स्कूलों और कालिजों तक ही सीमित नहीं; इसका क्षेत्र बहुत व्यापक है। व्यक्ति जीवन के प्रत्येक पल में, तथा विश्व के किसी भी भाग में अनवरत रूप से शिक्षोपार्जन करता रहता है। लेकिन, यह व्यक्तित्व की ग्रहण-शीलता, चेतना या सजगता और मानसिक स्वास्थ्य पर निर्भर करता है कि वह किस प्रकार से, किस आदर्श पर अपना निर्माण करे। शिक्षा का अंतिम लक्ष्य व्यक्तित्व का संस्कार करना ही है और इसके विषय हैं जीवन की पूर्णता तथा इसकी प्राप्ति के पथ पर पनपती हुई विविध समस्याएँ।

लेकिन, स्कूलों और कालेजों में जो व्यक्ति दिखाई देते हैं, वे क्या सब जिज्ञासु होकर आये हैं? क्या उन्होंने यह महसूस किया है कि उनकी आवश्यकता क्या है और वे क्या बनना चाहते हैं? मुझे पूर्ण विश्वास है कि अधिकांश छात्र इस प्रश्न का नकारात्मक ही उत्तर देंगे। माता-पिता अनुभव करते हैं कि उनके घर में यह शिशु पनप रहा है, उसे शिक्षित होना चाहिए अन्यथा वह कमाकर क्या खायगा? इस उपयोगितावादी दृष्टिकोण ने शिक्षा के आत्मगत उद्देश्यों पर बड़ा प्रबल आक्रमण किया है। लोग भूल

जाते हैं कि हैवान से इन्सान बनने के लिए वे शिक्षा प्राप्त करते हैं, न कि केवल-मात्र जीवन-निर्वाह के लिए। परिणाम यह होता है कि शिशुओं की एक बहुत बड़ी संख्या भेड़ों की तरह स्कूलों में दाखिल कर दी जाती है। उनमें स्कूलों के प्रति, शिक्षा के प्रति आकर्षण जगाने की कोशिश नहीं की जाती। फिर आज के हमारे प्राइमरी स्कूलों का जैसा वातावरण है, उससे क्या उम्मीद की जा सकती है कि शिशु के मन में कुछ संस्कार जगेंगे, उसकी कल्पना बलवती होगी और उसकी जिज्ञासा एक आवश्यक निदान प्राप्त करने में समर्थ हो सकेगी!

आवश्यक विषयों के बीहड़ वन को पार करता हुआ जब तरुण विद्यार्थी कालेज में प्रवेश करता है, तब उसे अपने वातावरण में एक नवीनता, एक आकर्षण प्रतीत होता है। यहाँ पर उसे कुछ छूट मिलती है विषय-चयन के रूप में। अध्यापकों के सौम्य व्यवहार से उसके मन में आत्म-सम्मान की भावना भी जगती है। कुछ उच्छृंखल व्यक्तित्व कड़े अनुशासन की छाया हटते ही विकृत मार्गों की ओर भी उन्मुख हो जाते हैं। उनके मन में अनेक अस्वास्थ्यकर भावनाएँ उठती हैं और वे उनके वशीभूत होकर कुछ ऐसे कार्य कर डालते हैं कि उनकी सारी जिन्दगी फिर पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त के आँसुओं से भी नहीं धुल पाती। शिक्षा-काल जीवन की आधार-शिला है। उसी के बल-बूते पर आगामी जीवन में कुछ साहसिक उद्योग किये जा सकते हैं।

प्राचीन काल में तरुण विद्यार्थी का जीवन आश्रमों की शीतल छाया में बीतता था। उसके जीवन पर आचार्य का अंकुश और वरद हस्त, दोनों ही थे। संयम उसका अस्त्र था और प्रतिपल वर्द्धमान जिज्ञासा उसकी सहचरी थी। फिर भला वह साहित्य, विज्ञान और दर्शन के क्षेत्र में एक सुनहले गौरव का पात्र क्यों न

होता ! याज्ञवल्क्य, कणाद, कालिदास, आर्यभट्ट तथा लीलावती की ज्ञान-गंगा हमारी पराधीनता के शुष्क मरुस्थल में जाकर विलीन हो गई। इस बीच अनेक प्रतिभाओं ने गुलामी के इस घटाटोप कलुष को धोने का अनवरत प्रयत्न किया और उन्हीं के परिणाम-स्वरूप आज हम स्वतंत्र हैं। किन्तु हमारी स्वतंत्रता तब तक सर्वांगीन नहीं हो सकती, जब तक प्रत्येक मस्तिष्क दीप्तिमान आलोक का केन्द्र न बन जाय। निश्चय ही आज हम प्राचीन आश्रम-प्रणाली की ओर नहीं लौट सकते ; किन्तु हमें अपने विश्वविद्यालयों में ऐसे वातावरण की सृष्टि करनी है, जो हमारे तरुणों में सुयोग्य और स्वस्थ नागरिक के तत्त्व पनपा सकें।

आज एक नया रोग हमारे विश्वविद्यालयों में जड़ जमा रहा है। कुछ विद्यार्थी कांग्रेसी होने का दम भरते हैं, कुछ कम्युनिस्ट, कुछ सोसलिस्ट और कुछ रैडिकल डेमोक्रेट। राजनीति की इन विभिन्न प्रणालियों और कार्यक्रमों में रुचि रखना बुरा नहीं है ; पर इसे भी बुद्धिमानी नहीं कहा जा सकता कि वे कुछ भाड़े के टट्टुओं के बहकावे में आ जायँ।

शिक्षा जनतंत्र की मूलभूत आवश्यकता है और शिक्षित छात्र जनतंत्र के सर्वोत्तम सैनिक सिद्ध हो सकते है। छात्रों में एक महान् शक्ति निहित है। वे संस्कृति के सर्वोत्तम उपादानों के उत्तराधिकारी होते हैं। संस्कृति के सार तत्त्व का जितना सामीप्य उन्हें प्राप्त है, उतना भला और किसे होगा ? छात्रों ने काव्य के रूप में मानव के मुक्त क्षणों की वाणी को सुना है, कहानी और उपन्यास के परिधान में अनेक सृजनशील तत्त्वों से उनका साक्षात्कार हुआ है, और संसार के महान् विचारकों से उन्होंने परिचय प्राप्त किया है उनकी पुस्तकों द्वारा। ऐसे जो छात्र हैं, उनके लिए क्या यह संभव नहीं है कि वे इस सर्वव्यापी कुंठा को विदीर्ण कर युग के

निर्माण के भागी हो सकें ! इतिहास श्वास रोके उनके पौरुषमय कदमों की बाट जोह रहा है। भूगोल अपनी समस्त परिधि और विस्तार लिए उनके रचनात्मक निर्माण की क्षमता की परीक्षा लेने खड़ा है। विज्ञान ने नई दुनिया का मानचित्र बनाने के लिए विद्युत-शक्ति से लेकर अणु शक्ति तक सम्पूर्ण सुविधाएँ आज के छात्र के लिए जुटा दी हैं और उधर दर्शन इस बात का प्रयास कर रहा है कि प्रेम और सद्भावना की किरणें जाति, वर्ग और राष्ट्र की सीमाओं में बन्दी मानवता तक पहुँच सकें।

आज हमारे स्कूलों और कालेजों के एक अजीब-सी मुर्दनी छाई हुई है। स्कूलों का वातावरण इतना अधिक दूषित हो गया है कि शिशु-हृदय में किसी प्रकार की व्यवस्था और अनुशासन की भावना अंकुरित नहीं हो पाती। अध्यापक के नाम से आज का किशोर विद्यार्थी सहम जाता है। पाठशाला उसके लिए कोई आकर्षण की वस्तु ही नहीं रही है। इसीलिए हमें बड़े जोरदार शब्दों में कहना चाहिए कि हम आनन्द-विद्यालय चाहते हैं, जिनमें खेल-खेल में बच्चे सीख सकें। शिशु-शिक्षण को रुचिकर बनाने का यही एक मार्ग है। हमें उनके पाठ्यक्रम का निर्माण करते हुए उनकी कल्पना, उनके मनोवेग तथा उनकी सहज वृत्तियों का विशेष ध्यान रखना है; तभी बालकों में शिक्षा के प्रति जो एक कुंठा व्याप्त हो गई है, उसे दूर किया जा सकता है। हमें ऐसे शिक्षा-क्रम की नींव रखनी है, जिससे मनोरंजन, जिज्ञासा-शमन और आत्म-सम्मान की नैसर्गिक भूख शान्त हो।

कालेजों का कुछ ऐसा ही हाल है। वहाँ तो 'फ्रेंचलीव' का रोग बढ़ता ही जा रहा है। हाजिरी दी और गायब ! आखिर यह सब क्यों हो रहा है ! ज्ञान के प्रति यह अरुचि क्यों दिखाई जा रही है ! इसका एकमात्र कारण है कि कालेज की शिक्षा छात्रों की

मूलभूत आवश्यकताओं को नहीं छू पाती। वह जीवन-सापेक्ष नहीं है। यह शास्त्रीय प्रतिभा का अरण्य-रोदन-मात्र सिद्ध हो रही है। आज की शिक्षा अनेक जटिल ग्रन्थियों का सृजन हमारे तरुण मस्तिष्क में कर रही है।

यह दुर्भाग्य की बात है कि हमारी आज की शिक्षा तरुणों में नई प्रेरणा नहीं फूँक पा रही है। आज शिक्षा में आमूल क्रान्ति की आवश्यकता है, और यह तभी हो सकता है, जब कि पाठ्य-पुस्तकों को नये सिरे से लिखा जाय और उन्हें इस दृष्टिकोण से लिखा जाय कि वे जीवन-सापेक्ष हो जायँ। हमें केवल-मात्र ऐसा ही साहित्य नहीं चाहिए, जो कल्पना के गगन में हमारे मन के पंछी को बहुत दूर तक उड़ाता हो। हम धरती के पुत्र हैं, इसलिए हमारे साहित्य और कलाओं में हमारी समस्याओं को प्रतिबिम्बित होना चाहिए। मेधावी साहित्यकार हमारी सामाजिक शक्ति का उन्मोचन करेंगे और तब देश में एक ऐसा जीवन अंगड़ाई लेगा कि हमारे भगीरथ प्रयत्न सफल समझे जायँगे। स्वतन्त्रराष्ट्र की आत्मा जिस दिन सिंहनाद करेगी, उस दिन भुखमरी, चोरबाजारी और रिश्वतखोरी का दैत्य चिर-निन्द्रा में सो जायगा। छात्र ही जीवन के इस नये अध्याय का उद्घाटन कर सकते हैं; क्योंकि शिक्षा ने उनके मस्तिष्क में ऐसी विचार-क्रान्ति के उपकरण जुटा दिये हैं कि वे समाज की काया पलट सकें। विश्व की शक्ति, यौवन और प्रतिभा की मांग है कि उसे अपना दायित्व पूरा करने का अवसर दिया जाय।

―

शिक्षा और समाज का नव-निर्माण

शिक्षा और समाज का आपस में बहुत गहरा सम्बन्ध है। समाज-रूपी शरीर में शिक्षा-प्रणाली हृदय का कार्य करती है। जिस प्रकार हृदय सम्पूर्ण शरीर में रक्त संचार करता है, उसी प्रकार शिक्षा समाज को अनुप्राणित करती है। हृदय के रुग्ण हो जाने पर सारा शरीर रोगी हो जाता है। इसी प्रकार दूषित शिक्षा-प्रणाली सारे समाज को विषाक्त कर देती है। यदि हृदय अपना कार्य बन्द कर दे तो सारा शरीर प्राणहीन हो जाता है। ठीक ऐसी ही दशा शिक्षा-प्रणाली के अवरुद्ध हो जाने पर समाज की होती है।

शिक्षा का क्षेत्र बहुत व्यापक है। जीवन की संपूर्णता और इसकी विविध समस्याएँ इसके विषय हैं। इसका प्रारम्भ माता के गर्भधान से होता है और मृत्युपर्यंत इसकी क्रिया चलती रहती है। इसके द्वारा व्यक्ति समाज के साथ एक सूत्र में बँधता है। समाज को भूत से वर्तमान और वर्तमान से भविष्य की ओर ले जाने के लिए वह एक शृंखला का कार्य करती है। वह सभ्यता, संस्कृति और साहित्य-जैसी सामाजिक क्रियाओं का वाहक है।

शिक्षा का क्षेत्र उतना ही व्यापक है जितना समाज और मानवीय जीवन का। इसलिए यह समझना भूल है कि शिक्षा की क्रिया केवल विद्यालयों या पाठशालाओं में ही चल सकती है और केवल शिक्षक ही शिक्षा प्रदान कर सकता है। शिक्षा का कार्य प्रतिक्षण चलता रहता है। सोते-जागते, उठते-बैठते, सब समय यह क्रिया चलती रहती है और प्रकृति तथा समाज की प्रत्येक वस्तु—कंकड़ और पत्थर से लेकर साधु-संत तक—इस क्रिया में योग देते हैं।

अतः, समाज के निर्माण और उसको स्थित रखने में शिक्षा का बहुत बड़ा हाथ है। किसी भी सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक

क्रान्ति को स्थायी रखने के लिए तदनुकूल शिक्षा-सम्बन्धी क्रान्ति की आवश्यकता होती है। संसार का इतिहास इसका साक्षी है।

उदाहरणस्वरूप रूस, इंगलैंड और डेनमार्क—इन तीन यूरोपीय देशों को ले सकते हैं। इन तीनों देशों की शिक्षा-प्रणाली के तुलनात्मक अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि समाज का आधार है शिक्षा। रूस में साम्यवादी समाज के अनुकूल शिक्षा दी जाती है। विद्यालयों और अध्यापकों पर सरकार का पूर्ण नियन्त्रण है। बच्चों को प्रारम्भ से ही ऐसी शिक्षा दी जाती है, जिससे उनकी निष्ठा साम्यवादी सिद्धान्तों में दृढ़ हो और वे रूस की समाज-व्यवस्था को स्थायी रखने में सहायक हों। इंगलैंड में प्रजातन्त्रात्मक राज्य का विकास हुआ है। वहाँ की शिक्षा में अधिक विविधता और स्वतन्त्रता हैं। डेनमार्क खेतिहरों का देश है। रूस और इंगलैंड का पड़ोसी होते हुए भी उसने पूँजीवाद और साम्यवाद के मध्यवर्ती सहकारी समाज की रचना करने में सफलता प्राप्त की है। उसने संसार को सामाजिक व्यवस्था का एक नया मार्ग दिखलाया है। इसके लिए वहाँ की जन-शिक्षा को ही विशेष श्रेय है।

किसी देश के समाज, साहित्य, शिल्प, सभ्यता, संस्कृति और जीवनादर्श को समझने के लिए वहाँ की शिक्षा-प्रणाली का अध्ययन करना चाहिए। समाज अपने बच्चों को जैसी शिक्षा देता है, अपने शिक्षकों और विद्यालयों को जिस रूप में रखता है, उससे उसके दर्शन, आदर्शों और आकांक्षाओं का पता चलता है।

अब भारतीय इतिहास की ओर दृष्टिपात कीजिए। प्राचीन भारतीय समाज वर्णाश्रम के वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर सगठित था। वह था हमारे इतिहास का स्वर्णयुग। व्यक्ति और समाज के अधिकारों और सम्बन्धों का इतना सुन्दर सामंजस्य अन्यत्र कहाँ मिल सकता है! समाज चातुर्वर्ण्य में विभक्त था। ये चारों वर्ण

सामाजिक शरीर के भिन्न-भिन्न अंग थे। समाज-रूपी विष्णु की वह भव्य कल्पना है जिसमें उसके मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, उदर से वैश्य और पाद से शूद्र की उत्पत्ति मानी गई है। सब वर्णवाले अपने को एक ही समाज का अंग मानते थे। एक वर्ण के सदस्य दूसरे वर्ण के सदस्यों से घृणा नहीं, प्रेम करते थे। अपनी योग्यता और रुचि के अनुसार सब स्वधर्म का पालन करते हुए अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति करते थे।

व्यक्ति का जीवन चार आश्रमों में विभक्त था। वह इन चारों आश्रमों से होता हुआ अपना विकास करता था। और, उन्नयन की एक सीढ़ी से उठकर दूसरी सीढ़ी पर पहुँचता था। साथ-ही-साथ वह प्रत्येक अवस्था में समाज-सेवा द्वारा अपने को सामाजिक ऋण से मुक्त करता था। संन्यासाश्रम में पहुँचने पर तो लोक-कल्याण ही एकमात्र कार्य रहता था।

व्यक्ति और समाज के इस व्यवस्थित जीवन की मूल भीत्ति थी हमारी प्राचीन शिक्षा-पद्धति। शैशव में पालन-पोषण और शिक्षा का उत्तरदायित्व माता-पिता पर था। इसके पश्चात् ब्रह्मचारी गुरुकुल में प्रवेश करता था। यह ध्यान में रखने योग्य बात है कि ब्रह्मचारियों की शिक्षा का भार था समाज के उन त्यागी और तपस्वी मनीषियों पर, जो अपने प्रकाश से स्वतः प्रकाशित थे, जिनसे समाज जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नेतृत्व की अपेक्षा रखता था। ब्रह्मचारी शुद्ध प्राकृतिक और सामाजिक वातावरण में रहकर अपने ज्ञान और अध्यात्म का प्रदीप प्रज्ज्वलित करता था। जब आचार्य ब्रह्मचारी के सर्वांगीन विकास से संतुष्ट हो जाते थे, तब वे उसका समावर्तन कर देते थे। अब वह अपने पूर्व समाज में लौट आता था और गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का अधिकारी समझा जाता था।

इस शिक्षा-प्रणाली की दूसरी विशेषता यह थी कि धनी और गरीब, सब विद्यार्थी एक स्तर पर रहते थे। सबको एक प्रकार का जीवन व्यतीत करना होता था। उस जीवन की भौतिक आवश्य-कताएँ अत्यन्त अल्प थीं। उनकी पूर्त्ति के लिए सब को सामूहिक परिश्रम करना पड़ता था। कृष्ण और सुदामा साथ-साथ समिधा एकत्र करते थे और आश्रम की गौवें चराते थे। यह है उस प्राचीन शिक्षा-पद्धति का चित्र जिस पर गौरवशाली प्राचीन भारतीय समाज आश्रित था। आधुनिक गुरुकुल में कुछ-कुछ इस परम्परा की झलक मिलती है। आज भी उपनयन और समावर्तन संस्कार इस पुराने युग की याद दिलाते हैं। आजकल अधिकांश लोग इन्हें प्रहसन समझते हैं। परन्तु वर्तमान युग में इस प्रहसन-मात्र से तो काम नहीं चलेगा।

आज हमें नये समाज की रचना करनी है। क्यों? इसलिए कि हमारा पुराना समाज जर्जर हो गया है। उसकी जीवनी-शक्ति क्षीण हो गई है। उसमें रूप-रंग, धन-धर्म और जात-पाँत की गहरी खाइयाँ खुद गई हैं। प्रेम का स्थान घृणा ने ले लिया है। अहिंसा को हिंसा ने मार भगाया है। सहयोग के स्थान पर प्रतिद्वन्द्विता और द्वेष का बाजार गरम है; सत्य को असत्य ने आच्छन्न कर लिया है।

यह हमारी शिक्षा का दोष है। गत दो शताब्दियों में यहाँ एक ऐसी शिक्षा-प्रणाली का प्रचलन हुआ, जो अभारतीय थी और जिसका लक्ष्य था भारतीय समाज के ऊपरी वर्ग को समाज से अलग कर देना, जिससे वे धन और नौकरी की लालच में आकर जनता के शोषण में सहायक हों। इस लक्ष्य की प्राप्ति में इस शिक्षा-पद्धति को बहुत कुछ सफलता मिली, इसमें संदेह नहीं।

आज हमें शोषण की इस मनोवृत्ति में परिवर्तन लाना है। अपने विद्यालयों में समाज-सेवा और उच्चादर्शों के नवीन मूल्य को

स्थान देना होगा। इन सब के लिए हमें शिशु-शिक्षा से कार्य प्रारम्भ करना चाहिए। शिशु समाज की नींव हैं। वे भावी समाज के सदस्य और निर्माता हैं। उन्हीं पर भविष्य की रूप-रेखा निर्भर करती है। अनेक समय हम भूल करते हैं यह समझने में कि उनकी शक्ति ही क्या है। हमें शिशु की शक्ति और संभावनाओं को भलीभाँति समझना चाहिए। वे विकास और वृद्धि के साथ-साथ अपने सामाजिक और पारिवारिक वातावरण को भी बदलते हैं।

यही कारण है कि आधुनिक युग के कई भारतीय सुधारकों और विचारकों ने बच्चों की शिक्षा को महत्त्व दिया और शिक्षा-पद्धति में पूर्ण रूप से भारतीयता लाने का प्रयत्न किया। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली का पुनः प्रचलन किया। प्राचीन आश्रमों और तपोवनों से प्रेरणा पाकर गुरुदेव रवींद्रनाथ ठाकुर ने शांतिनिकेतन में अपने विद्यालय की स्थापना की, जो आज 'विश्व-भारती' के रूप में संस्कृति और विद्या का अद्वितीय अंतर्राष्ट्रीय केंद्र हो गया है।

सन् १९२१ ई० के असहयोग आंदोलन से भारतीय शिक्षा के क्षेत्र में राष्ट्रीयता की प्रबल भावना का उदय हुआ। महात्मा गाँधी ने अँगरेजों द्वारा चलाई गई शिक्षा-प्रणाली का घोर विरोध किया। कुछ अध्यापकों और विद्यार्थियों ने स्कूलों और कालेजों का बहिष्कार किया और देश के भिन्न-भिन्न भागों में राष्ट्रीय संस्थाएँ कार्य करने लगीं। आगे चलकर सन् १९३७ ई० में जब गाँधी जी ने देखा कि देश स्वतन्त्रता के द्वार पर खड़ा है, तब उन्होंने हमारे सामने शिक्षा की एक क्रांतिकारी योजना रखी। इसे 'नई तालीम' के नाम से पुकारते हैं। नई तालीम की नवीनता इस बात में है कि वह एक नूतन समाज का निर्माण करना चाहती है, जो प्रेम, न्याय, सत्य

और सहयोग के उच्च आदर्शों पर स्थित हो और जिसके सदस्य सामूहिक कल्याण की ओर प्रतिक्षण अग्रसर होते चले जायँ।

शिक्षा द्वारा हमें भारतवर्ष में ऐसे समाज की रचना करनी है जो भारतीय गाँवों को सुख, शान्ति और श्री से सम्पन्न स्वर्ग में परिणत कर सके तथा जिसमें वर्ग और वर्ण के दूषित भेदभाव न हों। ऐसा तभी सम्भव है, जब व्यक्ति का विकास शैशव काल से ही इन सिद्धान्तों के अनुकूल हो। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना होगा कि वातावरण के घात-प्रतिघातों एवं क्रिया-प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप व्यक्ति का विकास होता है तथा उसके चरित्र में शक्ति आती है। साथ-साथ समाज में परिवर्तन भी होता है। कभी-कभी एक ही व्यक्ति अपने व्यक्तित्व की शक्ति से संपूर्ण वातावरण को बदल देता है; किन्तु उसे स्थायी बनाने का माध्यम शिक्षा ही है।

समाज के निर्माण में दो बातों का अधिक महत्त्व है। एक है शिक्षक का व्यक्तित्व और उसका आदर्श जीवन। दूसरा है शिक्षालय का शुद्ध सात्विक वातावरण और उसका समाज के साथ गहरा सम्बन्ध। यही प्राचीन भारतीय शिक्षा-प्रणाली की विशेषता थी और अब भी होनी चाहिए। शिक्षक को चाहिए कि वह शिक्षालय में विद्यार्थियों को लेकर एक आदर्श समाज और परिवार की रचना करे, जहाँ से बड़े समाज को जीवनी-शक्ति प्राप्त हो सके। उसे अपने आचार-व्यवहार से समाज के वयस्क सदस्यों का हृदय आकर्षित करना चाहिए, जिससे वे समझें कि विद्यालय उनकी अपनी वस्तु है।

समाज के सदस्यों में समता की भावना एक आवश्यक गुण है—सबको बराबर अधिकार प्राप्त हों, विकास की समान सुविधाएँ मिली हों और किसी कारण से कोई हेय अथवा नगण्य न समझा जाय। आज भारतीय समाज में इसकी कमी है। नारियों को वह स्थान प्राप्त नहीं है, जो पुरुषों को। वे अबला कहलाती ही हैं, अपितु सचमुच

अबला हो ही गई है। यही दशा अनेक निर्धन लोगों और पिछड़ी हुई जातियों के सदस्यों की है। एक समय था, जब वैज्ञानिक विश्वास करते थे कि केवल 'योग्यतम को ही जीने का अधिकार' है। आगे चलकर यह धारणा आई कि 'जीवित रहो और दूसरों को भी जीवित रहने दो'। किन्तु प्रगतिशील विचारकों को—जिनमें गाँधी जी अग्रणी हैं—इससे भी सन्तोष न हुआ। उन्होंने बतलाया कि 'अयोग्यतम को भी जीवित रहने की क्षमता दो'।

यह सिद्धांत नये समाज का मूलमंत्र है। अतः, नये विद्यालयों में भिन्न-भिन्न वर्णों और वर्गों से आये हुए लड़कों और लड़कियों में सामाजिक और नैतिक दृष्टि से समानता का विचार लाना होगा। यह तभी सम्भव है, जब सब समान रूप से समाज के सब कार्यों में हाथ बँटायें।

रसोई बनाना, तरकारी चीरना, चावल कूटना, आँटा पीसना केवल लड़कियों का ही काम क्यों समझा जाय ? लड़कों और लड़कियों को इसमें समान रूप से भाग लेना चाहिए। इसी प्रकार जीवनोपयोगी प्रत्येक आवश्यक कार्य सामूहिक रूप से स्वयं करने का अभ्यास प्रारम्भ से ही बच्चों में डालना चाहिए। यदि बच्चे वस्त्र और प्रतिवेश की सफाई में सामूहिक आनन्द पायँगे तो उनके लिए ब्राह्मण, धोबी और भंगी का भेदभाव झूठा प्रतीत होगा। वे भंगी और धोबी के कार्य का महत्त्व समझेंगे और शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक शुद्धि प्राप्त करेंगे।

इस कार्य-प्रणाली से जीवन में अहिंसा की प्रतिष्ठा होगी। हम दूसरों के जीवन का भार नहीं बनेंगे, परिश्रम में सब लोगों की निष्ठा पुष्ट होगी। शोषण का अन्त होगा। हममें से अधिकांश प्रत्येक कार्य में अपना व्यक्तिगत हित ही सोचते हैं; यह नहीं देखते कि उससे अन्य लोगों का या पूरे समाज का कल्याण होता है या नहीं।

यह प्रवृत्ति गत कई शताब्दियों से बढ़ती चली आई है। हम अपने प्राचीन आदर्शों का क्रियात्मक रूप भूल गये हैं। अब 'सर्वे भवन्तु सुखिनः—सर्वेसन्तु निरामयाः' के सिद्धान्त पर समाज का गठन करना होगा। हमारे शिक्षालयों के दैनिक कार्यक्रम—छोटे-बड़े सब कार्य—इस प्रकार संगठित और संचालित हों कि बच्चों के सर्वांगीन विकास में सहायक हों और उनमें लोक-कल्याण की भावना परिपुष्ट हो।

समाज सच्चे अर्थ में स्वतन्त्र होना चाहिए। इसके लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति व्यक्तिगत और सामूहिक स्वतन्त्रता के मूल्य को समझे और उसकी स्थापना तथा रक्षा के लिए प्रयत्नशील रहे। इसकी तैयारी शिक्षालयों में ही हो सकती है। जीवनोपयोगी आवश्यक वस्तुओं के सामूहिक उत्पादन से सहकारिता को प्रोत्साहन मिलता है। भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के सीमा-क्षेत्र में जो बौद्धिक, नैतिक और आध्यात्मिक विकास होता है, वह समाज और व्यक्ति, दोनों के लिए कल्याणकारी सिद्ध होता है। इसके साथ स्वतंत्रता का उत्तरदायित्व निभाने के लिए वस्त्र, भोजन, आवागमन, शिक्षा, मनोरंजन और स्वरक्षा आदि की समस्याओं का समाधान निकल आता है। बच्चों की शिक्षा में इन सबका उचित स्थान रहना चाहिए। सहयोग और सामूहिक प्रार्थना से विद्यार्थी सामूहिक जीवन की कला सीखते हैं।

इस प्रकार शिक्षा का जो कार्यक्रम संचालित होगा उससे नये प्रकार के नागरिक तैयार होंगे, जिनमें विश्व-कल्याण के प्रति अगाध अनुराग रहेगा और जो मानव-संस्कृति को विकसित करने में सर्वथा समर्थ होंगे।

भारतीय नौसेना का जन्म और विकास

भारतीय नौसेना का इतिहास १६१३ ई० से प्रारम्भ होता है, जब ईस्ट-इंडिया कम्पनी ने पुर्तगालियों और डचों से होनेवाले युद्धों में सहायता देने के लिए 'इंडियन मेरीन' की स्थापना की थी। १६८५ में इसका सदर दफ्तर सूरत से उठा कर बम्बई लाया गया। प्रथम महायुद्ध में रायल इंडियन मेरीन के कई फौजी जहाजों ने लड़ाई के लिए सहायक गश्ती जहाजों का काम किया। उसके बाद १६२८ में इस सेवा का पुनर्संगठन लड़ाई के काम के लिए किया गया। १६३४ में भारतीय व्यवस्थापक मंडल ने भारतीय नौसेना-अनुशासन-कानून पास किया और ८ सितम्बर, १६३४ को शाही भारतीय नौसेना की स्थापना हुई। द्वितीय महायुद्ध के दिनों में इस नौसेना के अफसरों एवं नाविकों की संख्या २ से बढ़ कर ३० हजार हो गई और बेड़े में नये ढंग के जहाजों की संख्या भी बढ़ाई जाने लगी। किन्तु १५ अगस्त, १६४७ को इस छोटी-सी नौसेना का एक-तिहाई भाग और ३ बड़े नौसैनिक प्रतिष्ठान पाकिस्तान के हिस्से में चले गये। इसलिए स्वाधीन भारत को इन नौसैनिक प्रतिष्ठानों की व्यवस्था का काम नये सिरे से आरंभ करना पड़ा और साथ ही शस्त्रास्त्रों एवं साज-सज्जा के आधुनीकीकरण, ट्रेनिंग के तरीकों में फेर-बदल तथा धीरे-धीरे भारतीयकरण के लिए भी कदम उठाने पड़े।

शीघ्र ही भारतीय नौसेना के विस्तार का कार्य शुरू हुआ। ब्रिटेन का 'एचिलिज़' नामक क्रूजर १५ सितम्बर, १६४८ को बम्बई पहुँचा और इसका नया नाम 'दिल्ली' रख कर इसे भारतीय नौसेना में मिला लिया गया। दूसरे वर्ष ब्रिटेन के 'रादरहम' 'रिडाउट' तथा 'रेडर' नामक विध्वंसक-पोत खरीद लिये गये और इनके नये

भारतीय नाम क्रमशः 'राजपूत', 'रणजीत' तथा 'राणा' रखे गये। ये तीनों जनवरी, १६५० में बम्बई पहुँचे और इन्हें मिलाकर भारत में विध्वंसकों के प्रथम लघु बेड़े की रचना कप्तान ए० चक्रवर्त्ती के नायकत्व में की गई। साथ ही 'जमुना', 'सतलज', 'कृष्णा' तथा 'कावेरी' नामक फ्रिगेट-जहाजों के लघु बेड़े की रचना कप्तान बी० एस० सोमण के नायकत्व में की गई। इनके अलावा भारतीय बेड़े में कई अन्य जहाज भी हैं। जैसे; ६०० टन वजनवाले कई सुरंग-नाशक जहाज, टैंक उतारनेवाला एक जहाज 'मगर' तथा कुछ अन्य जहाज। हाल में ही भारतीय नौसेना ने ब्रिटेन से 'हंट'-श्रेणी के तीन और विध्वंसक उधार लिए हैं, जिनसे ट्रेनिंग देने का काम लिया जा रहा हैं। इनके नाम 'गोदावरी', 'गोमती' और 'गंगा' रखे गये हैं। बीच समुद्र में जहाजों को तेल पहुँचाने के लिए एक टैंकर भी खरीदा गया है, जिसका नाम 'शक्ति' रखा गया है। इधर ८,००० टन का 'नाइजीरिया' नामक एक और जहाज खरीद कर उसका नया नाम आइ० एन० एस० 'मैसूर' रखा गया है।

इस प्रकार जहाज प्राप्त कर लेने के बाद भारत के सामने इन जहाजों के लिए अफसर एवं नाविक उपलब्ध करने तथा उनकी ट्रेनिंग की व्यवस्था करने की समस्या पैदा हुई। देश के बँटवारे के बाद तीन नौसैनिक प्रतिष्ठान तथा अनेक अनुभवी अफसर भारत के हाथ से निकल गये, इसलिए इनकी पूर्त्ति बहुत आवश्यक थी। ब्रिटिश नौसैनिक विभाग ने हमारे अफसरों व नाविकों के जत्थे को ट्रेनिंग देकर हमारी सहायता की। स्वयं देश में इसके लिए जामनगर तथा बम्बई के ट्रेनिंग प्रतिष्ठानों का विस्तार किया गया और कोचीन तथा विजगापत्तनम् में नये ट्रेनिंग-केन्द्र खोले गये हैं। देहरादून की भारतीय सैनिक अकादमी (अब राष्ट्रीय प्रतिरक्षा-अकादमी) को जनवरी, १६४६ में पुनर्संगठित करके उसमें एक

सम्मिलित सेवा-शाखा की स्थापना की गई, जिसमें सेना की तीनों ही सेवाओं (अंगों) के अफसरों को बुनियादी ट्रेनिंग दी जा सके। इस सम्मिलित शाखा में दो साल की ट्रेनिंग के बाद भारतीय शिक्षार्थियों को ४ से ६ साल तक की ट्रेनिंग के लिए उन्हें ब्रिटेन भेजा जाता है।

२६ जनवरी, १६५० से हमारी नौसेना के नाम से 'शाही' शब्द निकाल दिया गया और तब से वह केवल 'भारतीय नौसेना' ही कहलाती है। श्वेत चिह्न की जगह अब हर प्रतिष्ठान तथा जहाज पर भारतीय नौसेना का चिह्न ही लगता है। इसी प्रकार भारतीय नौसेना के चिह्न ऊपरी भाग से पुराना मुकुट हटाकर उसकी जगह अशोक-सिंह रखे गये हैं और स्टार की जगह कमल ने ले ली है। १६४६ से अब तक भारतीय बेड़ा सद्भाव-प्रदर्शन के रूप में अनेक निकट तथा दूर देशों की यात्रा कर चुका है। इन देशों में मिस्र, इटली, तुर्की, यूनान, पूर्व-अफ्रीका, ईरान, इराक, अरब, आस्ट्रेलिया इंडोनीशिया, बर्मा, मलय, थाईदेश, न्यूजीलैंड आदि सम्मिलित हैं। साधारण नौसैनिक कार्यों के अलावा भारतीय नौसेना के जहाजों ने ब्रिटिश और राष्ट्रमंडलीय देशों की नौसेना के जहाजों के साथ अभ्यासों में भी भाग लिया है और हर बार बड़ी शान से अपना काम किया है। माल्टा के अभ्यास से हमारी नौसेना को बड़ा लाभ हुआ। वहाँ सभी लोगों ने पूरा सहयोग दिया और वहाँ उपलब्ध प्रशिक्षण-सुविधाओं का बहुत लाभ उठाया गया। इन नौसैनिक अभ्यासों में विमानों और पनडुब्बियों का जो प्रयोग किया गया, उससे हमारे नौसैनिकों को बहुमूल्य अनुभव प्राप्त हुआ। ये अभ्यास नौसैनिक प्रशिक्षण के अभिन्न अंग हैं। इनसे जहाजों की कार्य-क्षमता और नौसैनिकों की सन्नद्धता बनी रहती है और वे किसी भी समय युद्ध में उतर सकते हैं। इनके साथ काम करनेवाले नौसैनिक बेड़ों

में मेल भी बढ़ता है। हमारे नौसैनिक बेड़ों ने ध्वज-प्रदर्शन हेतु अनेक यात्राएँ कीं और वहाँ की जनता की सराहना और प्रेम के भाजन बने। इस प्रकार अपने देश का नाम बढ़ा कर इन्होंने देश की उल्लेखनीय सेवा की। जैसे पुराने जमाने में अशोक, चन्द्रगुप्त, पुलकेशी आदि ने अन्य देशों को शान्ति का सन्देश लेकर दूत भेजे थे, वैसे ही हमारे ये जहाज भी दूसरे देशों को हमारा विश्व शान्ति का ही संदेश ले जा रहे हैं।

गत चार वर्षों में हमारे जहाजों ने भूमध्य-सागर, मध्य-पूर्व तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया आदि के विभिन्न देशों की यात्राएँ की हैं। इस साल कुछ जहाजों ने तुर्की, ग्रीस और इटली की यात्रा की और कुछ मिस्र, लीबिया आदि देशों को हमारे जहाजों ने विभिन्न सागरों में और विभिन्न अवसरों पर आपद्ग्रस्त लोगों को बचाने और समुद्र में खोये जहाजों, नौकाओं आदि को खोजने के जो कार्य किये हैं, उन्हें लोग अच्छी तरह नहीं जानते हैं। सन् १९५३ की ग्रीष्म-यात्रा में कमोडोर एस० एन० कोहली के नायकत्व में हमारे नौसैनिकों ने ग्रीस के भूचाल-पीड़ितों की सहायता की। उसी समय 'राणा' ने मछुओं के बचाने में बड़ा काम किया, जो मद्रास के समुद्र-तट से कुछ दूर भयंकर तूफ़ान में फँस गये थे। इसी तरह जब हमारे कुछ विध्वंसक जहाज कप्तान ए० चक्रवर्त्ती के नायकत्व में पूर्वी अफ्रीका गये, तब उन्होंने 'आइल आफ सिलूट' नामक खोये हुए लांच का पता लगाने में मदद दी। १९५० के मार्च मास में 'कृष्णा' पाकिस्तान के व्यापारिक जहाज 'फकीरा' को बचाने के लिए कोचीन-बंदरगाह से दौड़ा गई। पाकिस्तानी जहाज टूट गया था और समुद्र-तट से १५० मील पर थपेड़े खा रहा था। 'कृष्णा' ने उसे बाँध कर कोलम्बो पहुँचाया। इसी तरह १९५२ में श्याम की यात्रा के दौरान में हमारे पोत 'तीर' ने एक चीनी व्यापारी जहाज को संकट

से बचाकर मलाया के बंदरगाह तक पहुँचाया। त्रिकोमाली-स्थित नौसैनिक प्रधान-कार्यालय में लगी आग को बुझाने में 'दिल्ली' के आग बुझाऊ-दल ने जो काम किया, उसकी बड़ी सराहना की गई। ब्रिटेन का माल-वाहक जहाज 'स्केल्डरगेट' जब उड़ीसा के समुद्र-तट के पास बालू में फँसकर डूबने लगा था, तब 'मगर' ने उसपर लदे खाद्यान्न के बोरों को उतारा और जहाज की कुछ बहुमूल्य सामग्री को भी बचाया।

आज भारत भी अपने समुद्री संसार की सुरक्षा के लिए उतना ही सतर्क और सचेष्ट है, जितना कि संसार के अन्य राष्ट्र। यद्यपि संसार में हवाई परिवहन की बहुत अधिक वृद्धि हुई है, किन्तु उससे समुद्री परिवाहन का महत्त्व किसी भी रूप में कम नहीं हुआ है। बड़ी तादाद में एक देश से दूसरे को मदद पहुँचाने के लिए समुद्री परिवहन अभी तक सर्वोत्तम और सुविधाजनक तरीका है। समुद्री शक्ति का मुख्य उद्देश्य समुद्री संचार पर नियंत्रण रखना और युद्ध के दिनों में उसकी रक्षा करना है। द्वितीय विश्व-युद्ध तक संसार की नौसेनाओं का यही निश्चित कर्त्तव्य था। किन्तु पिछले दस वर्षों में इस काम में काफी परिवर्तन हो गया है। जल और स्थल के आक्रमण से जहाजों की रक्षा के अतिरिक्त अब ऊपर आकाश से अथवा हवाई हमलों से जहाजों की रक्षा करना अनिवार्य हो गया है। नौसैनिक विभाग न केवल जहाजरानी के लिए खतरनाक है, बल्कि अपने युद्ध-पोतों और पनडुब्बियों की आँख के रूप में काम करके वे उनकी विध्वंसकता को बहुत अधिक बढ़ा देते हैं। आधुनिक समुद्री युद्ध के अनुभव से यह ज्ञात हो गया है कि सबसे बड़ी दुश्मन पनडुब्बी से रक्षा करने का सर्वोत्तम तरीका यही है कि युद्ध-पोतों के विमान समुद्र में चारों ओर निगाह डाले गश्त लगाते रहें और युद्ध-पोतों में ऐसे यंत्र लगे रहें, जिनसे पनडुब्बियों का पता लगाकर उन्हें नष्ट

किया जा सके। इससे यह स्पष्ट है कि आधुनिक समुद्री शक्ति के लिए अब न केवल जहाजों और पनडुब्बियों की आवश्यकता है, वरन् सुदृढ़ हवाई बेड़ा भी जरूरी है।

इस हवाई बेड़े में दो तरह के विमान होने चाहिए—पहले ऐसे, जो जमीन पर स्थित हवाई अड्डों से उड़कर दूर-दूर तक की उड़ानें भर सकें; और दूसरे ऐसे, जो विमान-वाहक जहाजों से उड़कर अपने जहाजों की रक्षा और सहायता कर सकें। इस प्रकार आधुनिक नौसेना के लिए यह जरूरी है कि उसके पास अपने विमान भी हों, जो विमान ले जानेवाले जहाजों पर ही स्थित हों। दुर्भाग्यवश आज देश में इस कार्य के लिए सीमित धन की उपलब्धि के अतिरिक्त एक और जटिल समस्या यह है कि अभी हमारे पास विमान-वाहक जहाजों के संचालन के लिए पर्याप्त संख्या में ट्रेनिंग-प्राप्त व्यक्ति नहीं हैं। यह समस्या दिनों या महीनों में नहीं सुलझ सकती, बल्कि इसके लिए सतत् आयोजित विस्तार की आवश्यकता है। भावी विस्तार के लिए इधर भारतीय नौसेना में बेड़े की आवश्यकताएँ जानने की एक शाखा खोली गई है। इसका उद्घाटन ११ मई, १९५३ को प्रतिरक्षा संगठन-मंत्री श्री महावीर त्यागी ने किया था। उसी समय समारोह में कोचीन में 'गरुड़' नाम से एक स्वतंत्र नौसैनिक हवाई केन्द्र की स्थापना की गई। इस शाखा का उद्देश्य नौसैनिक जहाजों और कोचीन तथा बम्बई के ट्रेनिंग-स्कूलों में नौसैनिक उड्डयन् की ट्रेनिंग की सुविधाएँ उपलब्ध करना है। यद्यपि अभी इस दिशा में हमारी नौसेना को बहुत दूर तक आगे बढ़ना है, फिर भी यह संतोष की बात है कि इस शाखा की स्थापना से इस महत्त्वपूर्ण कार्य का श्रीगणेश हो गया है।

भारतीय नौसेना ने कोचीन में अपने फ्लीट 'रिक्वायरमेंट यूनिट' के लिए १० सीलैण्ड विमान खरीदे हैं। इनमें से अधिकांश पहले

ही कोचीन में नौसेना के हवाई केन्द्र भारतीय नौसैनिक पोत 'गरुड़' पर आ पहुँचे हैं। सीलैंड ऐसे सबसे छोटे विमानों में से है, जो हर तरह का काम दे सकता है और जल और थल, दोनों ही जगह सैनिक कारवाई में भाग ले सकता है। यह घास के मैदान से उड़ान भर सकता है और उनपर उतर सकता है। इसके लिए कंक्रीट की बनी पटरियाँ आवश्यक नहीं हैं। इसकी कार्रवाइयों पर गरम देशों में होनेवाले मौसमी परिवर्तनों का कोई असर नहीं पड़ता। नदियों, झीलों तथा बन्दरगाहों से यह अच्छी तरह उड़ानें भर सकता है। जमीन पर इसकी संचालन-व्यवस्था के लिए अधिक खर्च की आवश्यकता नहीं पड़ती। खारे पानी से पहुँचनेवाली क्षति से इसकी रक्षा का इसके निर्माताओं ने काफी ध्यान रखा है। यह ६ हजार फुट की ऊँचाई पर प्रति घंटे १७५ मील की उड़ान भर सकता है और चार सौ मील तक मार कर सकता है। इसमें चालक, सहायक चालक, पर्यवेक्षक तथा तीन अन्य व्यक्तियों के बैठने के स्थान की व्यवस्था है।

भारतीय नौसेना की एक उल्लेखनीय बात यह है कि पिछले पाँच वर्षों से जहाजों के सभी अफसर भारतीय ही नियुक्त रहे हैं। केवल रियल एडमिरल अंगरेज रहे हैं। लेकिन, १२ अक्टोबर १९५६ को इस पद पर भी एक भारतीय रामदास कटारी की नियुक्ति हो गई है। ये पहले भारतीय हैं, जिन्हें नवाधिपति (एडमिरल) पद पर प्राप्त हुआ है।

समानता, स्वतंत्रता और भ्रातृत्व

समानता, स्वतंत्रता और भ्रातृत्व–ये तीनों तत्त्व मानव के मौलिक अधिकार माने जाते हैं। और, मानवीय आदर्शों के रूप में, इनकी प्रतिष्ठा फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति की पृष्ठभूमि में हुई है। उन दिनों इन तीनों अधिकारों को परम तत्त्व माना जाता था। लेकिन हम देखते हैं कि ये 'परम तत्त्व' नहीं हैं, बल्कि समय की औद्योगिक और राजनीतिक प्रगति के साथ सम्बद्ध हैं। जब तक राजनीतिक और सामाजिक ढाँचा इसे सम्भव नहीं बनाता, तब तक इसका कोई अस्तित्व ही नहीं रह जाता। इनका तब तक कोई मूल्य नहीं, जब तक कि सब स्त्री-पुरुष स्वेच्छा से, स्वतंत्रतापूर्वक एवं ज्ञानपूर्वक इसमें योग न दें। आज के संसार में औद्योगिक सृजन के लिए इनकी आवश्यकता है। हालाँकि 'अधिकार' स्वयं नियामक हैं, फिर भी इन अधिकारों को प्राप्त करने की बात तब तक नहीं सोची जा सकती, जब तक कि उत्पादन को संगठित न किया जाय। बल्कि यह कहना अधिक सही है कि उत्पादन के संगठन को प्राप्त करने के लिए जो संघर्ष किया जाता है, उसी से इन अधिकारों का जन्म होता है।

आज हमारे सामने यह सवाल तो आता ही नहीं है कि जन्म से सब समान हैं। हम जानते हैं कि जहाँ तक शारीरिक और मानसिक क्षमता का सवाल है, यह बात सही नहीं है। जिन लोगों ने समानता के लिए संघर्ष किया, उन्होंने ऊपर लादी हुई असमानता का ही विरोध किया है। समाज या उत्पादन के सम्बन्ध में जब हम समानता को समझने की बात सोचते हैं, तब हमें केवल आदमी की उपादेयता को ध्यान में रखना चाहिए। हमें देखना चाहिए कि व्यक्ति समाज के लिए किस हद तक उपयोगी है, और इसी कसौटी से उत्पादन-प्रणाली में उसका स्थान निर्धारित होना चाहिए। दूसरी

चीजों का—यानी रंग का, धर्म का या डाइरेक्टर से रिश्तेदारी को मापदंड बनाने का—मतलब है कि हम सारे संगठन का गला घोंट दें; क्योंकि एक तो हम मानव की समूची सृजन-शक्ति का उपयोग नहीं कर सकते और दूसरे इसमें अन्याय की भावना निहित है, जिसके कारण हम सब लोगों का पूर्ण सहयोग प्राप्त नहीं कर सकते।

यदि हर एक आदमी को योग्यतानुसार ही उसका स्थान समाज में नियत होना है, तो यह यथासम्भव जल्दी ही होना चाहिए, जिससे उसकी पूरी सृजन-शक्ति का सदुपयोग हो सके। इसलिए समानता का मतलब है सच्चे अर्थों में सबको शिक्षा के लिए समान अवसर देना। साथ ही, माता-पिता के सामाजिक स्थान के कारण लोगों को जो विशेष लाभ मिले हुए हैं, उन्हें एकदम समाप्त कर देना। पिछली और आज की दोनों सामाजिक व्यवस्थाओं का आधार शोषण रहा है, जो स्वयं असमानता पर आधारित है। सामंती समाज में यह असमानता सामाजिक स्तर की थी और पूँजीवादी समाज में धन की। इन दोनों में पूँजीवादी व्यवस्था अधिक प्रगतिशील है; क्योंकि 'स्तर' प्राप्त नहीं किया जा सकता था जब कि धन एक हद तक प्राप्त किया जा सकता है। फिर भी धन और प्राप्त 'स्थान' के ध्येय का नतीजा है पिछले समाज से भी अधिक असमानता। व्यापारिक धुरी पर सारे समाज को घुमाने के कारण नई असमानताएँ आईं, जिनमें मुख्य है—जातिगत। जातिगत असमानता से यह साफ जाहिर है कि मानव की पूरी शक्तियों का सदुपयोग नहीं हो रहा है। यह बात दक्षिण-अफ्रीका के रंग-भेद के कानूनों से साफ हो जाती है, जिनके अनुसार वहाँ के अधिवासी बहुत से ऐसे काम नहीं कर पाते, जिनको करने के लिए उन्हें अयोग्य बता दिया जाता है। यही जाति-गत असमानता आगे चलकर

बाजारों के लिए झगड़ों, विद्रोह का भय और साम्राज्यवादी युद्धों का रूप धारण कर लेती है।

दूसरे प्रकार की जो असमानता हटानी होगी, वह है स्त्री-पुरुष सम्बन्धी। यदि 'काम करने की क्षमता' को ही कसौटी मान लिया जाय, तो पता चलता है कि यह स्वाभाविक फल है, जैसा कि युद्ध-काल में ज्ञात हुआ। शिक्षा के समान अवसर और बराबर काम के लिए बराबर मजदूरी से उनके कार्यक्षेत्र एक नहीं हो जायँगे। बच्चे पैदा करना और उनका पालन-पोषण अवश्य स्त्रियों का कुछ-न कुछ समय लेंगे ही। लेकिन ये कार्यक्षेत्र समानता के युग में स्वेच्छा से अपनाये जायँगे—उस जर्जर समाज द्वारा लादे नहीं जायँगे, जिसमें कि स्त्री को सारा समय घर के धंधों में ही लगाना पड़ता है और जिसमें बेकारी के भय का भूत सदा घेरे रहता है। हमें जातिगत और स्त्री-पुरुष-सम्बन्धी असमानताओं को हटाना ही होगा। भावी समाज किसी भी लादी हुई असमानता को सहन नहीं करेगा; क्योंकि ऐसा करने पर वह लक्ष्यभ्रष्ट हो जायगा। उसका लक्ष्य हैं उत्पादन-संगठन द्वारा सद्परिस्थितियों का निर्माण।

अभी तक स्वतंत्रता को एक निषेधात्मक रूप दिया जाता रहा है। इसका अर्थ यह है कि आदमी सदा साधारणतया किसी-न-किसी प्रकार के नियंत्रण के नीचे रहा है—चाहे वह मालिक का हो या सरकार का। इसलिए स्वतंत्रता का अर्थ होगा इस नियंत्रण की समाप्ति। इसके बाद सब स्वतंत्र हो जायँगे—जो जैसा चाहे, वैसा करे। यह परिभाषा काफी नहीं है। जंजीरों, चाबुकों और भुखमरी या इनके भय के प्रत्यक्ष नियंत्रण के अलावा भी अप्रत्यक्ष नियंत्रण होता है, जो सामाजिक परिस्थितियों द्वारा आदमी के स्वभाव को प्रभावित करता है। यह नियंत्रण या तो आदमी को (प्रकट रूप में (स्वेच्छा से) गुलाम बनाता है या अत्याचारियों के दल का

सदस्य। सारे सामाजिक नियमों—प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष—को तोड़ देना न तो वांछनीय है और न सम्भव ही। आदमी समाज से अलग नहीं रह सकता। जब भी वह ऐसा करता है, तभी उसका नतीजा समाज पर खराब ही पड़ता है। इस प्रकार पूँजीवाद के प्रारम्भिक युग में स्वतंत्रता का अर्थ लगाया जाता था कि आदमी को वह जैसा चाहे, वैसा करने की स्वतंत्रता हो। व्यापारियों या मिल-मालिकों की स्वतंत्रता का अर्थ होता था मजदूरों की गुलामी—चाहे वह कारखानों में हो या बस्तियों में। तो स्वतंत्रता की परिभाषा की यह कठिनाई यह कहने से दूर हो जाती है कि आदमी को जैसा चाहे, वैसा करने की स्वतंत्रता उस हद तक होनी चाहिए, जिससे दूसरों को कोई हानि न पहुँचे। लेकिन इसमें यह बताना कठिन है कि किस काम को करने या न करने से दूसरों को क्या हानि पहुँचती है। इस प्रकार १६ वीं सदी में औद्योगिक नगर बसानेवालों ने अप्रत्यक्ष रूप से कई पीढ़ियों तक लाखों लोगों को हानि पहुँचाई।

लेकिन, १६ वीं सदी के बुर्जुआ की यह संदेहास्पद स्वतंत्रता भी आज सही नहीं कही जा सकती। हम देखते हैं एक देश के बाद दूसरे देश में स्वतंत्रता का विध्वंस और समूचे राष्ट्र की गुलामी! जो डिक्टेटर ऐसा करते हैं, वे तो प्रतीक-मात्र हैं। यदि एकाधिकार और आदमी की आर्थिक स्वतंत्रता का विनाश न हुआ होता, तो आज इन डिक्टेटरों की भी कोई हस्ती न होती। अमरीकनों, अंगरेजों और फ्रांसीसी लोगों में जायदादवालों को जो स्वतंत्रता मिली थी, उसका युग अब गया। नई स्वतंत्रता तो सबके लिए होनी चाहिए, लेकिन यह स्वतंत्रता भिन्न प्रकार की होगी।

अब हम स्वतंत्रता को निषेधात्मक नहीं, नये और सक्रिय अर्थों में लेंगे। आदमी को यह निर्णय करने की स्वतंत्रता हो कि वह

सामाजिक कार्यक्रम में अपनी इच्छानुसार कैसे योग दे। इस कार्य का कोई-न-कोई अंश तो उसे अपनाना ही होगा। लेकिन वह पूरी तौर से तय नहीं कर सकता कि वह क्या काम करेगा; क्योंकि यह एक हद तक उसकी योग्यता और वर्तमान परिस्थितियों का भी प्रश्न है। किन्तु इन सीमाओं के अंदर चुनाव करने का अधिकार केवल उसका होना चाहिए। ज्यों-ज्यों उसको यह ज्ञान होगा कि समाज कैसे चलता है, त्यों-त्यों वह यह समझ सकेगा कि वह किस काम को भलिभाँति और आसानी से कर सकता है और कहाँ उसे सफलता नहीं मिलेगी। इस प्रकार उसका कार्यक्षेत्र और क्रियाशीलता बढ़ती जायगी और वह अधिक स्वतंत्र हो जायगा। आज की स्वतन्त्रता और प्राचीन काल की स्वतंत्रता में भिन्नता है, जिसमें स्वतंत्रता का अर्थ केवल गुलामी से मुक्ति था। यह पूँजीवाद के प्रारंभिक दिनों की स्वतंत्रता से भी भिन्न है, जिसमें इसका अर्थ केवल 'लाभ-अर्जन' के ऊपर से नियंत्रण का हटना था। अब जो स्वतंत्रता होगी, वह सुव्यवस्थित होगी, अव्यवस्थित नहीं — प्रत्येक को अपना स्थान नियत करने की पूर्ण स्वतंत्रता होगी।

वह समाज कभी उत्पादन में प्रगति नहीं कर सकता, जिसमें व्यक्ति की क्रियाशीलता के लिए स्थान नहीं है। पूँजीवादी समाज की व्यक्तिगत क्रियाशीलता से वह क्रियाशीलता भिन्न है। इसमें सहकारिता से काम करना होगा, व्यक्तिगत तरीके पर नहीं। इस परिवर्तन की पहल भी व्यक्ति द्वारा ही होगी; लेकिन यह परिवर्तन सामाजिक होगा और सबकी सहमति से होगा। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति का यह काम होगा कि वह अपने साथियों को समझाए कि यह परिवर्तन आवश्यक है। वास्तव में नवीन समाज ऐसा होगा, जिसमें नित नये परिवर्तन हों, निरंतर विकास होता रहे और मानव की क्रियाशीलता के अत्यंत विस्तृत क्षेत्र हों। इसमें संदेह नहीं कि

सोवियत यूनियन के सामाजिक और उत्पादन-सम्बन्धी विकास में किसी भी स्वतंत्र पूँजीवादी देश के मुकाबले व्यक्ति में कहीं अधिक क्रियाशीलता, कल्पनाशीलता दिखाई देती है। इस प्रकार नई दुनियाँ में स्वतंत्रता का अर्थ होगा प्रत्येक व्यक्ति की सृजन-शक्ति का पूरा-पूरा सदुपयोग।

आज भ्रातृत्व का अधिकार बड़ा अजीब-सा लगता है, फिर भी तीनों अधिकारों में यह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि बाकी दोनों इसी में से निकले हैं। पिछले खूनी महायुद्ध के बावजूद मानव-एकता और विश्व-बन्धुत्व की भावना कभी इतने प्रबल वेग से नहीं आई थी। अब लोगों में (जनता में और जातियों में) घृणा कम है; जो भी है, वह शोषक और शोषित में है; जालिम और मजलूम में है। बन्धुत्व की भावना फैल रही है; क्योंकि एक देश में होनेवाली घटनाओं का अवश्यम्भावी प्रभाव दूसरे देशों पर पड़ता है। इसमें जो व्यवधान हैं, वे सब पुरानी समाज-व्यवस्था के अवशेष हैं—लोभ के और शोषण के भय के। उन लोगों को भी भय है, जो यह जानते हैं कि उन्हें अपने हिस्से से अधिक मिल रहा है, और वे अपने शिकार से घृणा करते हैं। जब 'राष्ट्रीय' राज्यों में एकाधिकार चल पड़ा, तब वे हर एक प्रकार के प्रचार से अपने और दूसरे देशों की जनता के बीच घृणा फैलाने लगे। इसी लादी हुई घृणा के कारण पिछले पचास वर्षों से संसार में अशांति, भय और युद्ध चलते रहे हैं। लेकिन, आश्चर्य की बात तो यह है कि शायद युद्ध की भयंकरता से ही व्यवधान टूट जायँगे। जन-साधारण समान प्रकार की परिस्थितियों के शिकार होते हैं। उन्हें जैसे ही यह ज्ञान हो जायगा, वैसे ही उनका आपसी विद्वेष हटकर दृढ़ता आ जायगी और वे उस व्यवस्था को उखाड़ फेकेंगे, जिसमें उन्हें घृणा से अच्छी कोई भी चीज नहीं मिल सकती।

नये संसार में सारे उत्पादन और सामाजिक संगठन के लिए बन्धुत्व ही प्रेरणा का स्रोत होगा। यदि किसी 'आदर्श' कही जानेवाली व्यवस्था के मूल में इस भावना का अभाव है, तो उससे कोई अधिक लाभ नहीं हो सकता। भूतकाल में यह प्रेरणा मालिक को लोभ से मिलती थी और मजदूरों को भय से। लेकिन अब ऐसा नहीं चल सकता। आज ये सब बातें जीर्ण हो रही हैं। प्रेरणा का नया स्रोत समानता और स्वेच्छा पर आधारित होगा। आज नहीं, तो कल 'प्रत्येक से योग्यतानुसार और प्रत्येक को आवश्यकतानुसार' के साम्यवादी नारे पर चलना होगा। ऐसा इसलिए नहीं कि यह एक आदर्श चीज है, बल्कि इसलिए कि यही एक तरीका है, जिससे उत्पादन की मशीन सुचारु रूप से चल सकती है। पर यह बात एक साथ सम्भव नहीं हो सकती। आज समाज का प्रभाव प्रत्येक व्यक्ति पर पड़ता है; इसलिए बन्धुत्व की भावना या तो पारिवारिक सीमाओं में सम्बद्ध हो गई है या छोटे-छोटे सामाजिक गुटों में। पूँजीवाद के 'स्वर्ण-काल' में भी अधिकतर पूँजीवादी केवल अपने लिए ही काम नहीं करते थे। वे अपने-अपने परिवारों के लिए काम करते थे या कभी-कभी कम्पनी में रुपया लगानेवालों के लिए। बन्धुत्व की भावना का अधिक विस्तार करने के लिए, अधिक विस्तृत परिवार के लिए काम करने के लिए, जो आगे चलकर सारी मानवता को अपना ले, शिक्षण की आवश्यकता है। इसमें दो-एक पीढ़ियाँ लग जायँगी। लेकिन यह स्कूली शिक्षा कदापि नहीं है। यह तो जीवन के अनुभव की शिक्षा है। लोग समझने लगे हैं कि व्यक्ति और समाज के संघर्षों को हम और अधिक नहीं चला सकते और यह कि केवल सुसंगठित समाज द्वारा ही दोनों एक हो सकते हैं। बन्धुत्व कोई ऐसा आदर्श नहीं है, जिसे पाने के लिए

हम सुदूर भविष्य की प्रतीक्षा करें। यह तो आज की दुनियाँ को सह्य बनाने के लिए तात्कालिक आवश्यकता है।

स्वतंत्रता, समानता तथा बन्धुत्व केवल मानव-जीवन के लिए आवश्यक उपादान हैं। आज के संसार में, जब कि मानव शक्ति का इतना विकास हो चुका है, इन अधिकारों पर चोट पड़ने का फल होगा तकलीफें, सामाजिक अव्यवस्था और युद्ध। लेकिन इन मानव-अधिकारों की प्राप्ति तब तक नहीं हो सकती, जब तक कि उत्पादन और समाज का संगठन ठीक नहीं हो जाता। अधिकारों को जीतना और प्राप्त किये हुए अधिकारों की रक्षा करना अब केवल राजनीतिक काम ही नहीं है, बल्कि आर्थिक और 'टेकनिकल' भी है। बिना सामाजिक परिस्थितियों को सुधारे ये अधिकार खोखले शब्द-मात्र रह जाते हैं। भूतकाल में यदि ऐसा नहीं था तो इसलिए कि तब आदमी प्राचीन काल से चले आये सामाजिक और आर्थिक तरीकों पर भरोसा कर सकता था। वह खेती, दस्तकारी, वाणिज्य आदि के प्रचलित रूप को चिरस्थायी समझता था। लेकिन, अब हम, लोगों के लिए यह सम्भव नहीं है। उत्पादन और वितरण की व्यवस्था अब विज्ञान की प्रगति और टेकनिक के संयोग से बदल गई है। अब समाज का स्थिर और चिरस्थायी रूप नहीं है। हमें जीवित रहने के लिए इसके आर्थिक और राजनीतिक रूप को भली भाँति समझना और नियंत्रित करना होगा।

विनोबा का भूदान-यज्ञ

गाँधी जी ने सत्य और अहिंसा के औजारों के सहारे भारत-भूमि को लगातार बीस वर्षों तक जोत-कोड़ कर तैयार किया और उसमें क्रांति के जो बीज उगाये, उनका सुफल हमें मिल चुका—राजनीतिक स्वराज्य के रूप में। लेकिन, अब एक ऐसे समाज-शिल्पी की आवश्यकता आ पड़ी, जो पुनः धर्म-क्षेत्र भारत-क्षेत्र को सत्य और अहिंसा के औजारों से जोत-कोड़ कर तैयार करे और उसमें क्रांति के ऐसे बीज लगावे, जिनका फल हो—हमारी आर्थिक समानता, आर्थिक स्वराज्य ! सौभाग्य से हमारे देश को ऐसा समाज-शिल्पी मिल चुका है—संत विनोबा के रूप में।

गाँधी जी के निधन के बाद ही, सन् १९४८ में, सेवाग्राम में, उनके अनुयायियों का एक सम्मेलन हुआ। उस सम्मेलन में दो संस्थाओं की प्रतिष्ठा की गई—सर्वोदय समाज तथा सर्व-सेवा-संघ। गाँधी जी के जीवन और कार्य के संदेश को कार्यान्वित करना इन दोनों संस्थाओं का मुख्य उद्देश्य रहा। 'समाज' सर्वोदय की विचार-धाराओं का प्रतिनिधित्व करता है और संघ सर्वोदय-समाज की कार्य समिति के रूप में है। सर्वोदय-समाज के अधिवेशन में जमीन के बँटवारे की समस्या को हल करने का भार सौंपा गया आचार्य विनोबा पर। वर्धा से छः मील दूर, पौनार में इन्होंने अपना आश्रम बनाया था और वहीं इस दिशा में अनेक प्रयोग चला रहे थे। सन् १९५१ में हैदराबाद में होनेवाले सर्वोदय-समाज के तीसरे अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिए इन्हें निमंत्रण मिला। अपने सिद्धांत के अनुसार ये आश्रम से पाँव-पयादे हैदराबाद के लिए रवाना हो गये। पौनार से हैदराबाद लगभग साढ़े तीन सौ मील दूर है।

हैदराबाद में सम्मेलन के समाप्त होने पर पुनः विनोबा जी पैदल ही वर्धा के लिए रवाना ही हुए। इसी यात्रा में एक ऐसी घटना घटी, जिसने विनोबा को प्रकाश की किरण दी। घटना इस प्रकार है—१८ अप्रैल, १६५१ को विनोबा ने तैलंगाना जिले के पौचमपल्लि गाँव में डेरा डाला। रात को गाँववाले इनके निकट जुटे। ये सबको उपदेश करने लगे। बातें समाप्त होने पर, कुछ हरिजनों ने विनोबा जी से कहा कि हमलोग गाँव भर की जमीन जोतते-कोड़ते हैं; लेकिन हमें एक धूर भी अपनी जमीन नहीं है। हरिजनों की बात सुनकर विनोबा जी गंभीर होकर सोचने लगे कि क्या इन दर्शकों के बीच ऐसा कोई नहीं है, जो इन भूमिहीन हरिजनों की जमीन की प्यास शांत कर सके! इन्होंने दर्शकों से अपील की और इनकी अपील पर एक भूस्वामी आगे बढ़ा और विनोबा जी से कहा कि मैं इन हरिजनों को सौ एकड़ जमीन देता हूँ। हरिजन सौ एकड़ जमीन पाकर निहाल हो गये।

इसी घटना ने विनोबा जी को भूदान-यज्ञ का होता बनने का साहस और बल दिया। फिर क्या था, दूसरे ही दिन से उसी तैलंगाना जिले में, जहाँ जमीन को लेकर ही दिन-दहाड़े मार-काट का बाजार गर्म हो उठता था, विनोबा जी ने भूदान-यज्ञ प्रारम्भ कर दिया। और, आज विनोबा अपने अनुयायियों और साथियों के साथ पाँव-पयादे देहातों में घूमते हैं, अलख जगाते हैं, लोगों को ईश्वर का सन्देश सुनाते हैं और जमीन के मालिकों से आग्रह करते हैं कि वे अपनी जमीन का छठाँ भाग ऐसे गरीबों के लिए दान करें, जो भूमिहीन हैं, मगर जमीन जोतते-कोड़ते हैं।

सुनते हैं, किसी युग में, दानवेन्द्र बलि ने सारी पृथ्वी पर अपना एकछत्र स्वामित्व स्थापित कर लिया था। तब स्वयं भगवान् ने बावन रूप धारण कर उनसे भूमि का दान माँगा। दानवेन्द्र के

हृदय में मानवता की ऐसी प्रबल प्रेरणा जाग्रत हुई कि उन्होंने सारी भूमि बावन ब्राह्मण को दान में दे दी। बावन ने प्रजाओं के मध्य वितरण करने के अभिप्राय से, प्रजापति कश्यप को सारी भूमि सौंप दी। आज बावन-रूप विनोबा उसी आदर्श को सामने रखकर विश्व की आर्थिक विषमता का अंत करने के हेतु भूदान यज्ञ के महान् होता बने हुए हैं।

भूदान-आन्दोलन बराबर आगे अविरत गति से बढ़ता जा रहा है। भूदान आन्दोलन चूंकि विधायक आन्दोलन है; अतः उसके विकास की मंजिलें भी ठोस प्राप्तियों, उपलब्धियों और अनुभवों के साथ हैं, जिन्हें हम विनोबा जी के ही शब्दों में पाँच हिस्सों में देख सकते हैं—[१] अशान्ति-शमन, [२] ध्यानाकर्षण, [३] निष्ठानिर्माण, [४] व्यापक भूमिदान और [५] भूमि-क्रान्ति।

[१] पहली भूमिका में तैलंगाना में मालिकों और मजदूरों के बीच का द्वेष-भाव मिटाने का प्रयत्न हुआ। [२] दूसरी भूमिका में दिल्ली-यात्रा के दौरान में यह विश्वास हुआ कि किसी खास परिस्थिति और राज्य में ही नहीं, समूचे देश में यह कार्यक्रम चल सकता है। [३] उत्तर प्रदेश में ५ लाख एकड़ की प्राप्ति ने देश में इस निष्ठा और विश्वास को पैदा कर दिया कि भूदान से देश की समस्याओं का समाधान हो सकता है। [४] बिहार में ३ लाख दाताओं द्वारा २३ लाख एकड़ भूमि की प्राप्ति ने आन्दोलन की जड़ को जमाया तथा व्यापक बनाया। [५] पाँचवीं भूमिका उड़ीसा में ग्रामदानों की प्राप्ति से प्रारंभ हुई। छठी भूमिका का प्रारम्भ तमिलनाड में समग्र क्रान्ति की दृष्टि से हो रहा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि डिसमिल-एकड़ से प्रारंभ होकर आन्दोलन समूचे ग्राम की समस्या को हल करने तक पहुँचा है और जिले तथा प्रान्त की

समस्या को हल करने की तरफ तेजी से बढ़ रहा है। आगे हम आन्दोलन की अन्य विशेषताओं पर विचार करेंगे।

सर्वोदय विचार आज की प्रचलित और मान्य लोकशाही पद्धति को नहीं मानता; क्योंकि इसकी जड़ में शोषण, संघर्ष, द्वेष, संदेह तथा प्रतिस्पर्धा भरी है। तानाशाही को तो सभी नहीं मानते। इन दोनों पद्धतियों से आर्थिक, सामाजिक समता और स्वतंत्रता की निष्पत्ति नहीं हो रही है। अतः, वह लोकनीति को मान्यता देता है। अर्थात् जनता लोकशक्ति के संघटन द्वारा अपनी नित्यप्रति की आवश्यकताओं को अहिंसक ढंग से हल कर ले; जैसे, अन्न (भूमि), वस्त्र (उद्योग धंधे), और राज्य का भरोसा न रख अपने पैर पर स्वावलंबी हो। ग्राम को ही व्यवस्था की सबसे प्रमुख और मजबूत इकाई बना ले और एक दिन राज्य को ही विघटित कर दे। इसी से सर्वोदय विचार पक्षनीति और चुनाव में विश्वास नहीं रखता।

सर्वोदय समाज के सामाजिक ढाँचे में सबसे प्रमुख स्थान ग्राम का होगा। व्यवस्था की मूलभूत बातें गाँव के अधिकार में होंगी। जाति-भेद, संप्रदाय-भेद, ऊंच-नीच का स्थान नहीं होगा। सबको समान वेतन एवं समान सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक प्रतिष्ठा की सुविधा होगी। खेती का काम करते हुए खानदानी पेशों को सब करेंगे परन्तु जाति का मुहल्ला नहीं होगा। इस प्रकार पुरानी वर्ण-व्यवस्था और नयी वर्ग-व्यवस्था, दोनों के दोषों से मुक्ति का प्रयास सर्वोदय समाज में होगा। स्त्री-पुरुष में कोई भेद नहीं रहेगा। अहिंसक क्रान्ति की प्रक्रिया के कारण शारीरिक शक्ति का भेद मिटेगा। स्त्री न देवी रहेगी और न दासी, वह केवल स्त्री रह जायगी, जो अभी कहीं नहीं है।

सर्वोदय विचार कला और कर्म को, आत्मज्ञान और विज्ञान को समान महत्त्व देता है। शरीर-श्रम, और बुद्धि-श्रम दोनों अलग चीज

नहीं है और न दोनों का भिन्न आर्थिक मूल्य होना चाहिए। मनुष्य के लिए दोनों जरूरी हैं। विज्ञान के हम विरोधी नहीं हैं बशर्ते कि विज्ञान मानव की अंगुलियों के सहयोग से इनकार न करे तथा उसे भूखों न मार डाले। इसी से विनोबा जी यंत्रों को तीन हिस्सों में बाँटते हैं—[१] समय-साधक—मोटर, हवाई जहाज, टेलीफोन, रेडियो. आदि। इनका विकास चाहते हैं। [२] संहारक—बम, तोप, बन्दूक आदि। इनका खात्मा चाहते हैं। [३] उत्पादक—जो देश, काल, परिस्थति के कारण मारक एवं पूरक, दो तरह के होते हैं। जैसे; ट्रेक्टर अमेरिका और रूस में पूरक तथा हमारे यहाँ मारक है। उसी प्रकार अन्य भी। अतः, सर्वोदय उन्हीं उत्पादक यंत्रों का हिमायती है, जो अधिक से अधिक काम दे सकें और उत्पादन बढ़ा सकें। इसे जो नहीं समझते, वे सर्वोदय को पुरातनवादी तथा रूढ़िप्रिय मान बैठते हैं।

सर्वोदय आज की शिक्षा की जगह नयी तालीम चाहता है; जिसका माध्यम पुस्तकें मात्र नहीं, बल्कि मूल-उद्योग, सामाजिक वातावरण तथा प्रकृति-निरीक्षण रहेगा। गणित, साहित्य, संगीत इसी के द्वारा चलेंगे। शिक्षा का ध्येय नौकरी नहीं, बल्कि ज्ञान, कर्म तथा भक्ति का समन्वय तथा स्वावलंबन होगा। आज कला के दो कर्म हैं—[१] पेट-पोषण तथा [२] मनोरंजन, कामतृप्ति। कला को यहाँ से उबार कर, श्रम के साथ उसका मेल बिठाकर, मानव के उन्नयन में लगाने का प्रयास सर्वोदय करेगा।

भूदान आन्दोलन की सबसे बड़ी महिमा यदि कोई है तो यही है कि इसने देश में तेजी से गिरते नैतिक और चारित्रिक पतन को रोका है और मानव के सार्वभौम गुणों—त्याग, उत्सर्ग, क्षमा, करुणा, निर्भयता, 'स्व' को भूल कर 'पर' चिंता, पड़ोसी के लिए सब कुछ बलिदान करने की वृत्ति—का विकास किया है।

भूमि के बँटवारे के विचार को भूदान से काफी बल एवं प्रेरणा मिली है। ३० एकड़ की सीलिंग को वैधानिक मान्यता दिलाने का प्रयास, अर्थशास्त्रियों की ५, ७ एकड़ की होल्डिंग को एकोनामिक मानना तथा परियोजना-आयोग का भूमि के संबंध में तेजी से बदलते विचार इसके प्रमाण हैं। आन्दोलन के आगे बढ़ते जाने से ग्रामोद्योगों और शिक्षा के संबंध में भी विचार धीरे-धीरे साफ हो रहे हैं। मजदूरों में जागृति फैल रही है। अमीरों की परिस्थति के संकेत का पता लग रहा है। खेती की तैयारी तथा टेकनिकल शिक्षा की तरफ बढ़ती दिलचस्पी इसके सबूत हैं।

कांचीपुरम् सर्वोदय सम्मेलन के बाद विनोबा जी ने अगले वर्ष का कार्य-क्रम तमिलनाड में समग्र क्रान्ति के प्रयोग का तय किया है। तमिलनाड में वे (१) भूमि का बँटवारा, (२) गृह और ग्रामोद्योगों का संगठन, (३) नयी तालीम का शिक्षण और (४) जाति बिरादरी तथा साम्प्रदायिकता का निर्मूलन—इस चतुःसूत्री कार्य-क्रम को शीघ्र से शीघ्र पूरा करना चाहते हैं।

संयुक्त राष्ट्रसंघ

प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात्, मुँह में राम, बगल में छुरी लेकर विश्व के महान् एवं समर्थ राष्ट्रों ने, स्वीटजरलैंड के पहाड़ पर, राष्ट्रसंघ (लीग ऑफ नैशन्स) नामक एक अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक संस्था की स्थापना की। यद्यपि विश्व में शांति-संस्थापन ही इस संघ का प्रधान उद्देश्य था, मगर कुछ ही वर्षों के इसके भेद-भरे रवैयों को देख कर दुनिया के शांतिप्रिय राजनीतिज्ञों ने स्पष्ट कह

दिया था कि यह राष्ट्रों का नहीं, लुटेरों का संघ है। संयुक्त राष्ट्र अमरीका इसका सदस्य नहीं हुआ, मगर तटस्थ रह कर भी इसके कार्यों में दखल देने से बाज नहीं आया। सोवियत रूस को तो इसकी सदस्यता प्राप्त करने का अधिकार ही नहीं दिया गया। फलतः, अपने प्रायः सत्रह-अठारह वर्षों के जीवन-काल में इस संघ ने विश्व-शांति के एक भी प्रयास में सफलता नहीं पाई। पुनः द्वितीय विश्व-युद्ध की समाप्ति पर संयुक्त राष्ट्र अमरीका के लेक-ससेक्स में इसी प्रकार की एक दूसरी अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक संस्था की प्राण-प्रतिष्ठा की गई और उसका नाम रखा गया—संयुक्त राष्ट्र-संघ (युनाइटेड नैशन्स ऑरगॅनिजेशन)।

सन् १९४१ में, जब यूरोप के छोटे-छोटे राष्ट्र हिटलर के अत्याचार से त्रस्त हो गये तथा उनकी सरकारों के प्रतिनिधियों ने, लंदन के सेंट जेम्स पैलेस से, सामूहिक रूप में, यह घोषणा की कि वे केवल युद्ध-काल में ही नहीं, बल्कि शांति-काल में भी मित्रता के संगठन-सूत्र में आबद्ध रहेंगे, तब इंगलैंड और अमरीका में इसकी प्रतिक्रिया हुई, और इसी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप इंगलैंड के उस समय के प्रधान-मंत्री चर्चिल तथा अमरीकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने अटलांटिक-संधि की तथा सभी मानवों के कुछ मौलिक अधिकारों को मान्यता देते हुए यह घोषणा की कि प्रत्येक राज्य की जनता को अपनी रुचि के अनुसार अपनी सरकार बदलने का अधिकार है।

सन् १९४२ के प्रारंभ में ही २६ राष्ट्रों ने अटलांटिक चार्टर को मान्यता प्रदान कर शीघ्र शांति संस्थापन के लिए अपनी इच्छा प्रदर्शित की। ३० अक्टूबर, १९४३ को रूस के उस समय के अधिनायक स्तालिन ने, मास्को में ही चर्चिल तथा रूजवेल्ट से गुप्त परामर्श किया। उस बैठक में, विश्व में शाश्वत शांति-संस्थापन के लिए शीघ्र से शीघ्र एक अंतर्राष्ट्रीय संस्था स्थापित करने पर जोर दिया

गया। पुनः अक्टूबर, १६४४ में, डम्बरटन-ओक नामक स्थान में, रूस, राष्ट्रीय चीन, ब्रिटेन और अमरीका के प्रतिनिधियों की एक गुप्त बैठक हुई, जिसमें संयुक्त राष्ट्र-संघ के संघटन की एक विस्तृत योजना प्रस्तुत की गई और इस योजना पर विश्व के अन्य राष्ट्रों की सम्मति जानने का प्रयास किया गया। फरवरी, १६४५ में याल्टा नामक स्थान में पुनः स्तालिन, चर्चिल और रूजवेल्ट ने मिल कर योजना को कार्यान्वित करने का अंतिम निर्णय किया। इसी निर्णय के अनुसार अमरीका के सानफ्रांसिसको के लेक-ससेक्स नामक स्थान में विश्व के पचास राष्ट्रों का एक सम्मेलन २५ अप्रैल, १६४५ से २६ जून, सन् १६४५ तक होता रहा। इसी ऐतिहासिक सम्मेलन में पचासों राष्ट्रों ने संयुक्त-राष्ट्र-संघ के घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिये। और, २६ अक्टूबर सन् १६४५ को संयुक्त राष्ट्र-संघ की विधिवत प्रतिष्ठा हो गई।

इस प्रकार संयुक्त-राष्ट्र-संघ द्वितीय विश्व युद्ध की ही सबसे बड़ी देन है। प्रारंभ में पचास छोटे-बड़े राष्ट्र इस संघ के सदस्य हुए। लेकिन, जब चीन में साम्यवादी सरकार की स्थापना हुई और वहाँ की राष्ट्रीय सरकार के नेता चांग-काई-शेक ने फारमोसा द्वीप में भागकर वहीं चीन की कठपुतली राष्ट्रीय सरकार की स्थापना की, तब रूस, भारत आदि देशों ने चीन की साम्यवादी सरकार को मान्यता देकर चीन की नाममात्र की राष्ट्रीय सरकार के स्थान पर साम्यवादी चीन को ही संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता दिलाने की कोशिश की; लेकिन अमरीका ने ऐसा अडंगा लगा रखा है कि अबतक साम्यवादी चीन जैसा विश्व का एक महान् राष्ट्र संघ की सदस्यता से वंचित ही है। हाँ, गत वर्ष सोलह अन्य नये राष्ट्रों को संघ की सदस्यता प्रदान की जा चुकी है।

जो हो, विश्व में शांति और सुरक्षा की व्यवस्था करना; जनता के समान अधिकारों तथा आत्म-निर्णय के आधार पर सदस्य-राष्ट्रों में परस्पर मैत्री-भाव बढ़ाना; विश्व-शांति को सुदृढ़ तथा स्थाई रूप देने के लिए अन्य उपायों का अवलंबन करना; जाति, धर्म और स्त्री-पुरुष के भेदभाव से रहित व्यक्तियों के मौलिक अधिकारों की प्रतिष्ठा के निमित्त अंतर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करना आदि इस संघ के मुख्य उद्देश्य हैं। संघ के यथोचित संचालन के लिए इसके छः विभाग हैं—

१. **साधारण-सभा**—संयुक्त राष्ट्रसंघ के सभी सदस्य इस एसेंबली के सदस्य होते हैं। प्रत्येक सदस्य-राष्ट्र पाँच प्रतिनिधि भेज सकता है; पर प्रत्येक राष्ट्र को एक ही मत देने का अधिकार है। महत्त्वपूर्ण विषयों के निर्णय के लिए दो-तिहाई बहुमत की आवश्यकता होती है।

२. **सुरक्षा परिषद्**—विश्व में शांति-संस्थापन ही इस विभाग का लक्ष्य है। इसमें कुल ११ सदस्य हैं। संयुक्तराष्ट्र अमरीका, रूस, ब्रिटेन, फ्रांस और राष्ट्रीय चीन—ये पाँच राष्ट्र स्थाई सदस्य हैं और शेष छः सदस्यों का चुनाव दो वर्षों के लिए साधारण-सभा द्वारा होता है। किसी प्रश्न के अंतिम निर्णय पर पहुँचने के लिए सात सदस्य-राष्ट्रों की स्वीकृति आवश्यक है, जिनमें पाँचों स्थायी सदस्यों के भी मत होने ही चाहिए। इन पाँचों में एक के भी विपक्ष रहने पर कोई निर्णय संभव नहीं। इस परिषद् के मुख्य कार्य हैं—अंतर्राष्ट्रीय विवादों की जाँच कर उनके निपटारे का प्रयत्न करना; आक्रमणकारियों को रोकने का प्रयत्न करना, शस्त्रास्त्रों तथा अणु-बम पर नियंत्रण रखना आदि।

३. **आर्थिक-सामाजिक परिषद्**—इसमें १८ सदस्य हैं, जो साधारण-सभा द्वारा निर्वाचित होते हैं। युद्ध के आर्थिक कारणों को दूर करना तथा संसार के आर्थिक एवं सामाजिक स्तर को ऊँचा

उठाना इस परिषद् के मुख्य कार्य हैं। शिक्षा, संस्कृति, स्वास्थ्य, ज्ञान-विज्ञान आदि सभी सामाजिक प्रगति के विषयों की उन्नति के लिए वह परिषद् सचेष्ट रहती है।

४. **संरक्षण-परिषद्**—सभी सदस्य-राष्ट्रों की राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक प्रगति को प्रश्रय देना इस परिषद् का प्रधान उद्देश्य है। सुरक्षा परिषद् के पाँच स्थाई सदस्यों के अतिरिक्त कुछ और भी राष्ट्र इसके सदस्य होते हैं, जो साधारण सभा द्वारा निर्वाचित होते हैं।

५. **अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय**—यह विभाग बीस सदस्यों से संगठित है, जिनमें पाँच सुरक्षा-परिषद् द्वारा और पन्द्रह साधारण सभा द्वारा चुने जाते हैं। एक अध्यक्ष रहता है, जिसका निर्वाचन तीन वर्षों के लिए होता है। प्रत्येक सदस्य-राष्ट्र इस न्यायालय के निर्णय को मानने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध है। दो राष्ट्रों के बीच उठे हुए विवादों का निर्णय करना इसका मुख्य काम है। न्यायालय-भवन हेग में है।

६. **सचिवालय**—संयुक्त राष्ट्रसंघ के सभी विभागों के कार्य-क्रम को सुव्यवस्थित रखने के लिए न्यूयार्क-लेकसक्सेस में इसका एक सचिवालय है, जिसका मुख्य संचालक प्रधान सचिव कहलाता है। इस सचिवालय में संघ के सभी सदस्य-राष्ट्रों के कर्मचारी हैं।

संयुक्त राष्ट्र-संघ का अपना झंडा है। हल्के नीले रंग की जमीन पर जैतून के पत्तों से आच्छादित भूमंडल का चित्र बना हुआ है और यही संघ के झंडे का स्वरूप है।

अन्य अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएँ—विश्व में शांति, सुरक्षा एवं मानव-कल्याण के क्षेत्र में प्रगति लाने के लिए और भी अनेक अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएँ संगठित हैं, जो संयुक्त राष्ट्र-संघ से संबद्ध हो कर स्वतन्त्र रूप से अपने-अपने कार्य करती हैं। उनमें कुछ के नाम है—अंतर्राष्ट्रीय

श्रम-संघ, संयुक्त राष्ट्रीय शिक्षा-विज्ञान-संस्कृति-संघ, (UNESCO) अंतर्राष्ट्रीय-व्यापार संघ, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा-निधि, विश्व स्वास्थ्य-संघ, खाद्य एवं कृषि-संघ, अंतर्राष्ट्रीय बाल-संकट-निधि आदि।

इसमें सन्देह नहीं कि संयुक्त राष्ट्रसंघ का उद्देश्य महान् है; लेकिन यह कहना कठिन है कि अपने उद्देश्य की पूर्त्ति की दिशा में यह कहाँ तक सफल हो सकेगा। अपने दस वर्षों के जीवन-काल में इस संघ ने जितने भी कार्य किये, उनमें उलझनें रहने ही दी हैं। अबतक भी आणविक अस्त्रों के प्रयोग के सम्बन्ध में कोई स्थायी नियंत्रण यह नहीं कर पाया है। फिलीस्तीन की समस्या को सुलझाने के लिए संघ ने इजरेल नामक नया यहूदी राज्य स्थापित कर तो दिया, मगर अरब के राष्ट्रों को संतुष्ठ नहीं कर सका। कोरिया की समस्या को सुलझाने के लिए, अमरीका के बहकावे में पड़ कर, संघ ने युद्ध का सहारा लेकर कई वर्षों के बाद अपनी भूल स्वीकार की। अबतक भी कोरिया की समस्या स्पष्ट रूप से हल नहीं हो सकी है, यद्यपि युद्ध स्थगित कर दिया गया है। कश्मीर की समस्या सुलझाने में तो संघ बिलकुल असफल ही रहा। दक्षिण अफ्रीका के वर्ण-भेद को लेकर गोरों का जो खुलेआम अत्याचार हो रहा है, उसे रोक कर शांतिपूर्ण निपटारा करने की दिशा में भी संघ किंकर्त्तव्य-विमूढ़ ही बना हुआ है। और, इन सब का कारण यही कहा जाता है कि जहाँ एक ओर अमरीका सारे विश्व में अपना प्रभाव-क्षेत्र स्थापित करना चाहता है, वहाँ दूसरी ओर रूस उसकी इस चालबाजी को असफल करने को सर्वथा कटिबद्ध दीख पड़ता है। इसी अमरीका और रूस की खींचातानी के बीच में पड़कर संयुक्त राष्ट्र-संघ निष्क्रिय-सा बनता जा रहा है।

भारत में तार और बेतार

भारत के अबतक के विकास में डाक और तार-व्यवस्था का भी बड़ा महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है। इनमें से तार-व्यवस्था तो विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उसने मानों स्थानों की दूरियों को खत्म ही कर दिया। भारत में तार-व्यवस्था के प्रारम्भ के इतिहास में दो व्यक्तियों के नाम स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने लायक हैं। एक हैं आयरलैंडवासी डा० विलियम ब्रुक ओ'शानेसी और दूसरे बंगाल के श्री शिवचन्द्र नन्दी। भारत में तार-प्रणाली की स्थापना और विकास में इन दोनों व्यक्तियों ने साथ-साथ काम किया। डा० ओ'शानेसी ने कलकत्ते से डायमंड हार्बर तक २१ मील लम्बी तार की लाइन डलवाई। काम पूरा हो जाने पर १८५१ में डायमंड हार्बर की तरफ से श्री नन्दी ने सबसे पहला संवाद कलकत्ते भेजा, जो वहाँ लार्ड डलहौजी और डा० ओ'शानेसी की उपस्थिति में प्राप्त किया गया। यही भारत की तार-व्यवस्था का श्रीगणेश था।

डा० ओ'शानेसी का जन्म १८०६ में, आयरलैंड में, हुआ था। एडिनबर्ग-विश्वविद्यालय से चिकित्साशास्त्र की डिग्री लेने के बाद उन्होंने ईस्ट इंडिया कम्पनी में नौकरी कर ली और १८३३ में कलकत्ते में नियुक्त हुए। ४ साल तक वे मेडिकल-कॉलेज में रसायन-शास्त्र के प्राध्यापक रहे। बाद में अलीपुर टकसाल के प्रधान बना दिये गये। सन् १८३७ में उन्होंने यह विचार प्रकट किया कि बिजली की सहायता से तार भेजना संभव है। और, २६ वर्ष की उम्र में, १८३६ में २१ मील लम्बी तार की लाइन बनाकर अपनी बात सिद्ध कर दिखलाई। सन् १८५३ में वे तार के सुपरिंटेंडेंट और १८५७ में उसके पहले महानिर्देशक (डायरेक्टर-जनरल) बने। डा० ओ'शानेसी कर्मठ व्यक्ति थे। कलकत्ता से तार द्वारा आगरा,

बम्बई, पेशावर और मद्रास से जोड़ने की योजना को कम्पनी के डायरेक्टरों से स्वीकार कराने के लिए उनको लार्ड डलहौजी ने इंगलैंड भेजा।

भारत में तार-प्रणाली की स्थापना और विकास में हाथ बँटाने-वाले पहले भारतीव श्री शिवचन्द्र नन्दी थे। जनवरी, १८२४ में कलकत्ता के एक गरीब परिवार में उनका जन्म हुआ था। अपनी विलक्षण बुद्धि और कर्त्तव्यपरायणता से ही उन्होंने उन्नति की। सन् १८४६ में, २२ साल की उम्र में, वे सरकारी नौकरी में आये और डा० ओ'शानेसी के अधीन कलकला-टकसाल के शोध-विभाग में नियुक्त हुए। अपनी यंत्र-कुशलता के कारण शीघ्र ही डा० ओ' शानेसी का ध्यान उनकी तरफ खिंचा। उन्होंने श्री नन्दी को अपना निजी सहकारी बना लिया और दोनों ने मिलकर प्रयोगशाला में बहुत-से प्रयोग किये। सन् १८५२ में जब तार की पहली लाइन बनाने का निर्णय हुआ, तब डा० ओ'शानेसी ने श्री नन्दी को उस काम का भार सौंपा। श्री नन्दी ने ही डायमंड हार्बर से पहला संवाद भेजकर भारत में तार-प्रणाली का श्रीगणेश किया। बाद में वे तार के इंस्पेक्टर-इन-चार्ज बनाये गये और अन्य लोगों को तार भेजना सिखाने का काम भी उन्हें सौंपा गया। कुछ समय बाद वे डायमंड हार्बर के प्रधान अधिकारी बनाये गये। पूर्वी बारकपुर से इलाहाबाद, बनारस से मिर्जापुर, मिर्जापुर से सिउनी और कलकत्ता से ढाका के बीच तार की लगभग ६०० मील लम्बी लाइनें लगाने का श्रेय आपको ही है। इस काम में पद्मा नदी पर से तार की लाइन ले जाने की विकट समस्या उपस्थित हुई। उस समय श्री नन्दीने पानी के नीचे-नीचे सात मील तक लाइन बिछाने का बीड़ा उठाया और बड़ी सूझ और परिश्रम से यह कठिन काम पूरा किया। इस काम में उन्होंने मछुओं की नावों की सहायता ली। लाइन बिछाने के काम

में श्री नन्दी ने ताड़ की जिन बल्लियों का प्रयोग किया था, उनके रेखाचित्र डा० ओ'शानेसी के पास भेजे थे। सन् १८५७ में, गदर के दिनों में, जब डा० ओ'शानेसी छुट्टी पर यूरोप गये हुए थे, श्री नन्दी ने ही तार के प्रधान कार्यालय के प्रधान के रूप में भी काम किया। १८६६ में वे तार-विभाग के असिस्टेंट सुपरिटेंडेंट बनाये गये। सन् १८८४ में विशेष पेंशन लेकर उन्होंने नौकरी से अवसर प्राप्त किया।

१६ वीं सदी के प्रारम्भ तक विदेशों के साथ भारत का संचार-सम्बन्ध नावों, भाफ से चलनेवाले जहाजों तथा काफिलों पर आश्रित था। दूर देश के एक पत्र के आने-जाने में कई सप्ताह और कभी-कभी महीनों लग जाते थे। सन् १८६५ में जब भारत और यूरोप के बीच पहला तार-सम्बन्ध स्थापित हुआ, तब लन्दन से बम्बई तक एक पत्र के पहुँचने में लगभग एक मास लगता था। विदेश सम्बन्धी तार-लाइनों के बिछाये जाने के बाद पहले कुछ वर्षों में तार-सन्देशों की संख्या कम रही और तार पहुँचने में औसतन ६ दिन ८ घंटे लग जाते थे। सन् १८७० में अतिरिक्त और सीधी लाइनों के तार बिछाये गये और उस समय औसत समय घटकर १ दिन ६ घंटा २० मिनट रह गया। २३ जून, १८७० को लन्दन में और उसी समय बम्बई में भारत और इंगलैंड और उसके बाद अमरीका के बीच समुद्री-तार व्यवस्था पूरी होने के एक समारोह के सिलसिले में एक विशाल तार-पार्टी हुई थी। १८७० में २५ जून को शिमला से भारत के वाइसराय और अमरीका के राष्ट्रपति ने तार द्वारा एक-दूसरे को बधाइयाँ भेजीं। लगभग उसी अवधि में मद्रास से पूर्व के देश के साथ भी तार-सम्बन्ध कायम करने की व्यवस्था की गई और अन्य देशों से भी सम्बन्ध बनाये रखा गया।

की व्यवस्था में स्वाधीन भारत किसी देश से पीछे नहीं है। १९४७ में १६ केन्द्रों में यह व्यवस्था शुरू की गई थी और अब ६१ केन्द्र हो गये हैं, जिनसे ४४८ रेडियो-सुविधाएँ प्राप्त हैं। लम्बी यात्रा करनेवाले विमानों के साथ बेतार की तार प्रणाली के जरिए और अपेक्षाकृत नजदीक की यात्रा करनेवाले विमानों के साथ रेडियो-टेलीफोन के जरिए सम्बन्ध कायम रखा जाता है। उड़ता हुआ विमान इस प्रकार का सम्पर्क जमीन के किसी एक केन्द्र से ही नहीं, बल्कि कई केन्द्रों से रखता है और भूमि के ये केन्द्र भी एक-दूसरे के साथ सम्पर्क रखते हैं। इसके अलावा, ऐसे यंत्रों की भी व्यवस्था की गई है, जिनकी सहायता से चालक को मालूम होता रहता है कि उसका विमान कहाँ पहुँच रहा है, हवाई अड्डा कितनी दूर रह गया है आदि।

आबादी की समस्या

फ्रैंक लॉरीमर के शब्दों में "अधिक आबादी, कम आबादी और पर्याप्त आबादी-जैसे उल्लेख आज बड़े ही भोंड़े समझे जाते हैं। उनके मुकाबले में आज इस समस्या के अध्ययन-विश्लेषण के लिए आबादी में होनेवाले परिवर्तनों के साथ ही श्रम-शक्ति, आय के विभाजन और पूँजी के निर्माण, उत्पादन, सांस्कृतिक मूल्यों आदि में होनेवाले आनुपातिक परिवर्तनों का तथा इनके पारस्परिक सम्बन्धों का तुलनात्मक अध्ययन अधिक आवश्यक और महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। और, इनके पारस्परिक सम्बन्धों का समीचीन विश्लेषण ही आधुनिक जगत की आबादी की पेचीदा समस्या की धुरी माना

जाता है। इस दृष्टि से देखने पर आज दुनिया के हर देश की आबादी की समस्या अपना एक अलग और विशिष्ट महत्त्व रखती है।

इसके अलावा एक दूसरा पहलू भी है, जिसे आज के युग में आबादी की समस्या का एक प्रधान अंग माना जाता है, और वह है सामाजिक जीवन की इकाई के रूप में परिवार की मान्यता। किसी भी देश की अर्थनीतिक स्थिति पर विचार करते समय हमें अधिक ध्यान एक परिवार की अर्थनीति पर देना होगा, न कि समूचे देश की आबादी की अर्थनीतिक स्थिति पर। और, सच तो यह है कि किसी भी देश की अर्थनीति की कुंजी उसके परिवारों की अर्थनीति ही है।

आबादी की समस्या के आधुनिक विश्लेषक समाज-कल्याण पर भी अधिक जोर देते हैं। वे अक्सर जीवन की सतह, रहन-सहन के मापदण्ड और जन-कल्याण की बात लगभग एक ही अर्थ में कहते हैं, जब कि ये पर्यायवाची कदापि नहीं हैं। उदाहरण के लिए, फ्रांस में जीवन के स्तर और रहन-सहन के मापदण्ड में काफी भेद किया जाता है। जैसे, जीवन का मापदण्ड 'एक आदर्श स्थिति' है, जिसकी ओर बढ़ने का निरन्तर प्रयत्न किया जाना चाहिए; और 'जीवन-स्तर' वह स्थिति है, जो बराबर नीचे ही गिरती जा रही है। और, 'जन-कल्याण' तो एक ऐसी व्यापक स्थिति का द्योतक है, जिसका सम्बन्ध जीवन के अर्थनीतिक और गैर-अर्थनीतिक, दोनों ही तरह के पहलुओं से है। प्रति व्यक्ति अधिक आय होने का अर्थ आवश्यक रूप में यह नहीं है कि उससे रहन-सहन का मापदण्ड भी ऊँचा उठ जाय। इसी तरह यह भी आवश्यक नहीं कि ऊँचे जीवन-स्तर से जन-कल्याण हो ही। इनमें दूसरे पहलू भी अपना प्रभाव डालते हैं। उदाहरण-स्वरूप, जैसे सामाजिक सुरक्षा की योजनाओं से जन-साधारण की रहन-सहन का स्तर

भले ही बहुत ऊँचा न हो, किन्तु जन-कल्याण का हेतु तो उससे सधता ही है।

इसलिए हम कह सकते हैं कि आज आबादी की समस्या जन-संख्या की वृद्धि और उत्पादन तथा प्रति व्यक्ति की आय के अनुपात में सामंजस्य स्थापित करना-मात्र ही नहीं है। व्यापक दृष्टि से देखा जाय, तो यह समस्या हर पुरुष, स्त्री और बच्चे के कल्याण की समस्या है। पर भारत में अब तक अधिक बहस इस बात को लेकर ही होती रही है कि हमारे देश की आबादी अधिक है या कम तथा जन्म-निरोध के उपाय-उपकरणों को काम में लाना नैतिक है या अनैतिक! हम लोग अँगरेजों को बुरा-भला कह कर यह स्वप्न देखते रहे हैं कि उनसे स्वतन्त्र होने के बाद भारत में फिर घी-दूध की नदियाँ बहने लगेंगी। इनमें से बहुत-सी बातें तो आज असामयिक हो गई हैं। पर जो लोग तथाकथित 'आधुनिक दृष्टि' से इस समस्या पर विचार करते है, उनकी दृष्टि भी पाश्चात्य जीवन से ही प्रभावित है और वे ऐसा समझते हैं कि बढ़ती हुई आबादो का मुकाबला करने के लिए भारत में भी उद्योगी-करण और बड़े-बड़े नगरों का बसना अनिवार्य है, जैसा कि पिछली शताब्दी में, पश्चिम में, हुआ है। यह विचार बड़ा ही कच्चा और भ्रामक है! बीसवीं शताब्दी १९ वीं शताब्दी से एकदम भिन्न है। आज पिछली शताब्दी के मुकाबले में अर्थनीतिक विकास की गति और शोषण की प्रवृत्तियों की कमी कहीं अधिक मुखर है। फिर इतिहास की पुनरावृत्ति की आशा भी कम भ्रामक नहीं। हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि पूर्व के भारत-जैसे कृषि-प्रधान, ग्रामीण और अनुन्नत देश की समस्या को हल करने के लिए पश्चिम के उद्योगीकरण तथा शहरीकरण का विश्लेषण बहुत सहायक और लाभदायक नहीं हो सकता।

भारत-जैसे देश में तो आबादी की समस्या के अध्ययन, विश्लेषण और हल के लिए अर्थनीतिक विकास और आबादी की वृद्धि के पारस्परिक सम्बन्धों को देखना अधिक लाभदायक होगा। दूसरे शब्दों में, इस समस्या को भलीभाँति समझने के लिए हमें यह देखना होगा कि आबादी कितनी बढ़ी है, कहाँ-कहाँ बढ़ी है और विभिन्न स्थानों में स्त्री-पुरुषों का, उनकी उम्र का, शहरी और ग्रामीण लोगों का अनुपात क्या रहा है तथा इनका कृषि-योग्य भूमि के उपयोग, मानवीय श्रम के उपयोग, पूँजी के निर्माण, उपभोग के ढंग, कुल उत्पादन और देश के व्यापक अर्थनीतिक विकास—उद्योगीकरण, नये शहरों का बसाना, आधुनिकीकरण आदि—पर क्या प्रभाव पड़ा है और आबादी की स्थिति पर इनकी क्या प्रतिक्रिया हुई है। इसीलिए पंचवर्षीय योजना में आबादी-सम्बन्धी सरकारी नीति निश्चित करने के लिए अर्थनीतिक, सामाजिक और आबादी-सम्बन्धी परिवर्तनों के पारस्परिक सम्बध का अध्ययन करने की सिफारिश की गई है।

अब हम भारत की आबादी-सम्बन्धी कुछ ऐसे तथ्यों पर विचार करेंगे, जो इस समस्या को भलिभाँति समझने के लिए आवश्यक हैं। आबादी की दृष्टि से भारत दुनिया का दूसरा और क्षेत्रफल की दृष्टि से सातवाँ देश है। वह सारी दुनिया के क्षेत्रफल का २ प्रतिशत भाग है और सारी दुनिया की आबादी का १५ प्रतिशत भाग उसमें पलता है। कृषि-अर्थनीति की दृष्टि से आबादी का यह अनुपात काफी घना कहा जा सकता है। जहाँ चीन में प्रति वर्गमील १२३ व्यक्ति हैं, वहाँ भारत में प्रति वर्गमील २१२ व्यक्ति हैं। यद्यपि भारत में आबादी की वृद्धि की रफ्तार बहुत अधिक नहीं है, तथापि १९४१-५१ में इसकी आबादी ४

करोड़ २० लाख बढ़ी है, जो फ्रांस की समूची आबादी के बराबर है। और, हर साल भारत की आबादी में डेनमार्क की कुल आबादी जितनी वृद्धि हो रही है। इससे इस बात का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है कि हर साल हमारे देश की आबादी में कितने नये प्राणी आ जाते हैं।

भारत में उपलब्ध आबादी-सम्बन्धी आँकड़े यद्यपि बहुत विश्वस्त तो नहीं कहे जा सकते; फिर भी मोटे तौर पर उनसे यह प्रकट है कि २० वर्ष पहले भारत में जन्म और मृत्यु की जो रफ्तार थी, वह आज काफी कम हो गई है। कुछ लोगों का यह ख्याल है कि मृत्यु-संख्या अधिक होने से आबादी में होनेवाली वृद्धि आसानी से रुक सकती है। पर यह बड़ी गलत और मिथ्या धारणा है; क्योंकि अर्थनीतिक और गैर-अर्थनीतिक, दोनों ही दृष्टियों से अधिक मृत्यु-संख्या देश की बहुत बड़ी क्षति ही है। इसलिए और मानवीय दृष्टि से भी मृत्यु-संख्या का कम होना सर्वथा वांछनीय है। इसके साथ ही जन्म-संख्या का कम होना भी मानव-समाज के हित में है।

१९५२ की मर्दुमशुमारी के अनुसार भारत की आबादी का ७० प्रतिशत भाग अपनी जीविका के लिए कृषि पर निर्भर करता है, १९ प्रतिशत उद्योग, व्यापार और संवहन आदि पर और ११ प्रतिशत नौकरियों पर। यह एक उल्लेखनीय बात है कि कृषि पर निर्भर करनेवाले व्यक्तियों का प्रतिशत औसत आज भी वही है, जो कि ५० वर्ष पहले था! इससे प्रकट है कि ग्रामीण क्षेत्रों की बढ़ी हुई आबादी को कृषि-कार्य में और ग्रामों तथा शहरों की बढ़ी हुई आबादी को उद्योग-धन्धों में (जिनमें केवल ३० लाख आदमी काम करते हैं!) खपाया नहीं जा सकता। और सब नहीं, तो उनका बहुत बड़ा भाग आज बेकार है।

देश की राष्ट्रीय अर्थनीति की दृष्टि से कृषि के महत्त्व का अनुमान इसीसे लगाया जा सकता है कि १६४८-४६ में राष्ट्रीय आय का ४६.७ प्रतिशत भाग कृषि-उत्पादन से और केवल ६.६ प्रतिशत भाग उद्योग-धन्धों से प्राप्त हुआ। देश के खाद्य, उद्योग-धन्धों के लिए कच्चे माल और देश के अधिकांश निर्यात के लिए हमें कृषि पर ही निर्भर करना होता है। राष्ट्रीय आय-समिति के तखमीने के अनुसार १६४८-४६ में कृषि-कार्य में लगे प्रत्येक व्यक्ति की वार्षिक आय ५००) थी, जब कि खानों और कारखानों में काम करनेवालों की १६००) रुपए तथा रेल और अन्य प्रकार के संवहनों में काम करनेवाले व्यक्ति की २१००) रुपए। यहाँ इस भेद को ठीक-ठीक समझने के लिए यह जानना जरूरी है कि रेल आदि संवहनों में लगे प्रति व्यक्ति की औसत वार्षिक आय का अधिक होना, इनमें लगी अधिक पूँजी के कारण ही है।

भारत की आबादी का केवल १७ प्रतिशत भाग ही शहरी क्षेत्रों में बसा है। इसका ७ प्रतिशत भाग भारत के ७५ नगरों में ही बसा है। गत १६३१, '४१ और '५१ की मर्दुमशुमारियों में आबादी में हुई वृद्धि का अनुपात क्रमशः ११, १४.३ और १३.४ प्रतिशत बतलाया गया है, जब कि शहरों की आबादी में हुई वृद्धि का अनुपात क्रमशः २१, ३१ और ५४ प्रतिशत है। ग्रामीण आबादी का इस प्रकार शहरों में आकर बसना ही तो शहरीकरण नहीं कहा जा सकता। फिर आज ग्रामीण लोग जिस बड़ी संख्या में आकर शहरों में बस रहे हैं और जिस बुरी और गन्दी स्थिति में रह रहे हैं, उसे आबादी की समस्या का हल तो किसी भी रूप में नहीं कहा जा सकता। हाँ, उसे शहरीकरण का अभिशाप अवश्य कहा जा सकता है। तंग और गन्दे घर, अधिक बीमारियाँ और मृत्यु-संख्या, स्त्री-पुरुषों का विषम अनुपात, स्त्री-पुरुषों का अलग-अलग रहना,

गरीब और अमीर के जीवन की विषमता और जीवन-यापन की सामान्य सुविधाओं का अभाव ही आज की अधिकांश शहरी आबादी का भाग्य है ! इससे प्रकट है कि आज भारत में होनेवाली आबादी की वृद्धि का दबाव उसकी भूमि पर कहीं अधिक पड़ रहा है और उद्योगों द्वारा उसका कोई हल नहीं निकल रहा है।

भारत की भूमि का क्षेत्रफल सीमित है, उसकी पूँजी तो और भी सीमित है और हमारा कार्य संचालन अत्यन्त ही दुर्बल और अयोग्य है। बहुत बड़ी संख्या में आदमियों का बेकार होना कृषि के यन्त्रीकरण और बड़े-बड़े उद्योग-धन्धों के आधुनिकीकरण के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा है, जिसके फलस्वरूप देश में पूँजी का निर्माण और वृद्धि नहीं हो रही है। मानवीय श्रम और प्राकृतिक साधन-सुविधा अपने आप में कोई बहुत बड़ी अर्थनीतिक समृद्धि नहीं ला सकतीं। अधिक से अधिक वे आदिकालीन अनुन्नत अर्थनीति को कायम-भर रख सकती हैं। और, यही आज भारत में, यथार्थ में, हो भी रहा है।

इस समय भारत में अधिक उत्पादन से नहीं, बल्कि आदमी की उत्पादक-शक्ति से ही बढ़ती हुई आबादी की समस्या का मुकाबला किया जा सकता है। जैसा कि संयुक्त राष्ट्र-संघ के आबादी-कमीशन की रिपोर्ट में कहा गया है—"किसी भी देश में, जहाँ की दो-तिहाई आबादी प्रत्यक्ष रूप से कृषि-कार्य पर ही निर्भर करती हो, अर्थनीतिक समृद्धि के लिए कृषि-श्रम की उत्पादन-शक्ति को बढ़ाना ही आवश्यक है। कृषि के आधुनिकीकरण से जैसे-जैसे कृषि-कार्य में लगे लोगों का उपयोग कम होगा, उसी अनुपात से कृषि का उत्पादन बढ़ाया जाना आवश्यक है। जिन देशों में रहन-सहन का स्तर नीचा है, ग्रामों की आबादी घनी है और आबादी की वृद्धि तेजी से हो रही है, उन देशों में तो यह समस्या और भी विकट रूप धारण कर

लेती है।" किन्तु उत्पादक-श्रम की वृद्धि के लिए प्रति व्यक्ति पीछे अधिक पूँजी लगाने की आवश्यकता है। और, यह उस समय तक सम्भव नहीं, जब तक कि देश की पूँजी तेजी से न बढ़े या फिर उसे बाहर से न मँगाया जाय। यहीं आबादी का पहलू अधिक विकट रूप में सामने आता है। जब तक कि रहन-सहन के स्तर को और भी नीचे गिराया जाय, तब तक बढ़ी हुई आबादी अधिक उपभोग द्वारा पूँजी के निर्माण के स्तर को हमेशा नीचा ही रखेगी।

इस समय प्रति वर्ष राष्ट्रीय आय का केवल ५ प्रतिशत अंश ही बचाया जा रहा है। सामान्यतः अच्छी गति से अर्थनीतिक विकास करने के लिए राष्ट्रीय आय का कम-से-कम २० प्रतिशत अंश बचाया जाना चाहिए; जैसा कि पंचवर्षीय योजना में कहा गया है—"....भारत में आबादी का दबाव इतना अधिक हो गया है कि उसकी वृद्धि को रोकना एक बहुत बड़ी आवश्यकता हो गई है।" पर आबादी की वृद्धि की गति में होनेवाली रोक-थाम पूँजी की वृद्धि की कोई गारण्टी नहीं है। अधिक तो इस बात पर निर्भर करता है कि हम कितने प्रभावपूर्ण ढंग से देश की पूँजी का संगठन, अर्थनीतिक ढाँचे का संचालन और उपार्जित पूँजी का विभाजन कर पाते हैं।

इस दृष्टि से देश की आबादी की समस्या का सही हल इस बात पर निर्भर करता है कि कितनी योग्यता और तेजी के साथ हम अपने यहाँ का कृषि-उत्पादन बढ़ा और सुव्यवस्थित कर पाते हैं और उसे उद्योगीकरण की पद्धति के उपयुक्त बनाते हैं, जो कि हमारे देश की अर्थनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों के अनुकूल हो। और, शहरीकरण की अपेक्षा हमें आज कहीं अधिक ध्यान ग्रामों के आधुनिकीकरण की ओर देना चाहिए। भारतीय अर्थनीति को देखते

प्रायः झूठ बोला करते हैं; क्योंकि उनमें सत्य बोलने का साहस नहीं रहता। वे लज्जाशील, भीरु और धैर्यहीन होते हैं; इसलिए कि वे अपने में कमजोरी तथा हीनता की भावना का अनुभव करते हैं। बच्चे अनेक अपराध करते हैं, लेकिन उन अपराधों का उत्तरदायी भी उनका हीन मनोभाव ही है। विद्यालय के शिक्षक भी बहुधा उनके साथ दुर्व्यवहार करते हैं। वे हीन बच्चों को उत्साहित करने के बदले निरुत्साह ही करते हैं। परिणाम यह होता है कि ऐसे हीन बच्चे अपराध के जरिये ही अपनी श्रेष्ठता-प्रदर्शन की कामना करने लगते हैं। और, जो बातें बच्चों पर लागू होती हैं, वही बातें, न्यूनाधिक मात्रा में, वयस्कों पर भी लागू होती हैं; क्योंकि आज का बच्चा ही कल का मानव है।

इसलिए, यदि मनुष्य अपनी बाल्यावस्था में ही अपने समाज में अपना समायोजन करने में असफल रहा तो यह कुसमायोजन उसकी बाल्यावस्था के हरेक क्षेत्र में अपना रंग अवश्य ही दिखलायगा। एक अधीर बच्चा, जो अपने विद्यालय-पाठ को संतोषप्रद ढंग से पूरा करने में असमर्थ है, अपने भावी जीवन की बड़ी-बड़ी समस्याओं का मुकाबला करने में भी असमर्थ रहेगा। सभी तरह की विकट परिस्थितियों से उसके भागने की प्रवृत्ति अवश्य ही रहेगी। इस तरह के हीन मनोभाव का विकास साधारणतः तिरस्कृत बालकों में ही होता है। भावी जीवन में वह किसी व्यक्ति का सामना करने से भय खाता है। इसी लिए धुरंधर विद्वान् भी असफल वक्ता होता है। साथ ही, इस हीन मनोभाव से ग्रसित व्यक्ति सम्मानित व्यक्तियों का छिद्रान्वेषण भी करता है। और, ऐसा करके वह अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करता है।

यदि बाल्यावस्था में ही इस हीन मनोभाव का निराकरण नहीं किया गया तो भावी जीवन में वह असामान्य व्याधि का रूप ले

सकता है। प्रशिक्षकों को अवश्य ही तरुण पीढ़ी के इस हीन मनोभावात्मक स्वरूप को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए तथा इसके निराकरण के उपायों को भी ढूँढ निकालना चाहिए। वास्तव में हीन मनोभाव और सामाजिक प्रशिक्षण की समस्या का घनिष्ठ संबंध है। यह हीन मनोभाव, जैसा कि ऊपर कहा गया है, सामाजिक कुसमायोजन से ही उद्भूत होता है। और, सामाजिक प्रशिक्षण के माध्यम से ही हम अपने इस हीन मनोभाव पर विजय पा सकते हैं। समाज में प्रायः असामान्य योग्यता और अधिकार के व्यक्ति पाये जाते हैं। लेकिन, एक सुसमायोजित समाज के लिए यह अनिवार्य है कि वह अपने प्रत्येक सदस्य को अपेक्षित सहायता देने के लिए हमेशा तत्पर रहे। किसी हीन व्यक्ति के ऊपर, हर हालत में, सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि अवश्य ही रखनी चाहिए और उसकी हीनता के चलते उसे किसी भी दशा में हानि नहीं पहुँचानी चाहिए। उसे अपनी अयोग्यता की भावना पर विजयी होने में उसके सामाजिक जीवन को अवश्य ही मदद करनी चाहिए।

यह तो स्पष्ट है कि हमारा आधुनिक समाज अत्यधिक कुसमायोजित है। हमलोगों ने दूसरों की हीनता या अपूर्णता की सिर्फ आलोचना करना ही सीखा है। यदि किसी व्यक्ति में किसी तरह की कमजोरी रहती है, तो उसके लिए उसे अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में भारी मूल्य चुकाना पड़ता है। समाज में उसका स्थान सुरक्षित नहीं रहता है; इसलिए उसमें हीन मनोभाव का विकास होता है। इस भयानक हीनता के भाव का जनक उसका प्रतिकूल वातावरण ही है, जो प्रायः उसकी आत्मा का हनन कर देता है। सुखद तथा सुसमायोजित समाज के लिए जीवन के प्रत्येक पग पर सुरक्षा का भाव आवश्यक है। प्रतिकूल

परिस्थितियों के अधीन जो इस (सुरक्षा के) भाव को खोता है, इसके साथ ही वह अपने सामाजिक हित को भी खो देता है; लेकिन वह तभी तक प्रसन्न रहता है, जब तक कि उसे कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ता है; और ज्योंही वह प्रतिकूल परिस्थिति का सामना करता है, त्योंही वह धैर्य खोकर अधीर हो जाता है। और, उसकी यह धैर्यहीनता दुःखशीलता और चिड़चिड़ापन में परिलक्षित होने लगती है।

हमें स्मरण रखना चाहिए कि किसी भी व्यक्ति का दिमाग जन्मजात व्याधिग्रस्त नहीं रहता है, बल्कि सामाजिक कुसमायोजन के फलस्वरूप ही किसी व्यकि का दिमाग खराब होता है। सामाजिक हित की भावना के साथ मनुष्य पैदा नहीं होता। सामाजिक प्राणी बनने के बाद ही उसमें सामाजिक हित की भावना जाग्रत होती है। अतः उसे एक सामाजिक प्राणी बनने में दूसरों (समाज) को अवश्य ही सहायता करनी चाहिए।

भारत में मजदूर-संघ-आंदोलन

हमारे देश में मजदूर संघ आंदोलन का इतिहास अधिक लम्बा नहीं है। प्रारंभ में, १८९० ई० में बम्बई में 'बम्बई मिलहैंड एशोशिएशन' तथा १९०५ ई० में 'कलकत्ता प्रिन्टर्स एसोशिएशन' की स्थापना हुई। वास्तव में मजदूर-संघ-आंदोलन का श्रीगणेश प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात ही प्रारंभ होता है। यद्यपि उपर्युक्त दो संघों के अलावा बम्बई पोस्टल यूनियन (१९०७) तथा कामगार हित-वर्द्धक सभा (१९१०) की भी स्थापना हो चुकी थी, फिर भी

औद्योगिक श्रमिकों का पहला संघ १९१८ ई० में मद्रास में श्री बी० पी० वाडिया के प्रयास से संगठित हुआ। इसके बाद से ही कई संघों की स्थापना हुई। १९१९ ई० में मजदूर-संघों में संगठित मजदूरों की संख्या लगभग २० हजार की हो गई। १९२० ई० में महात्मा गाँधी ने भी जुलाहों तथा बुनकारों के एक संघ की स्थापना की। यहाँ स्मरणीय है कि प्रारंभिक अवस्था में संगठित ये मजदूर संघ वास्तव में 'हड़ताल कमिटियों' के रूप में थे, जिनका मुख्य उद्देश्य केवल हड़ताल करना ही था।

प्रथम महायुद्ध आरंभ हो जाने के कारण श्रमिकों की स्थिति चिन्ताजनक हो गई थी। युद्ध के कारण पूँजीपतियों ने बहुत लाभ उठाया; परंतु श्रमिकों की मजदूरी में आनुपातिक वृद्धि नहीं हुई। मूल्यस्तर में वृद्धि के कारण श्रमिकों में असंतोष की लहर फैल चुकी थी। मद्रास में बी० पी० वाडिया और पंजाब में लाला लाजपत राय-जैसे नेताओं का सहयोग मजदूरों को प्राप्त हो चुका था। कलकत्ते में भी मजदूर यूनियनों की स्थापना होने लगी थी। इस प्रकार आंदोलन धीरे-धीरे स्थायित्व को प्राप्त करने लगा।

अंततोगत्वा प्रायः सभी भारतीय-मजदूर-संघ, १९२० ई० में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस के नाम से केन्द्रीय संस्था में संगठित हो गये। ऐसा होना उनके लिए इसलिए भी आवश्यक हो गया कि अब अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संघ के वार्षिक सम्मेलन के लिए प्रतिनिधियों को चुनना था और ऐसा तभी संभव था, जब कि सभी संघ मिलकर प्रतिनिधि का चुनाव करें। १९२० से ही अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस प्रति वर्ष अपना वार्षिक अधिवेशन किया करती है। परन्तु इतना सब होने पर भी अबतक मजदूर-संघ-संबंधी कोई अधिनियम पास नहीं हुआ था। १९२६ ई० में पहला

ट्रेड यूनियन ऐक्ट पास हुआ जिसके अनुसार मजदूर-संघों को हड़ताल करने का वैधानिक अधिकार प्राप्त हुआ। १६२० ई० में मद्रास हाइकोर्ट ने एक आज्ञा प्रसारित की कि मजदूरों को श्रम संघ के सदस्य हड़ताल करने के लिए न भड़कावें। श्रमिक नेताओं के अनवरत परिश्रम के फलस्वरूप ही १६२६ ई० में श्रमिकों को हड़ताल करने का हक मिल सका। इस अधिनियम के द्वारा श्रमिक-संघों की रजिस्ट्री कराई जा सकती है। पंजीबद्ध या रजिस्टर्ड संघों के लिए यह आवश्यक होगा कि वे अपने नाम तथा उद्देश्यों को स्पष्ट कर देंगे। इसके अतिरिक्त उन्हें संघ के सदस्यों की सूची भी रखनी होगी तथा वार्षिक आय-व्यय का अंकेक्षण भी कराना होगा। उनपर यह भी रुकावट डाली गई कि वे मजदूरों के कल्याण-कार्य के सिवा अन्य कार्यों पर श्रम-संघ का कोष खर्च नहीं कर सकते। किसी संघ के कम-से-कम आधे पदाधिकारियों को किसी उद्योग में काम करनेवाला मजदूर होना आवश्यक था। ऐसा इसलिए किया गया कि संघों पर मजदूरों को छोड़कर बाहरी लोगों का कब्जा न हो जाय। इन संघों को यह अधिकार दिया गया कि इनके सदस्यों पर हड़ताल या अन्य मजदूर-संबंधी कल्याण-कार्य के हेतु किये गये प्रयत्नों के कारण दीवानी या फौजदारी मुकदमा नहीं किया जा सकेगा। १६४८ ई० में उपर्युक्त अधिनियम का संशोधन किया गया, जिसके अनुसार श्रम-न्यायालय की आज्ञा से उद्योगपतियों द्वारा मजदूर-संघों को मान्यता देने की व्यवस्था की गई है।

१६२० से १६२६ तक तो ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन ही मजदूरों की एकमात्र केन्द्रीय संस्था रही; परन्तु १६२६ में इसमें फूट हो गई। इसमें काम करनेवाले तीन प्रकार के लोगों ने अपना अलग-अलग गुट बनाया :—साम्यवादी, उदार-दलीय तथा

अन्यान्य। १९३८ ई० में यह वैषम्य मिट गया; परन्तु फिर १९४० ई० में युद्ध छिड़ने पर पुनः उपस्थित हो गया। मजदूरों का एक वर्ग युद्ध में सहायता देने के पक्ष में था; परन्तु दूसरा वर्ग इसके बिल्कुल विरुद्ध था और इस प्रकार अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन काँग्रेस कई टुकड़ों में बँट गया :—

१—अखिल भारतीय ट्रेड-यूनियन-कांग्रेस—जिसके अंतर्गत १९५१ ई० तक ७३६ संघ थे तथा सदस्यों की संख्या ७५८३१४ थी। इस संघ पर वर्तमान काल में साम्यवादियों का प्रभाव है।

२—भारतीय राष्ट्रीय मजदूर कांग्रेस—जिसके अंतर्गत १९५१ तक १२३२ संघ थे तथा सदस्यों की संख्या १५४८५६८ थी। इस संस्था की स्थापना १९४६ ई० में अखिल भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के तत्वावधान में हुई थी। इसके सदस्य सम्पूर्ण भारत में फैले हैं।

३—हिन्द मजदूर सभा—इसमें प्रजा समाजवादी दल का प्रभाव है, और इसे ५१७ संघों तथा ८०४३३७ सदस्यों का श्रेय है। इसका जन्म १९४८ ई० में समाजवादी पार्टी के द्वारा हुआ था। बम्बई तथा बिहार में इसका काफी प्रभाव है।

४—संयुक्त श्रमिक-संघ कांग्रेस के अंतर्गत १९५१ तक ३३२ संघ तथा ३८४९६२ सदस्य थे।

इनके अतिरिक्त भी बहुत से मजदूर संघ हैं, जो किसी केन्द्रीय संस्था से सम्बद्ध नहीं हैं। १९५१ ई० तक भारत में लगभग ३५०० संघ तथा ३५ लाख सदस्य थे और इनका कोष लगभग ४५ लाख का था।

भारत में मजदूर-आंदोलन की कुछ मुख्य कठिनाइयाँ निम्नलिखित हैं—

(१) औद्योगिक केन्द्रों में काम करनेवाले श्रमिकों में कई प्रकार की विभिन्नताएँ हैं—रहन-सहन, जाति-पाँत, बोलचाल, धर्म, आचार-

व्यवहार इत्यादि, जिसके फलस्वरूप उनमें मेल नहीं हो पाता; एक दूसरे को अच्छी तरह से समझ नहीं पाते और इस कारण संगठन सुदृढ़ नहीं हो पाता।

(२) श्रमिकों को, अशिक्षा के कारण, सभा तथा आंदोलन के साधारण नियमों को विचारने और समझने में भी कठिनाई होती है। संगठन के महत्त्व को समझने के लिए शिक्षा का अभाव बड़ा खटकता है।

(३) भारतीय श्रमिकों की रूढ़िवादिता भी आंदोलन की प्रगति में रुकावट बन जाती है। इन रूढ़िवादिता में भारतीय श्रम की अगतिशीलता विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यहाँ यह बात भी देखी जाती है कि बहुत से औद्योगिक क्षेत्रों में हर साल कुछ ही महीनों के लिए मजदूर काम करने आते हैं। ऐसे मजदूरों को सुधार आदि के कार्य-क्रम से कुछ विशेष दिलचस्पी नहीं रहती।

(४) मजदूर-आंदोलन को आगे बढ़ाने के लिए यह आवश्यक है कि योग्य मजदूर नेता उपलब्ध हों परन्तु अबतक के अनुभव के आधार पर यही कहा जा सकता है कि बिना राजनीतिक नेताओं की सहायता के आंदोलन में प्रगति नहीं आ पाती है। यद्यपि राजनीतिक नेताओं ने मजदूर-संघ आंदोलन को आगे बढ़ाने में हाथ बँटाया है; फिर भी आज की स्थिति को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि उनके चलते ही कभी-कभी मजदूर संघों में आपसी फूट भी हो जाती है और इस प्रकार मजदूर-संघ राजनीतिक चालों का अखाड़ा बनता जा रहा है। यह तो निश्चित-सा है कि जबतक मजदूरों के बीच से ही उनका नेता न निकले तब तक बाहरी लोग अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए मजदूरों के पास पहुँचेंगे ही।

फाटके या वायदे का कारोबार

साधारण आदमी यही समझता है कि फाटके या वायदे का कारोबार एक तरह का जुआ है। वह हैरान हो जाता है कि किस तरह, एक दिन में ही, इस व्यापार में लाखों का वारान्यारा हो जाता है। आश्चर्य की बात यह है कि रत्ती भर माल भी इधर से उधर नहीं होता। कभी-कभी तो चीज बनी भी नहीं, उसपर भी व्यापारियों का हजारों रुपया इधर-उधर हो जाता है। पर वायदा-बाजार-आयोग के दो साल के काम से पता लगा है कि यदि इस व्यापार को सही ढंग से चलाया जाय, तो इससे निश्चय ही देश की अर्थ-व्यवस्था को लाभ हो सकता है।

यद्यपि वायदा-सौदा (नियमन) अधिनियम तो १९५२ में ही बना, पर इस कारोबार का प्रचार हमारे देश में लगभग १०० वर्ष से है। युद्ध-जैसी कुछ असामान्य अवस्थाओं में इस पर कुछ अंकुश अवश्य रहा। वर्तमान अधिनियम का उद्देश्य वायदे के व्यापार को कुछ मान्यता-प्राप्त संस्थाओं के द्वारा चलाना है और ये संस्थाएँ वायदा-आयोग की देखरेख में काम करती हैं। इस कानून में तेजीमन्दी के सौदों की मनाही है और मुख्यतः यह डेलेवरी के उन वायदों पर लागू होता है, जो दूसरों के नाम किये जा सकते हैं। यह कानून सुरक्षा के सौदों और डेलेवरी के उन वायदों के लिए भी है, जिनका परिवर्तन नहीं होता।

विभिन्न वायदों में जो अन्तर है, उसे समझना जरूरी है। जो किसी दूसरे के नाम में बदले नहीं जा सकते, ऐसे नियत डेलेवरीवाले वायदों में माल देना जरूरी है। यही इसकी विशेषता है। इस तरह के वायदों में नियत किस्म के माल की नियत मात्रा, नियत भाव पर

नियत स्थान पर देनी होती है। यह 'वायदा-तैयार' की तरह होता है। अन्तर केवल इतना ही है कि इसमें माल कुछ देर से मिलता है।

परिवर्तनशील डेलेवरी के वायदों में पहले विक्रेता को माल आखिरी खरीदार को ही देना होता है। बीच में वायदा एक से दूसरे के नाम में बदलता चला जाता है। पर बाकी बातों में यह सुरक्षा के सौदों के अनुसार चलता है। सुरक्षा के सौदों या दूसरे वायदों में माल का लेन-देन नहीं होता है। बस, क्रय-विक्रय का जितना अन्तर होता है, वह दे दिया जाता है।

परिवर्तन नहीं होनेवाले नियत डेलेवरी-वायदों में माल का पूरा मूल्य देना होता है। पर सुरक्षा के सौदों और परिवर्तनशील डेलेवरी वायदों में क्रम-विक्रय का जो अन्तर होता है, बीच के लोगों को वही देना होता है। माल पहला विक्रेता आखिरी खरीदार को ही देता है। इस प्रकार परिवर्तनशील डेलेवरी वायदा, अपरिवर्तन-शील डेलेवरी-वायदों और सुरक्षा के लिए सौदों के बीच की चीज है। कानून में परिवर्तनशील नियत डेलीवरी-वायदों को सुरक्षा के सौदों के समान ही समझा जाता है।

वायदे-बाजार के नियम के लिए वायदा-आयोग को कार्यकारी और कुछ अदालती अधिकार दिये गये हैं। यह आयोग एक ओर सरकार को यह सलाह देता है कि किस चीज के व्यापार पर कानून को लागू करना ठीक रहेगा और दूसरी ओर यह विभिन्न संस्थाओं की कारोबार करने की अर्जियों पर विचार करता है और वायदे का व्यापार करनेवाली संस्थाओं के हिसाब-किताब, नीति और काम पर निगाह रखता है तथा आवश्यक आदेश देता है। आवश्यकता पड़ने पर आयोग वायदे का कारोबार करनेवाली संस्थाओं को बन्द भी कर सकता है।

१६५४ में वायदा-बाजरा-नियमों के प्रकाशित होते ही आयोग ने उन संघटनों या सदस्यों को छोड़कर, जिन्हें सरकार ने मान्यता दे रखी है, बाकी लोगों द्वारा कपास के वायदों को कुछ क्षेत्रों में गैर-कानूनी घोषित कर दिया। इसी प्रकार, इस कानून की धारा १७ के अनुसार तेलहन और तेल, मसाले, तथा गेहूँ और चने आदि कई जिन्सों के वायदों पर पाबन्दी लगा दी गई।

आयोग ने इस बात को प्रोत्साहन दिया है कि सब सौदे बाकायदे लिखकर किये जायँ और तीन साल तक इनका रेकर्ड रखा जाय। वायदे के व्यापार करनेवाली संस्थाओं के हिस्सेदारों को निजी रूप से सौदे करने की मनाही कर दी गई है। किन्हीं अवस्थाओं में नियत सीमा से अधिक व्यापार करने पर भी पाबन्दी लगा दी गई है।

हर चीज का वायदा-व्यापार नहीं हो सकता। किस चीज का वायदा होना चाहिए और किसका नहीं, यह बात आयोग तय करता है। यह देख लेने के बाद कि अमुक जिन्स के वायदों से कोई नुकसान नहीं होगा, आयोग इस बात पर भी विचार करता है कि क्या इस व्यापार को शुरू करने के लिए परिस्थिति अनुकूल है? यह पता लगाने पर कि अमुक जिन्स की उपज इत्यादि सन्तोषजनक है और देश-विदेश में स्थिति अनुकूल है, यह तय करना पड़ता है कि एक ही केन्द्र में या कई केन्द्रों में वायदों की इजाजत दी जाय।

वायदे का कारोबार करनेवाले संघटन के सदस्य काबू से अधिक व्यापार न कर सकें, इसकी रोक-थाम बहुत जरूरी है। साथ ही, किसी संकट का तुरन्त सामना करने लायक साधन होना भी जरूरी है। स्थिति के बेकाबू होने पर वायदा-बाजार-आयोग सहायता करता है। दिसम्बर, १९५५ में सटोरियों के कारण कपास

के वायदे-बाजार में ऐसा ही संकट आ गया था, जिसका नतीजा यह हुआ कि फरवरी और मई, १९५६ के वायदों में बराबर तेजी आती गई।

जब कपास के वायदों में तेजी आने लगी, तब आयोग ने ईस्ट-इंडिया कॉटन असोसियेशन को इसको रोकने की सलाह दी। पर असोशियेशन ने इसकी ओर ध्यान नहीं दिया और सरकार को मजबूर होकर फरवरी और मई, १९५६ के वायदे के कारोबार को १५ दिनों के लिए बन्द करना पड़ा। बाद में असोशियेशन ने सरकार का सुझाव मान लिया।

वायदे के सौदों पर नियंत्रण रखना आसान काम नहीं। इसके लिए आम या बाजार और वायदे-व्यापार, दोनों पर निगाह रखनी पड़ती है। व्यापारियों द्वारा बाकायदे और व्यवस्थित रूप से वायदे का कारोबार चलाने से गैरकानूनी और गलत तरीके से चलानेवाले सट्टे में निस्संदेह कमी होती है। आयोग का काम तो देखभाल करना ही है। यह हमेशा पहले ही ऐसी कारवाई कर लेता है, जिससे स्थिति न बिगड़ने पाये और बाद में किसी को दण्ड न देना पड़े।

वायदे के कारोबार का पहला लाभ तो यह है कि इससे थोड़े-से समय में ही और माल के मिलने या बनने के पहले ही बहुत-सी खरीद-फरोख्त हो जाती है। पेंचीदी बातों को छोड़ते हुए इतना कहा जा सकता है कि इस विधि से उत्पादन और निर्माण में सुविधा होती है।

दूसरे, इस कारोबार के होने से उत्पादक के पास से उपभोक्ता के पास तक माल के पहुँचने में अधिक उतार-चढ़ाव नहीं होने पाता। न तो फसल के दिनों में बहुत मन्दी आने पाती और न

मौसम के खत्म होने पर बहुत तेजी। इससे बाजार में कुछ स्थिरता भी बनी रहती है।

तीसरे, व्यापारी माँग और पूर्ति के कारण होनेवाले उतार-चढ़ाव को देखकर, अपना स्टॉक ठीक रखता है। ऐसा होने से देश के भिन्न-भिन्न भागों में एक जिन्स के भाव में बहुत अधिक अन्तर नहीं रहने पाता। इसका एक और लाभ यह है कि व्यापारियों पर बाजार की तेजी-मन्दी का असर अधिक नहीं पड़ता।

प्रजातंत्र में समाचार-पत्र

प्रजातन्त्र और पत्रकारिता में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रजातंत्र का अर्थ है प्रजा या जनता के हाथ में सार्वभौम सत्ता। जनता के मत को यानी जनमत को बनानेवाला तथा उसे प्रतिबिम्बित करने वाला होता है समाचार-पत्र। यही उसका कर्त्तव्य है, उसके अस्तित्व का प्रयोजन है। जनमत यदि स्वस्थ हुआ तो शासन भी स्वस्थ और जिम्मेदार होगा। जनमत को स्वस्थ, सबल और प्रभावशाली बनाने का काम समाचारपत्रों का है।

पुराने जमाने में अर्थात् सामन्त-शाही और ताना-शाही के युग में, फौजी सत्ता के बल पर राज्य बनते-बिगड़ते थे। राज्य-क्रान्तियों का आधार सैनिक या पाशविक सत्ता ही होती थी। पर आज प्रजातन्त्र के युग में सत्ता को प्रभावित और परिवर्तित करने का अधिकार जन-मत को है। और, जनमत का निर्माण करने का काम है समाचारपत्रों का। इसलिए पुराने जमाने में जो काम फौजें किया करती थीं, करीब-करीब वही काम आज समाचार-पत्र कर

सकते हैं। इतना बड़ा उनका महत्त्व है। इतनी बड़ी उन की शक्ति है। तभी तो एक शायर ने कहा है कि—

खींचो न कमानों को, नहीं तलवार निकालो।
गर तोप मुकाबिल है, तो अखबार निकालो।

इस शेर के विनोद को हम जरा अलग रख दें तब भी उसमें जिस सत्य का निर्देश किया गया है, वह सचमुच मार्मिक है। अंगरेजों की पाशविक सत्ता पर गांधीजी की नैतिक शक्ति की जो विजय हुई, वह 'तलवार' पर 'अखबार' की विजय का ही प्रतीक है। पत्रकारिता की पृष्ठभूमि है ही इतनी गम्भीर, विशाल और महत्त्वपूर्ण।

प्रजातन्त्रीय शासन वास्तव में प्रजाभिमुख होता है। उसे अपनी हर बात जनता के सामने रखनी होती है और हर काम की सफाई उसके सामने पेश करनी होती है। जनता यदि प्रबुद्ध और जाग्रत रहे तो शासन को गलती और मनमानी करने की हिम्मत ही न हो। जनता को सतत् सचेत और जागरूक रखने का, उसकी आवाज को बुलन्द करने का काम पत्रकारिता का है। जनता की वाणी ईश्वर की वाणी है। जनता ही यथार्थ जनार्दन है, पंच-परमेश्वर है। समाचारपत्र ऐसी ही जनता का प्रहरी है। उसकी वफादारी एकमात्र जनता के कल्याण के लिए ही है, और किसी के लिए नहीं है। जनता कभी मूक रहती है, निरीह हो जाती है, दुःख और अन्याय चुपचाप बर्दाश्त कर लेती है। ऐसी जनता का एकमात्र मित्र, सखा, प्रतिनिधि समाचारपत्र ही है और कोई नहीं। लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी की पत्रकारिता इसी कोटि की थी। स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी, स्व० बाबूराव विष्णु पराड़कर आदि ने भी इसी परम्परा को आगे बढ़ाया था। आज इसकी पहले से भी अधिक आवश्यकता है।

जब अंग्रेजी शासन था, जब राष्ट्रीय शक्तियों का विदेशी सत्ता से सतत् संघर्ष चल रहा था, उस समय भारतीय पत्रकारिता ने बहुत बड़ी सेवाएँ कीं। राष्ट्रीय आन्दोलनों को प्रज्ज्वलित रखने में उनकी बहुत बड़ी मदद हुई, उनका काम उस समय एक तरह से मुश्किल था, एक तरह से आसान भी था। मुश्किल इसलिए था कि विदेशी सरकार के प्रेस-ऐक्ट जैसे गला-घोंटने वाले कानून मौजूद थे और भारी जमानतें लेकर, समाचारों पर आर्थिक प्रहार कर उनके पैरों में बेड़ियाँ डालने की ताकत उनके हाथ में थी। लेकिन, ऐसे प्रहार के समय वह समाचारपत्र एक शहीद-जैसा गौरवान्वित हो उठता था, देश के सारे समाचारपत्र उसके कार्य को उठा रखते थे, सरकार की निन्दा करते थे। जनता भी उसे आर्थिक सहायता देने को दौड़ पड़ती थी—वह सच्चे मानी में जनता का प्रतिनिधि था। इस तरह उसका काम आसान भी था। पत्र की नीति के बारे में असमंजस नहीं होता था—वह प्रायः पूर्णतः राष्ट्रीय हुआ करती थी। राष्ट्रीयता का ध्रुवतारा सब समय उसका पथ-निर्देश किया करता था।

लेकिन, स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद हालत बिलकुल बदल गई। आर्थिक दृष्टि से तो उसके पहले ही परिवर्तन शुरू हो गया था, यानी लड़ाई के जमाने में देश के प्रमुख समाचारपत्र बड़े-बड़े व्यवसायी हो गये थे। राज्य-परिवर्तन के बाद यही व्यावसायिकता अधिक दृढ़ हो गई। आदर्शवादिता की शक्ति क्षीण हो गई, अर्थशास्त्र का प्रभाव अधिक हो गया। राजनीति के क्षेत्रों में जिस प्रकार देश-सेवकों ने अपने त्याग और कष्ट-सहन का भुगतान पदों और सत्ता-केन्द्रों के क्षेत्र में कर लिया, वही बात पत्रकारिता के क्षेत्र में हुई। सरकारी विज्ञापनों की गाढ़ी कमाई, धारासभाओं और पार्लमेण्ट की सीटों तथा विदेश-यात्रा के डेलीगेशनों की चकाचौंध ने पत्रकारिता के जगत् पर भी प्रभाव डाला। फलस्वरूप, जो बात राज-

नीतिक क्षेत्र में हुई, वह पत्रकारिता के क्षेत्र में भी हुई—यानी नैतिक मूल्यों का ह्रास, आदर्शवादिता का क्षय! यहाँ किसी पत्र-विशेष या गुट की बात नहीं कही जा रही है, केवल बदलते हुए वातावरण का जिक्र किया जा रहा है।

नतीजा यह हुआ कि राजनीतिक जीवन की तरह पत्रकारिता के जीवन में भी हमारी दृष्टि शासनाभिमुख हो गई। अधिकांश हमारा काम यही हो गया कि शासन जो करता है उसका समर्थन करना, अच्छे-अच्छे सुन्दर शब्दों में उसका प्रचार करना और अपने आप यह विश्वास कर लेना कि सच्ची राष्ट्रीयता यही है, इससे बाहर कुछ नहीं है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि शासन का समर्थन करना कोई दोष है, खास कर जब वह प्रजातान्त्रिक शासन है, जनता का शासन है। शासन कई काम अच्छे भी करता है, और उसने भारत में भी किये हैं। उनका समर्थन करना और उनको सही तरीके से समझा कर जनता के सामने रखना पत्रकारिता का कर्त्तव्य है। राष्ट्रीयता और देश-भक्ति का यही तकाजा है।

लेकिन, शासन कई बुरे काम भी तो करता है। कई बार ऐसा होता है कि शासन पर राष्ट्रीयता के बजाय राजनीति ही अधिक हावी हो जाती है। दल-बन्दी के हथकण्डों से वह मुक्त नहीं रह पाता। न्याय-अन्याय का यह विवेक नहीं रख पाता। भ्रष्टाचार को रोक नहीं पाता। नौकरी पेशे की भर्तियों में पक्षान्धता, जातीयता या रिश्तेदारी को भूल नहीं पाता। विरोधों और मतभेदों के प्रति सहिष्णु नहीं हो पाता। नैतिक मूल्यों का अपमान नहीं बचा पाता। राष्ट्र के पुराने सेवकों, चिन्तकों और तपस्वियों की अवहेलना नहीं टाल पाता। निर्भीक, स्वतंत्र एवं स्वस्थ चिन्तन का आदर नहीं

कर पाता। ऐसी कई छोटी-बड़ी बातें हैं, जो शासन को करनी चाहिए, पर कर नहीं पाता। क्या उनके प्रति पत्रकारिता का कोई कर्त्तव्य नहीं है? और, क्या वह कर्त्तव्य हम निभा पाते हैं?

प्रायः ऐसा पाया जाता है कि हम शासन की तथा उसके नेताओं की प्रशंसा करने में अत्यधिक उत्साह जताते हैं। पर उनके दोषों की ओर दुर्लक्ष्य करते है। या फिर उनकी सफाई देने लगते हैं कि भई, नया-नया मामला है। कुछ गलतियाँ होना तो स्वाभाविक है। प्रशंसा करते समय भी काम और उनके करनेवाले व्यक्तियों के बीच हम कोई फर्क नहीं करते, व्यक्तियों की तरफ ही देख कर उसकी प्रशंसा करते हैं। इसमें हमारा दृष्टिकोण भी शुद्ध और निर्मल न हो कर प्रभावित हो जाता है। यह बात नहीं है कि हमें छिद्रान्वेषण की वृत्ति से दोष-ही-दोष ढूँढने चाहिए, जैसा कि कुछ विरोधी पक्ष के लोग और समाचारपत्र करते हैं। यह वृत्ति एकांगी हो जाती है और उससे हमारे विचारों का मूल्य नहीं रहता। इसके विपरीत भी, जब देखो तब प्रशंसा ही करने की दृष्टि भी उतनी ही एकांगी हो जाती है। और, उससे भी हमारे मतों की कीमत जाती रहती हैं। सत्य तो इन दोनों के बीच ही कहीं होता है। शासन के राष्ट्रीय एवं लोक-कल्याण के विधायक कामों की प्रशंसा करना हमारा कर्त्तव्य है। पर उसकी गलतियों की भी निर्भीक एवं स्पष्ट आलोचना करना भी हमारा उतना ही प्रखर कर्त्तव्य है। यदि हमारी आलोचना की बुनियाद में व्यक्तिगत राग-द्वेष नहीं है, किसी की नियत पर आक्रमण नहीं है, और वह जन-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर की गई हो तो क्या मजाल कि उसका असर न पड़े?

सच्चे पत्रकार का तो एक ही पक्ष होता है, वह है सत्य और न्याय का पक्ष। राजनीति के बदलते हुए राग-रंगों से वह विचलित नहीं होता। समग्र जनता के कल्याण की भावना से उसका हृदय

और मस्तिष्क प्रेरित होता है। व्यक्तियों या पक्षों के शत्रुत्व का उस के लिए कोई अर्थ नहीं होता। वह तो असत्य और अन्याय का शत्रु है, जनता के द्रोह का शत्रु है। उसकी दृष्टि तो न्यायाधीश की तरह निष्पक्ष और निर्भय होनी चाहिए। उसकी निष्ठा केवल राष्ट्र और प्रजा के प्रति ही होती है और वह शासन, संस्था या व्यक्ति का प्रत्येक काम उन्हीं के कल्याण की कसौटी पर कसता है। इसके लिए स्वयं उसे भी उन्हीं आदर्शों का प्रतीक होना पड़ता है, जो वह समाज और राष्ट्र में प्रस्तुत करना चाहता है। यह भी एक प्रकार की साधना और तपस्या है।

पर, जो पत्रकार या सम्पादक यह कर पाता है, उसके नैतिक बल और प्रभाव की कोई सीमा नहीं रहती। उसकी शक्ति का स्रोत सत्य और न्याय है। सत्य और न्याय को अपने कृतित्व के लिए संख्या-बल का सहारा नहीं लेना पड़ता। वे तो अपने-आप में सर्व-शक्तिमान हैं। ऐसा व्यक्ति तो किसी भी शासन को, जिसने असत्य या अन्याय को जरा भी प्रश्रय दिया हो, हिला सकता है, चाहे भौतिक और पाशविक सत्ता के हिसाब से वह कितना ही ताकतवर क्यों न हो! और, यह कारगर इसीलिए होगा कि यह प्रजातंत्र का युग है, विचार और मत प्रदर्शन की इसमें पूरी स्वतंत्रता रहती है।

इस प्रकार की पत्रकारिता स्वतंत्र भारत में और भी अधिक आवश्यक है। हमारे यहाँ प्रजातन्त्र की मजबूत नीवें और परम्पराएँ अभी पड़नी ही हैं। सत्ता और अधिकार के सम्पर्क के कारण हमारे गुमराह होने की संभावना है। ऐसे ही समय में हमें सावधान करनेवाला प्रहरी चाहिए। यह प्रहरी सच्चा पत्रकार ही हो सकता है।

किन्तु, क्या आज हमारे देश में ऐसी परम्पराएँ डालने की कोशिश की जा रही है ! क्या भारतीय पत्रकारिता उन ऊँचे आदर्शों को लेकर चल रही है जो स्वतंत्रता प्राप्ति के पहले उसे अनुप्राणित करते थे ! स्वतंत्रता के बाद भारतीय पत्रकारिता की प्रगति हुई है या ह्रास ! उसका नैतिक प्रभाव बढ़ा है या कम हुआ है ! इस सम्बन्ध में देश के वयोवृद्ध और अनुभवी नेता श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य के विचार बड़े मार्मिक हैं। वे कहते हैं—

"आलोचना से महान् सरकारों को हमेशा फायदा ही होता है। उसके बिना वे आत्म-तुष्टि और अनियंत्रित स्वेच्छाचारिता की ओर फिसल जाती हैं।

"......देश के विरोधी पक्ष, दिल्ली के या राज्यों के, कमजोर हैं और अपनी खुदगर्जी में इतने दलों में बंटे हुए हैं कि उनका सरकार या जनमत पर कोई असर ही नहीं पड़ता। दैनिक समाचार-पत्र, जो आज व्यवसाय की दृष्टि से तरक्की कर रहा है, रोजमर्रा अपनी पसन्दगी और समर्थन की मुहर लगाता जाता है, और जिन मामलों में कुछ शंका है, उनपर तब तक अपनी राय नहीं बनाता जब तक कि प्रधान मंत्री अपना मत व्यक्त नहीं करते। आलोचना के क्षेत्र में उसका कार्य प्रायः नहीं के बराबर है।"

यह कह कर कि दस हजार की बिक्री वाले भारतीय समाचार-पत्रों का जो प्रभाव स्वतंत्रता के पहले जनता या शासन पर पड़ता था, वह उनकी बिक्री एक लाख तक बढ़ जाने पर भी आज नहीं पड़ता है—राजाजी कहते हैं—

"...समाचार पत्रों का कर्त्तव्य केवल जनमत को प्रतिबिम्बित करना, उनके भविष्य की अटकलें लगाना नहीं है, बल्कि जनता को शिक्षित करना तथा उसका पथ-प्रदर्शन करना भी है।"

———

ग्राम-पंचायत

गाँवों के निवासी छोटे-छोटे मामलों का स्वतः निपटारा कर लें तथा पारस्परिक सहयोग-भावना के सहारे ग्राम-विकास के अन्य क्षेत्रों में सुचारु रूप से सक्रिय भाग ले सकें—इसी उद्देश्य को सामने रखकर बिहार तथा अन्य भारतीय राज्यों की सरकारों ने अपने-अपने ग्रामीण-क्षेत्रों में ग्राम-पंचायतों के प्रतिष्ठापन की व्यवस्था कर रखी है। हमारे बिहार राज्य में १२ फरवरी, सन् १६४८ से 'बिहार पंचायत राज कानून' को कार्यान्वित किया जा रहा है। कानून में समय पर, परिस्थिति के अनुकूल, संशोधन भी होते रहे हैं।

संगठन :—जिस गाँव में ग्राम-पंचायत की स्थापना होती है। उसके सभी वयस्क स्त्री-पुरुष पंचायत के सदस्य होते हैं। उनके नाम रजिस्टर में दर्ज किये जाते हैं और पूर्व-निर्धारित तिथि को वे सभी, गुप्त मतदान द्वारा, अपने में से एक मुखिया का निर्वाचन कर लेते हैं। मुखिया अपनी एक कार्य-समिति का संगठन कर लेता है, जिसके सदस्यों को वह स्वयं मनोनीत करता है। ग्राम-पंचायत के सभी सदस्य गाँव की न्याय-व्यवस्था के लिए मुखिये के अतिरिक्त पंद्रह पंचों का भी गुप्त मतदान द्वारा निर्वाचन करते हैं। वे पंद्रह पंच अपने में से एक सरपंच चुन कर ग्राम-न्याय-समिति का संगठन करते हैं।

ग्राम-कचहरी :—अपने अधिकार के अंतर्गत प्रत्येक मुकदमे की सुनवाई के लिए न्याय-समिति के सदस्यों में से तीन पंचों की अदालत या ग्राम-कचहरी संगठित होती है, जिसका अध्यक्ष सरपंच होता है और शेष दो पंचों को भी वही सरपंच मनोनीत कर लेता है। प्रारंभ में, यही कोशिश रहती है कि प्रत्येक मामले का निपटारा समझौते के द्वारा हो जाय। समझौता नहीं होने पर

ही नियमानुसार दोनों पक्षों की सुनवाई होती है और उचित निर्णय किया जाता है। कानून के अनुसार 'ग्राम-कचहरी' को तीसरे दरजे के मैजिस्ट्रेट के अधिकार दिये गये हैं। इसे किसी भी अपराधी को एक मास तक की कैद अथवा पचास रुपये तक जुर्माने करने का अधिकार है। 'ग्राम-कचहरी' के निर्णयों के विरुद्ध की गई अपीलें सभी पंचों द्वारा सुनी जा सकती हैं। पंचायत के द्वारा न्याय नहीं होने पर उस क्षेत्र के सब-डिवीजनल अफसर या मुंसिफ को उसमें हस्तक्षेप करने का अधिकार है।

ग्राम-सेवक :—प्रत्येक पंचायत के कार्यालय में सरकार की ओर से एक वेतन-भोगी ग्राम-सेवक की नियुक्ति सरकार की ओर से होती है। ग्राम-सेवक पंचायत के मुखिया तथा उसकी कार्य-समिति के तथा ग्राम-कचहरी के कार्यों के संपादन में सरपंच की सहायता करता है। साथ ही, राष्ट्र-निर्माण-संबंधी राजकीय विभागों तथा ग्राम-पंचायत के बीच संपर्क स्थापित करता है। ग्राम-सेवकों को अपने उत्तरदायित्व पूर्ण कर्त्तव्यों के पालन में सफल तथा सुयोग्य बनाने के लिए सरकार की ओर से उनके शिक्षण की व्यवस्था की गई है। प्रत्येक 'ग्राम-सेवक' को ६ सप्ताह तक 'शिक्षण-शिविर' में रह कर आवश्यक योग्यता प्राप्त करनी पड़ती है। उनके शिक्षण-क्रम में ग्रामीण-जीवन के विकास-संबंधी सभी उपयोगी विषयों का समावेश रहता है। यह आवश्यक नहीं कि ग्राम-सेवक अपने ही ग्राम-पंचायत-क्षेत्र का निवासी हो।

ग्राम-रक्षा-दल :—'पंचायत-राज-कानून' में सामाजिक सेवा के संचालन के लिए 'ग्राम-रक्षा-दल' के संगठन की भी व्यवस्था है। पंचायत-क्षेत्र में रहनेवाले १८ से ३० वर्ष तक की उम्र के सभी स्वस्थ पुरुष 'ग्राम-रक्षा-दल' में अनिवार्य रूप से भर्त्ती किये जाते

हैं। इस दल का नेतृत्व करने के लिए एक नायक की नियुक्ति होती है। नायकों को भी आठ सप्ताह तक प्रशिक्षण देने की व्यवस्था की जाती है। उनके शिक्षण-क्रम में शारीरिक व्यायाम, आग बुझाने तथा अन्य प्रकार के सामाजिक सेवा-कार्यों का समावेश है।

रचनात्मक कार्यः—ग्राम-पंचायत की आय का मुख्य साधन है श्रमकर। पंचायत के सभी सदस्यों को ग्राम-विकास के कार्यों में अनिवार्य रूप से, एक निश्चित समय के लिए, अपने श्रम की सेवा अर्पित करनी पड़ती है। जो शारीरिक श्रम करने में अपनी असमर्थता दिखाता है, उसे निश्चित काल के लिए श्रम के बदले उसकी मजदूरी दे देनी पड़ती है, जिससे कि पंचायत दूसरों से उतना श्रम ले सके। इस श्रम-कर का उपयोग गाँव की सड़कों की उन्नति, पीने के पानी की व्यवस्था, शिक्षा-संस्थाओं के सुधार तथा ग्राम-विकास से संबंध रखनेवाली अन्य छोटी-छोटी योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए किया जा सकता है। गाँव में कंपोस्ट खाद बनाने का कार्य भी ग्राम-पंचायत के द्वारा किया जा सकता है। गाँव के स्वास्थ्य, सफाई तथा पशु-धन की समृद्धि के लिए कार्य करना भी ग्राम-पंचायत के महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्यों में से है। इन कार्यों के अतिरिक्त ग्राम-पंचायतों को निम्नलिखित कार्यों के करने का भी निर्देश किया गया है—(१) बहुमुखी सहयोग-समितियों का संगठन, (२) गाँव की परती तथा बंजर भूमि को सरकारी सहायता से उपजाऊ बनाना, (३) व्यावसायिक दृष्टिकोण से साग-सब्जी की खेती करना, (४) रोगों से पशुओं को बचाने की व्यवस्था करना तथा (५) अपने क्षेत्र के निवासियों के लिए खेल-कूद तथा मनोविनोद की व्यवस्था करना।

ग्राम-पंचायतें ग्राम-विकास के कार्यों में अधिकाधिक योगदान कर सकें, इसके लिए सरकार ने निश्चय किया है कि ग्राम-पंचायतों

के ही द्वारा नव-निर्माण के सारे कार्य संपन्न कराये जायँ। अतएव, जिन क्षेत्रों में ग्राम-पंचायत का समुचित संगठन हो गया है, उनमें कृषि की उन्नति के लिए भी कार्य किये जाते हैं। सरकार इन्हीं पंचायतों के द्वारा खाद, बीज, औजार आदि खेती के आवश्यक उपकरणों के वितरण की व्यवस्था करती है। सरकारी लघु-सिंचाई, योजनाओं को कार्यान्वित करने का भार भी पंचायतों को ही सौंपा जा रहा है। ग्राम-पंचायत की आर्थिक आय की वृद्धि के लिए जमीन की मालगुजारी उगाहने का भार भी पंचायतों को ही सौंपने का विचार निश्चित हो चुका है।

उपसंहारः—हमारे देश में पंचायतों की परंपरा बहुत प्राचीन है। पंचायतें वैदिक काल में भी ग्राम्य-जीवन का अभिन्न अंग थीं। वेदों में ग्रामीणि शब्द मिलता हैं, जिसका अर्थ है गाँव का मुखिया। वाल्मीकि रामायण में 'जनपद' शब्द का उल्लेख किया गया है। 'जनपद' वस्तुतः ग्राम्य-सभाओं के ही संघ थे। इसी प्रकार बौद्ध जातकों तथा स्मृति-ग्रथों में भी पंचायतों का उल्लेख मिलता है। सच तो यह है कि पंचायतें हमारे देश में ब्रिटिश शासन प्रतिष्ठित होने तक बराबर फूलती-फलती रहीं। सन् १८८२ में पुनः इन पंचायतों को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया गया। फिर सन् १९०७ में भी इस दिशा में किंचित प्रयत्न किया गया। सन् १९१९ के अधिनियम के अनुसार जब राज्यों को स्वायत्त शासन के अधिकार सौंपे गये, तब अनेक राज्यो ने पंचायत-अधिनियम को भी पारित किया। इधर स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हमारे देश में पंचायतों का वास्तविक विकास प्रारंभ हुआ है।

कला का समाजीकरण

जीवन के अन्य पहलुओं की तरह ही कुछ समय से कलाओं का वैयक्तिक पक्ष बहुत पुष्ट हुआ है और सार्वजनिक पक्ष अत्यन्त कमजोर। इसका मूल कारण है कलाओं का जीवन के साथ अलगाव। कलाएँ जब जीवन से विलग हो जाती हैं, तब उनकी ऐसी ही दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति होती है। हमारे जीवन में, जब धर्मका प्राधान्य था, तब जीवन का प्रत्येक पक्ष उससे जुड़ा हुआ था। यही कारण था कि उस समय की कला के अनेक सार्वजनिक रूप हमें आज भी दृष्टिगत होते हैं। कला वैयक्तिक साधन और स्वार्थ की पूरक न थी। वह सार्वजनिक हित की पोषक थी। परन्तु जब से कला जीवन से अलग होकर स्वार्थ-साधन का एक साधन बन गई, तब से वह वैयक्तिक स्तर पर जीने लगी। यह स्वरूप हमें मध्य-कालीन कलाओं से ही प्राप्त होने लगा है। महाराजाओं तथा समाज के बौद्धिक और धनिक-वर्ग के आश्रय में पली हुई कला जन-साधारण से विलग हो गई और उसमें बौद्धिक और कल्पना-तत्त्वका इतना अधिक समावेश हुआ कि वह धीरे-धीरे अत्यन्त दुरूह और अल्पजन के मनोरंजन की सामग्री बन गई। काव्य, संगीत, चित्रकला, नृत्य आदि की तत्कालीन शैलियों में हमें इसी दुरूहता और वैयक्तिकता के दर्शन होते हैं।

जन-साधारण के आज के इस परिवर्तनशील युग में भी कलाएँ परम्पराओं से बाहर नहीं निकल पाईं। कला के किसी पक्ष को लेकर उसका विश्लेषण करने से यह सिद्ध हो जाता है कि कला का वह सार्वजनिक और लौकिक पक्ष हमारी आँखों से बिल्कुल ओझल है। आज का चित्रकार भी ऐसे ही प्रयोग करने में संलग्न

हैं, जिससे उसकी कृति में अधिक-से-अधिक वैचित्र्य की सृष्टि हो सके तथा उसकी प्रतीकवादी अभिव्यक्ति को कलामर्मज्ञ ही परख सकें। आज की कला-प्रदर्शिनियों में आई हुई अनेक कला-कृतियाँ जन-साधारण की समझ से बाहर होती हैं, और जो विशिष्ट तत्त्व उनमें होता है, उसे समझने के लिए किसी कला-आलोचक की आवश्यकता होती है। यही दशा शास्त्रीय संगीत और नृत्य की है, जिन्हें समझने का सौभाग्य कुछ ही लोगों को प्राप्त होता है। उनका जन्म शाही महलों और हरमों में हुआ, जहाँ कला व्यक्ति-विशेष के आनन्द, मनोरंजन तथा तर्क-वितर्क की वस्तु थी। यही कारण है कि आज जब ये शाही आश्रय से वंचित कलाएँ सार्वजनिक क्षेत्र में आती हैं, इनके साथ साधारण जनता किसी प्रकार का जीवित संबंध अनुभव नहीं करती। उसके लिए वे उतनी ही विदेशी हैं, जितनी विदेशी कलाएँ।

इधर जो भी कलाएँ, जिनसे हमारा समस्त लोक-जीवन अनुप्राणित था, हमारे गाँवों में ग्राम-गीत, नृत्य, नाट्य आदि के रूप में अब तक विद्यमान थीं, आज मृतप्राय हो रही हैं। युद्धोत्तर आर्थिक, नैतिक और सामाजिक समस्याओं से आक्रान्त मानव-समाज आज इतना विकृत हो गया है कि उसमें खुलकर साँस लेने की शक्ति भी न रही। ऐसी स्थिति में स्वस्थ कला का निर्माण भी नहीं हो सकता। इस डाँवाँडोल स्थिति में, जो-भी, जिधर, कुछ ऊटपटाँग हो जाता है, वह कला बन जाता है। इस दृष्टि से हम यह मान लें कि हमारी कला का सार्वजनिक क्षेत्र बन रहा है, तो बात दूसरी है। नाट्य, नृत्य और गीत के क्षेत्र में सार्वजनिक दृष्टिकोण से आधुनिक सिनेमा ने अवश्य कुछ किया है; परन्तु वह उचित व्यवस्था, नियंत्रण और उद्देश्य के अभाव में इतना विकृत और

विषम रूप धारण किये हुए है कि उससे लाभ की अपेक्षा हानि अधिक हो रही है। शिष्ट संगीत और नृत्य की दृष्टि से हमारी अभिरुचि को इन सिनेमाओं ने बहुत अधिक बिगाड़ा है। इसी कारण हमारे अनेक सद्प्रयत्न आज असफल रहते हैं।

सर्वप्रथम यह कार्य कालेजों और स्कूलों में ही हो सकता है। बच्चों में यदि प्रारम्भ से ही विशुद्ध कलात्मक संस्कार डाले जायँ, तो उनसे बच्चों की भावात्मक वृत्तियों का तो परिष्करण होगा ही; साथ ही, स्वस्थ और सुन्दर कला के प्रति एक स्वस्थ दृष्टि भी बनेगी। संगीतकार का कर्त्तव्य है कि वह अपने स्वतंत्र और विशुद्ध वातावरण में ऐसे गीतों की सृष्टि करे, जिन्हें हजारों लोग मिलकर गा सकें। संगीत का यह लौकीकरण केवल उसके सुगम रूप को ही जीवित नहीं रखेगा, वरन् उससे उसका स्थायी शास्त्रीय पक्ष भी पुष्ट होगा। लोक-संगीत की पृष्ठभूमि पर ही शास्त्रीय संगीत की नींव पड़ती है। सहस्रों वर्ष पूर्व वैदिक संगीत के शुद्ध सरल स्वरूप से धीरे-धीरे स्वर और शब्द-विस्तार होता गया और उसमें मनुष्य की रागात्मक वृत्ति के विकास के साथ अलंकार, रस और भाव-सम्पन्नता बढ़ती गई। जिस प्रकार भाषाएँ लौकिक स्तर से पांडित्य के स्तर पर आकर कठिन और क्लिष्ट होने लगती हैं, उसी प्रकार संगीत और नृत्य भी सरलता से विषमता की ओर अग्रसर होते हैं। यह प्रवृत्ति बहुधा पंडितों, आचार्यों और शास्त्रियों के प्रयास से विषम रूप भी धारणा कर लेती है और कलाएँ लोकप्रिय न रहकर कुछ ही कलाकारों की सम्पत्ति बन जाती हैं।

भारतीय कलाओं का अतीत इन्हीं विषमताओं से ओतप्रोत है। भक्ति-परम्परा के समय सूरदास, तुलसीदास, हरिदास, मीरा आदि संत-महात्माओं द्वारा प्रचारित गीतों का लोक-रंजनकारी और लोक-

मंगलकारी गुण नवाबों और राजाओं के समय नष्ट हुआ और कलाएँ लोकाश्रय से हटकर राजाश्रय में पनपीं। उसका परिणाम यह हुआ कि उस समय की कलाएँ एकांगी और लोक-जीवन की अभिव्यक्ति से हीन हो गईं। कला का लोकोन्नयनकारी गुण नष्ट हुआ और वह केवल कलाबाजियों और निकृष्ट शृंगार का वाहन बन गई। लगभग दो सौ वर्षों तक राजाओं के वैभव, विलास, शृंगार और शराब की प्यालियों के साथ पली हुई कलाएँ राज-प्रासादों की चहारदीवारी में तो खूब पनपीं; परन्तु बाहर उनका कहीं स्वागत न हुआ। अब स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद सामंतवादी अंत्येष्टि के साथ ही वे आधार-हीन-सी हो गईं। अतः, अब हमें अपने पूर्व कटु अनुभवों से सचेत होकर कला को व्यक्ति-विशेष के आश्रय से बचाकर लोकाश्रय की स्थिति तक पहुँचाना है।

कला का सरलीकरण उतना ही आवश्यक है, जितना भाषा का। कला को क्लिष्ट और दुरूह करने के प्रयत्नों को हमें किसी भी तरह प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए। उसका लोक-रंजनात्मक रूप बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि उसका जीवन से सजीव संबंध बना रहे। जिस समय हमारा देश अपनी स्वतन्त्रता के लिए विदेशी आक्रमणकारियों से जूझ रहा था, हमारे कवियों और संगीतज्ञों ने खून खौलाने वाले तथा उत्साहवर्द्धक गीत गाकर देश के प्राणों में जीवन फूँका था। अपनी हीनता और परवशता की उदासी के कारण, जिस समय देश अपने को मृतप्राय-सा अनुभव करता था, उस समय महात्माओं ने, ईश्वर को अपना एकमात्र आधार मानकर, भक्ति के प्रवाह से नवजीवन का संचार किया था। ये सब परि-स्थितियाँ इस बात की ओर स्पष्ट संकेत करती हैं कि मध्य युग में हमारी कलाएँ जीवन से उतनी ही संबद्ध थीं, जितना शरीर के साथ

प्राण। बाद में सामन्ती-युग में कला की जो दुर्दशा हुई, वह हम से छिपी नहीं है। उसके बाद भी अंग्रेजी शासन के विरुद्ध स्वातंत्र्य-संग्राम के समय जब हमारे असंख्य भाई जेलों में ठूँस दिये गये और देश अगणित यातनाओं से पीड़ित था, हमारे अधिकांश कवि प्रेम, आँसू, शृंगार आदि के गीत लिखते थे और संगीतज्ञ अपनी कौतुकपूर्ण आलाप-तानों में ही लीन थे।

आज के कुछ प्रगतिशील विचारक कला को शोषक और शोषित वर्ग की कला की दृष्टि से विभाजित करते हैं। कुछ अंश तक इसमें सचाई होते हुए भी यह एक प्रकार से विकृत दृष्टिकोण है। कला का तो एक ही पक्ष है, और वह है जीवन-पक्ष। उसे वादों में बाँधकर सीमित करना न्यायोचित नहीं। उनकी दृष्टि से जो कला दुरूह, क्लिष्ट और कुछ के ही आनन्द का साधन बन गई, वह तो शोषक-वर्ग की कला हुई, और जो सर्वसाधारण को प्रिय हुई, वह शोषित की। कला का यह विभाजन हमारी संकीर्ण मनोवृत्ति का ही द्योतक है। कहना यह चाहिए कि शिष्ट और संस्कृत वर्ग की कला का स्तर सर्व-साधारण की कला से ऊपर होता है। और, यह भी कहना अनुचित न होगा कि अनेक शिष्ट और संस्कृत जन आज आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त हीन अवस्था में हैं। जो लोग अशिक्षित और असंस्कृत होते हैं, उनकी अभिरुचि निम्न कोटि की होने से उन्हें नीचे दर्जे की कला पसंद होती है। और, यह भी कहना अनुचित न होगा कि ऐसे लोगों में अनेक धनी-मानी तथा शोषक वर्ग के लोग भी हैं। अतः, यह कोई कसौटी नहीं कि जो कला लोकप्रिय हो, वह तो कला है, और जो लोकप्रिय न हो, वह कला नहीं। अतः, करना यह चाहिए कि कला का स्तर तो ऊँचा ही रखें, उसे किसी भी तरह नीचे न गिरने दें; पर जनता के सांस्कृतिक

स्तर को ऊपर उठावें। कला को लोकप्रिय बनाने की धुन में आज के अनेक प्रगतिवादी लोग उसे सरल और सुबोध बनाना चाहते हैं, यह तो उचित है; पर उसे अपने राजनीतिक लक्ष्य-साधन का माध्यम बनाकर, उसके रागात्मक गुण को नष्ट करने की प्रवृत्ति अच्छी नहीं। कला सर्व-साधारण की सम्पत्ति तो है ही; पर यदि उसका भावात्मक, कलात्मक और सौंदर्य-पक्ष ही गिर जाय, तो फिर उसे कला न कहकर किसी दूसरे नाम से ही पुकारा जाय। इसका यह तात्पर्य नहीं कि हमारी सभी लोक-कलाएँ इस कसौटी पर ठीक नहीं उतरतीं। हमारे ग्राम-गीतों और नृत्यों में तो लोकप्रियता के साथ कला के सभी गुण विद्यमान हैं। अतः, कला के जो दो रूप हमें परिलक्षित होते हैं, उनके पीछे शोषक और शोषित का पक्ष इतना नहीं है, जितना हमें दीखता है। अंतर केवल बौद्धिक स्तर का है। आज यदि हमारे समाज की आर्थिक व्यवस्था स्वस्थ और न्यायोचित भूमि पर स्थित हो, तो हमारे सभी गिरे हुए लोगों को अपना स्तर बढ़ाने का अवसर मिलेगा, उनकी कलात्मक अभिरुचि बढ़ेगी और वे कला के सच्चे स्वरूप को पहचानने लगेंगे। अतः, जरूरत यह नहीं कि कला के स्तर को नीचे गिरा कर उसे केवल लोकप्रिय ही बनाया जाय; बल्कि उचित यह है कि समाज की कलात्मक अभिरुचि बढ़ाकर उसे शिष्ट कला के योग्य बनाया जाय।

हमें अपनी कला को कुछ ही लोगों के संग्रहालयों, प्रासादों और धार्मिक स्थानों से निकालकर जन-साधारण की संपत्ति बनानी होगी। इसके लिए सरकार की मदद तो आवश्यक है ही, परन्तु हमें अपने कर्त्तव्य को भी नहीं भूलना चाहिए। कला को जो आवश्यक आश्रय चाहिए, वह जनता द्वारा प्राप्त हो। हम जनता की अभिरुचि बढ़ावें, उसे कला सीखने-सराहने का अवसर दें,

कलाकार को अपनी राष्ट्रीय संपत्ति समझें और उसे जनता और शासन का उचित आश्रय प्रदान करें। हमें केवल कलाकार ही नहीं, प्रचारक और कला-सेवी व्यक्ति भी चाहिए। हमें केवल प्राच्य कला के मर्मज्ञ और पुजारी ही नहीं, कला को नवयुग के प्रकाश में देखनेवाले स्वप्नद्रष्टा और निर्माता भी चाहिए। हमें प्राचीन कलाओं का ही पुनरुद्धार नहीं करना है, नवीन कला का स्वरूप भी निर्धारित करना है।

आज के जीवन में संग्रहालयों का महत्त्व

यदि देखा जाय, तो संग्रहालयों की उत्पत्ति प्रेम और स्वार्थ की भावना से हुई। पुराने जमाने के जिस यात्री को जहाँ जो चीज अच्छी लगती थी, वह उसे अपने पास रख लेता था। सौभाग्य से वह इतना धनी होता था कि अपनी मन-चाही चीज को खरीद भी सकता था। उसका संग्रह उसकी इच्छा और रुचि के अनुसार होता था। आज के यूरोप के बहुत-से संग्रहालयों में व्यक्ति-वैचित्र्य देखने को मिलता है।

आज के युग में यह संभव नहीं कि कोई व्यक्ति, अकेला ही, बहुत-सी उत्तम वस्तुओं का संग्रह कर सके, इसलिए आज उनके चलाने का उत्तरदायित्व संस्थाओं और व्यापक रूप में, सारी जनता का है। आज के संग्रहालय जनता के हैं।

संग्रहालयों में तरह-तरह की वस्तुएँ दिखाई जाती हैं; पर यह काम इतना आसान नहीं, जितना साधारण लोग समझते होंगे। प्रायः सभी संग्रहालयाध्यक्ष अपने काम में बड़ी रुचि रखते हैं और

इसे बड़े चाव से करते हैं ; क्योंकि यदि उन्हें यह काम हृदय से न रुचे, तो वे इसे नहीं कर सकते।

संग्रहालयों के काम में सबसे पहली समस्या आती है प्रदर्शनीय सामग्री के चुनाव की। आज का जीवन ऐसा है कि कोई व्यक्ति अनावश्यक और अजीब चीज अपने पास नहीं रखना चाहता। ऐसी चीजों को लोग संग्रहालयों को भेंट कर देना चाहते हैं। इसलिए संग्रहालयों के पास इतनी अधिक चीजें आती रहती हैं, जिन्हें वे दिखा नहीं सकते। संग्रहालयों के कर्मचारियों को तो संग्रह करने की बीमारी ही होती है।

अब वह जमाना नहीं कि किसी अजीब चीज को संग्रहालय में स्थान दिया जा सके। बहुत-से पुराने संग्रहालयों में अब एक तरह की सफाई की जा चुकी है और बहुत-सी बेढंगी चीजें हटा दी गई हैं। अब ऐसा नहीं होता कि भारतीय हाथी दाँत के साथ फिनलैंड के रेनडियर के सींग या मेक्सिको की कसीदे की चीजें रखी हुई हैं। अब सब चीजें एक क्रम से लगाई जाती हैं और यह क्रम बहुत सोच-समझकर और तर्क के बाद नियत किया जाता है। हर तरह की रुचि और जिज्ञासा को पूरा करने की दृष्टि से वस्तुओं का चुनाव किया जाता है। फिर भी, इस बात में कोई निश्चित राय नहीं दी जा सकती कि क्या सामग्री संग्रहालय में रखी जाय और कैसे रखी जाय।

कोई भी संग्रहालय ऐसा नहीं हो सकता, जहाँ विश्वविद्यालयों के अध्यापकों या गवेषकों से लेकर आम स्त्री-पुरुषों के मतलब की हर चीज देखने को मिले। हमें अपने चारों ओर के समाज और वातावरण इत्यादि कई बातों को देखकर प्रदर्शनीय सामग्री का चुनाव करना होता है। आज संग्रहालयों से सम्बद्ध व्यक्ति यह

अनुभव करने लगे हैं कि संग्रहालय का संचालन स्वतः कोई उद्देश्य नहीं, बल्कि इसके द्वारा जनता की सेवा करना ही उद्देश्य हो सकता है। जनता की ज्ञान-वृद्धि, मनोरंजन, विकास और शिक्षा ही हमारा उद्देश्य होना चाहिए।

संग्रहालय की सामग्री कैसे सजाई जाय, यह भी बड़ा पेंचीदा काम है। यह सामग्री कैसे बक्सों में रखी जाय, कैसे रोशनी लगाई जाय, रोशनी जरूरी भी है या नहीं, ऐसी अनेक बातों पर संग्रहालयों के विशेषज्ञों को माथा-पच्ची करनी पड़ती है। इतना ही नहीं, अमुक वस्तु पर किस तरह का लेबिल लगाना ठीक होगा, यह भी काफी सोच-विचार कर तय किया जाता है। संग्रहालय किस समय से किस समय तक खुले और इसमें सर्दी-गरमी में हवा आदि का क्या प्रबंध हो, ये बातें भी कम महत्त्व नहीं रखतीं। इस प्रकार चीजों के रखने का काम भी सरल नहीं।

युद्ध के बाद एक विचार बराबर प्रबल होता जा रहा है, कि संग्रहालय की वस्तुएँ किसी एक राष्ट्र या जाति की सम्पत्ति नहीं। इनपर समस्त विश्व का समान अधिकार है। ये वस्तुएँ संसार को निकट लाने का बहुत बड़ा साधन हैं। इसलिए संग्रहालय की सामग्री ऐसी होनी चाहिए, जिससे समस्त मानव जाति की एकता के भाव को बल मिले।

यूनेस्को ने भिन्न-भिन्न देशों के संग्रहालयों में सहयोग पैदा करने के लिए काफी काम किया है। अन्तर्राष्ट्रीय संग्रहालय परिषद् की स्थापना भी इसी उद्देश्य से की गई है।

सब तरफ नये-नये संग्रहालय खुलते जा रहे हैं। नये-नये विचारों और सूझ-बूझ का परिचय मिल रहा है, फिर भी लोग संग्रहालयों से संतुष्ट नहीं। कुछ लोग समझते हैं कि संग्रहालयों में बहुत अधिक

चीजें रहती हैं। कुछ का विचार है कि यहाँ केवल पुरानी वस्तुओं का ही संग्रह है, क्यों न हमारे आधुनिक जीवन से सम्बद्ध चीजें यहाँ रखी जायँ।

कुछ संग्रहालय-अधिकारी दर्शकों को बिल्कुल बेवकूफ समझते हैं; क्योंकि दर्शक वहाँ की सामग्री पर उतना ध्यान नहीं देते, जितना इन अधिकारियों के विचार में देना चाहिए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संग्रहालयों के बारे में सब अपने-अपने ढंग से ही सोचते हैं, फिर भी संग्रहालयों का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। संग्रहालयों के अधिकारीगण अब अपने दफ्तरों में बन्द नहीं रहते, वे हर तरह के लोगों के सम्पर्क में आकर यह जानने की उत्सुक रहते हैं कि संग्रहालयों का अधिक-से-अधिक लोग कैसे लाभ उठायें। अब एक संग्रहालय दूसरे संग्रहालय को अपनी सामग्री भेजता है। इतना ही नहीं, स्कूलों तक को संग्रहालय अपनी सामग्री देते हैं। इस व्यापक आदान-प्रदान ने आज के संग्रहालयों को संस्कृति का केन्द्र बना दिया है, जहाँ से हर व्यक्ति को अपनी परिष्कृत रुचि के अनुकूल कुछ-कुछ अवश्य प्राप्त होता रहता है।

भारत में चीनी का व्यवसाय

भारतवर्ष के संगठित उद्योगों में वस्त्र-व्यवस्था के बाद दूसरा स्थान चीनी के उद्योग का ही है। गत शती के अन्त तक तो सारे संसार की ईख की उपज का अर्द्धांश इसी देश में पैदा होता था।

हमारे देश में उत्तर प्रदेश और बिहार, ये दोनों ही प्रांत चीनी के उद्योग के प्रमुख केन्द्र हैं। सारे उत्पादन का ८० प्रतिशत चीनी और खांड़ इन्हीं दोनों प्रांतों में तैयार होते हैं। भारत सरकार ने सन् १९३२ में चीनी उद्योग को ३०) रुपया प्रति टन की दर से संरक्षण प्रदान किया था। सरकार के इस प्रोत्साहन से इस व्यवस्था में पूँजी लगानेवाली कम्पनियों की संख्या इतनी बढ़ने लगी कि चीनी के लिए देश स्वावलम्बी हो गया। जहाँ सन् १९३१-३२ में कारखानों की संख्या केवल ३२ थी, वहाँ सन् १९३६-३७ में १३७ हो गई। साथ ही, जहाँ १० लाख टन से देश की माँग पूरी हो जाती थी, वहाँ चीनी की उपज प्रतिवर्ष ११॥ लाख टन तक पहुँच गई। यह सब तो हुआ, मगर ईख उपजाने वाले बेचारे किसानों को कारखानों के मालिकों और उनके दलालों से ईख को उचित कीमत नहीं मिलने लगी। इस धांधली को दूर करने के अभिप्राय से उत्तर प्रदेश और बिहार की सरकारों ने ईख की कीमत निर्धारित करने का बीड़ा लिया। फलतः, सन् १९३८ में चीनी के कारखानों को नियंत्रण में रखने के लिए एक विधान बना, जिसके अन्तर्गत चीनी के प्रत्येक कारखाने को सरकारी लाइसेंस लेना पड़ता है और ईख की जो कम-से-कम कीमत निर्धारित हो, उसे किसानों को देने की गारंटी देनी पड़ती है।

चीनी-व्यवसाय के लिए सबसे पहला संकट सन् १९३६–३७ में उपस्थित हुआ, जब कि उच्च कोटि की रवादार सफेद चीनी की कीमत गिरते-गिरते ६-६। रुपये प्रतिमन तक पहुँच चुकी थी। उत्पादन में आशातीत वृद्धि के साथ-साथ कारखानों की आपसी आंतरिक प्रतियोगिता इसका मुख्य कारण थी। इस संकट को दूर करने के लिए फैक्टरियों का एक संगठन कायम हुआ, जिसका

नाम पड़ा—इंडियन शूगर सिंडिकेट। उत्तर प्रदेश और बिहार की सरकारों ने सभी कारखानों की चीनी की कुल बिक्री के लिए इसे एक मात्र एजेंसी के रूप में स्वीकार कर लिया और दोनों प्रान्तों के कारखनों के लिए इसका सदस्य बनना अनिवार्य कर दिया।

इसके पश्चात् अगले दो सालतक कोई महत्त्व की घटना नहीं घटी। किन्तु सन् १६३६-४० में चीनी व्यवसाय पर दूसरा संकट मँड़राया, जब कि कारखानों में चीनी का उत्पादन माँग की दृष्टि से बहुत ज्यादा बढ़ गया। उस साल केवल रवादार चीनी का ही उत्पादन १२४१७०० टन तक पहुँच गया था। सिंडिकेट के अध्यक्ष और सदस्यों के बीच के आपसी मतभेदों से ऊब कर उत्तर प्रदेश और बिहार की सरकारों ने जून, सन् १६४० में अपनी वैधानिक स्वीकृति भी सिंडिकेट पर से उठा ली और कारखानों पर से इसका सदस्य होने का प्रतिबंध भी हट गया। इधर स्टाक या संचित माल को खपाने की व्यग्रता से कारखानों में भीतर-भीतर प्रतियोगिता चलने लगी। फलस्वरूप चीनी की कीमत सिंडिकेट द्वारा निर्धारित कीमत से भी नीचे गिर गई। इस प्रकार जब यह उद्योग पतन की ओर जाने लगा, तब पुनः अगस्त, १६४० में दोनों प्रांतीय सरकारों ने सिंडिकेट को वैधानिक स्वीकृति दे दी। इस बार सरकारी नियंत्रण का क्षेत्र बहुत विस्तृत कर दिया गया। २५ अगस्त, १६४० को एक अध्यक्ष तथा दोनों प्रांतों के दो केन-कमिश्नरों को मिलाकर एक केन-कमीशन के द्वारा ईख की उपज तथा ईख और चीनी की कीमत आदि पर सरकारी नियंत्रण कार्यान्वित होता आ रहा है।

चीनी के अतिरिक्त उत्पादन को भार समझकर सरकार ने सन् १६४१-४२ के लिए उत्तर प्रदेश और बिहार के उत्पादन का कोटा

कमाकर ५ लाख ७५ हजार टन कर दिया। मगर सरकार ने यहाँ दूरदर्शिता से काम नहीं लिया। वह युद्ध-काल था। सन् १६४१ के मध्य तक जापान के साथ इस देश का व्यापारिक संबंध बिलकुल ढीला हो रहा था; फिर भी, उस समय हमारे शासकों के मस्तिष्क में यह बात नहीं घुसी कि भविष्य की संभावित कमी की पूर्त्ति के लिए चीनी का पर्याप्त अतिरिक्त स्टाक रखना अत्यंत आवश्यक है। आखिर ७ दिसंबर, १६४१ को जापान भी युद्ध-क्षेत्र में कूद ही पड़ा और इसी कारण प्रशांत द्वीपपुजों से चीनी का आयात असंभव हो गया। फलस्वरूप, सन् १६४२ में चीनी का अभाव बेतरह खटक उठा और कलकत्ता के बाजार में खुलेआम ३०) रुपये मन की दर से चीनी बिकने लगी।

चीनी की कीमत में कमी करने तथा यातायात के व्यय को घटाने की दृष्टि से भारत-सरकार ने २४ अप्रैल, १६४२ को चीनी के कंट्रोलर को यह अधिकार प्रदान किया कि वह रजिस्टर्ड डीलरों के लिए कारखानों से बाहर चीनी की कीमत निर्धारित कर दे तथा कारखानों के लिए भी वितरण का बाजार-क्षेत्र निश्चित कर दे। इस नियंत्रण से देश में सबसे बड़ा दोष यह था कि केवल कारखानों के लिए ही कीमत निर्धारित हुई। फलतः, कारखानों ने इससे अनुचित लाभ उठाना शुरू किया। कारखानों की ओर से अपने-अपने बाजार-क्षेत्र में बोगस या नकली फर्म स्थापित होने लगे और उन्हीं फर्मों के हाथ निर्धारित कीमत पर माल बिकने लगे। मगर साधारण बाजार में नियंत्रित मूल्य पर ही चीनी बेंचने की बाध्यता तो उन फर्मों को थी नहीं, इसलिए उनकी चीनी चोर-बाजार में पटने लगी। यह देख सरकार ने चीनी की बाजार-दर भी निर्धारित कर दी और यातायात में अनावश्यक व्यय को बचाने

के लिए यह भी निश्चित कर दिया कि कौन कारखाना किस बाजार-क्षेत्र में कितनी चीनी का प्रदाय करे। नियंत्रण की अन्तिम अवस्था तब आई, जबकि माँग पर भी नियंत्रण लादा गया और पहले शहरों में, पश्चात् देहाती-क्षेत्रों में भी चीनी की राशनिंग कर दी गई।

लेकिन, सन् १९४७ के अंतिम भाग में चीनी की राशनिंग तमाम उठा दी गई और नियंत्रण की बागडोर भी ढीली कर दी गई। कारखानों के मालिकों की यह शिकायत थी कि सरकार ने चीनी की जो कीमत निर्धारित की है, उस कीमत पर चीनी बेचने से कारखानों को कोई मुनाफा नहीं हो रहा है। ईख की दर में कमी करने से किसान इसकी खेती छोड़ सकते थे; क्योंकि तब खाद्यान्नों की ऊँची दर के लोभ में पड़कर किसान ईख के बदले गेहूँ और धान उपजाने में ही मुनाफे की अधिक गुंजाइश देखते। दूसरे, कारखानों के मजदूरों की मजदूरी भी कम नहीं की जा सकती थी। इन सब बातों को दृष्टि में रख कर सरकार ने कारखाने के मालिकों से समझौता कर लिया, जिसके अनुसार यह निश्चय हुआ कि ३५) रुपये प्रति मन की दर से चीनी कारखानों से बाहर होगी और बाजार में इसकी बिक्री पर किसी तरह का नियंत्रण नहीं रहेगा। इस उपाय से चोर-बाजारी तो रुक गई, मगर बाजार में एक रुपये से सत्रह आने सेर के हिसाब से आम तौर से चीनी बिकने लगी। यह दर उपभोक्ताओं की दृष्टि में ज्यादा ही थी। उनकी माँग हुई कि कीमत में और भी कमी की जाय।

उपभोक्ताओं की माँग को दृष्टि में रखकर सन् १९४८ के अन्त में सरकार ने कारखानों के मालिक से पुनः दूसरा समझौता किया। इसके अनुसार कारखानेवाले किसानों से दो रुपये मन

की जगह उत्तर प्रदेश में १ रुपये १० आने तथा बिहार में १ रुपये १३ आने मन की दर से ईख खरीदेंगे और वे ३५) रुपये की जगह २७) रु० १२ आने प्रति मन की दर से चीनी रजिस्टर्ड व्यापारियों के हाथ बेचेंगे। इस प्रकार अब रुपये-सत्रह आने की जगह तेरह-चौदह आने प्रति सेर के हिसाब से चीनी उपभोक्ताओं को मिलने लगी। सन् १९५१ में चीनी की बिक्री पर से नियंत्रण बिलकुल हटा लिया गया।

पहले बताया जा चुका है कि सन् १९३० में सरकार ने जो चीनी-समिति नियुक्त की थी उसने बताया था कि जब इस देश में दस लाख टन प्रति वर्ष चीनी तैयार होने लगेगी तब इस मामले में देश स्वावलम्बी हो जायगा। मगर अब दस लाख टन चीनी यहाँ तैयार होने लगी है; फिर भी गत कई वर्षों से यहाँ चीनी की खपत इतनी ज्यादा बढ़ गई है कि दस लाख टन चीनी अब पर्याप्त नहीं कही जा सकती है। अनुमान किया गया है कि सन् १९३९ में यहाँ चीनी की जितनी माँग थी, सन् १९४५ में उससे ५० प्रतिशत बढ़ गई है। इसलिए पुनः अनुमान किया गया कि अगर सन् १९५० तक चीनी का उत्पादन १६ लाख टन तक पहुँच जाय तो माँग की पूर्त्ति हो जाती है। साढ़े पन्द्रह लाख टन देश भर में खप जायेगी और पचास हजार टन निर्यात भी हो सकेगी। मगर सरकार ने चीनी की बढ़ती हुई खपत को दृष्टि में रखकर साढ़े पन्द्रह लाख टन को भी अप्रर्याप्त समझा और अन्दाज लगाया कि साढ़े अठारह लाख टन चीनी तैयार होने से सारे देश की माँग पूरी हो जा सकती है।

चीनी की बढ़ती हुई इस खपत के दृष्टिकोण से इसके उद्योग का विस्तार आवश्यक है। पन्द्रह वर्षों तक सरकारी संरक्षण में

रहने पर भी इस उद्योग का संतोषजनक विकास अब तक नहीं हो पाया है। अब तक इस उद्योग में कोई ३२ करोड़ रुपये की पूँजी लगी है ; दो करोड़ किसानों का इसमें स्वार्थ है तथा ३५०० शिक्षित तथा १ लाख ३० हजार मजदूर इससे जीविका पा रहे हैं। सोलह करोड़ रुपया सालाना आय का भी अनुमान किया गया है। लेकिन इस उद्योग को बढ़ाने के लिए सबसे पहली समस्या जमीन की है। हमारा देश खाद्यान्नों के मामले में भी स्वतः पर्याप्त नहीं है। इसलिए जितनी जमीन में ईख की खेती होती है, उससे अधिक जमीन का विस्तार करने से खाद्यान्नों में ही कमी होती जायगी। अतः, ईख की खेती के लिए जब अधिक जमीन मिलने की गुंजाइश नहीं है। अतएव, जमीन का विस्तार न कर पैदावार को बढ़ाने की चेष्टा हो तो यह समस्या हल हो सकती है।

सामुदायिक विकास योजना

इस आयोजन का उद्देश्य है—जनता अपनी समृद्धि और उन्नति के लिए एक व्यवस्था बनाये। जनता का रुझान नगरों और कुछ विदेश की ओर होने के कारण देहात अधिक पिछड़ गये थे, इसलिए इस कार्य-क्रम का सब दिशाओं में फैलना स्वाभाविक था।

निम्नलिखित परम-आवश्यक कार्य-क्रमों को कार्य में स्थान दिया गया है :—

(क) कृषि तथा उससे संबंधित कार्य :—(१) भूमि को उपजाऊ बनाना और सिंचाई के छोटे-छोटे कार्य। (२) अच्छे बीज, खेती की सुव्यवस्थित यंत्र-कला, पशु चिकित्सा, खेती के सुधरे हुए औजार, चीजों का क्रय-विक्रय, ऋण की सुविधा, पशु-पालन तथा

नस्ल सुधारने के केन्द्र, भूमि तथा खाद का अनुसंधान। (३) मीनाशयों, फलों और तरकारियों की खेती, बन लगाने का विकास और भोजन का सुधार।

(ख) यातायात :—सड़कों का प्रबन्ध, यातायात यंत्र, ट्रांसपोर्ट को उन्नत करना, जहाँ पशुओं का यातायात तथा अन्य कार्यों के लिए प्रयोग किया जाता है, वहाँ उस कार्य की उन्नति करना।

(ग) शिक्षा :—निःशुल्क, अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा, हाई और मिडल स्कूलों, सामाजिक शिक्षा और वाचनालयों का प्रबंध करना।

(घ) स्वास्थ्य :—सफाई और जन-स्वास्थ्य की व्यवस्था, रोगियों की चिकित्सा, बच्चा होने से पहले और बाद की देखभाल और दाइयों की व्यवस्था करना।

(ङ) प्रशिक्षण :—(१) विद्यमान कारीगरों के स्तर को नवकर अध्यापन द्वारा ऊँचा करना। (२) खेतिहरों, विस्तार कार्य-सहायकों, निरीक्षकों, कारीगरों, प्रबन्धकों, स्वास्थ्य-सम्बन्धी कार्य-कर्त्ताओं और अफसरों के प्रशिक्षण का प्रबन्ध करना।

(च) व्यवस्था प्रबन्ध :—देहाती प्रदेशों में बेरोजगारी को दूर करने के लिए सहायता देना तथा अधिक से अधिक व्यवसाय दिलाने के लिए :—(१) छोटे तथा मध्यम स्तर के घरेलू उद्योगों का विकास करना और (२) आयोजित वितरण, व्यापार, सहायक और कल्याण-सेवाओं द्वारा व्यवसाय दिलाने का प्रबन्ध करना।

(छ) गृह निर्माण :—देहाती तथा नागरिक प्रदेशों में मकानों की आधुनिक डिजाइन और नक्शे तैयार करना।

ज) लोक-कल्याण :—(१) स्थानीय कलाकारों की सुलभता और संस्कृति के अनुसार सामूहिक मनोरंजन की व्यवस्था करना, दिखा-सुना कर शिक्षा देना और मनोरंजन करना। (२) स्थानीय तथा अन्य मेलों का प्रबन्ध करना। (३) सहकारी-समितियों और

पंचायतों द्वारा जनता के आर्थिक तथा नागरिक आन्दोलनों का संगठन करना।

२ अक्तूबर, १६५२ को महात्मा गांधी के जन्म-दिन के अवसर पर ५५ सामूहिक विकास-योजनाएँ देहात को जीवन प्रदान करने के लिए आरम्भ की गईं। राष्ट्रपति ने इस व्यवस्था का उद्घाटन किया और प्रधान मंत्री ने दिल्ली के समीप एक योजना में सम्मिलित एक गाँव की सड़क बनाने के कार्य में मिट्टी की टोकरियाँ उठाईं। इस प्रकार यह कार्य आरम्भ हुआ। राज्यों के मुख्य मंत्री, मंत्रियों और प्रतिष्ठित लोगों ने सहयोग दिया और कटिबद्ध हो इस पवित्र कार्य में जुट गये। हमारे लज्जाशील और भीरु ग्रामीण तो पहले चकित हुए। उनके लिए यह एक असाधारण बात थी, परन्तु शीघ्र ही उन्होंने हाथ बटाना आरम्भ कर दिया। सड़कें बनने लगीं; नये स्कूल, सामूहिक केन्द्र और चिकित्सालय देखते ही देखते खड़े हो गये। स्थान-स्थान पर खेती-प्रदर्शन-फार्म, पशु-वंश-वृद्धि और बनावटी बीज बोने के केन्द्र, फलों और तरकारियों के बगीचे और फुलवारियाँ लगने लगीं।

ग्रामों में नये कुएँ बनाने, पुरानों की दशा सुधारने, नालियाँ बनाने के कार्य एक आन्दोलन का रूप धारण करते गये। ग्रामीण, जिनमें पुरुष और स्त्रियाँ, वृद्ध और युवा सभी सम्मिलित थे, समूहों में आ इस पवित्र कार्य में हाथ बँटाने लगे।

राष्ट्रीय विस्तार सेवा :—प्रथम ५५ योजनाओं के काम-काज के साथ कार्यक्रम को और फैलाने की आवश्यकता पड़ी। यह अनुभव किया गया कि लाभदायक बनाने के लिए इस कार्य-क्रम को अवश्यमेव समस्त देश पर लागू होना चाहिए। दूसरे यह कि वह शासन का एक अंग बन जाय। दोनों आवश्यकताओं को

पूरा करने के लिए भारत सरकार ने अक्तूबर, १६५३ में राष्ट्रीय विस्तार-सेवा आरम्भ की, जिसमें सामूहिक कार्य-क्रम को भी मिला दिया गया।

इस प्रकार अक्तूबर, १६५३ से ये दोनों कार्य-क्रम, सामूहिक योजना और राष्ट्रीय विस्तार-क्षेत्र, एक ही साथ कार्य कर रहे हैं। सर्वप्रथम प्रदेशों को राष्ट्रीय विस्तार-क्षेत्र के लिए चुना जाता है। इनमें से कुछ प्रदेशों को सामूहिक योजना में बताई गई बातों के बड़े स्तर पर उन्नति के लिए आंक लिया जाता है। इस प्रकार के चुनाव का प्रमाण यह है कि उस प्रदेश के लोग अपनी प्रसन्नता से कार्य करने के लिए कितनी अधिक संख्या में उत्साह के साथ आगे बढ़ते हैं।

वर्तमान लक्ष्य :—देश के कुल ग्रामीण जन-संख्या के एक चौथाई भाग पर दोनों कार्य-क्रम लागू हो जायँ, यही पहले आयोजन का ध्येय था। इस वर्ष अप्रैल तक अर्थात् कार्य-क्रम के आरम्भ होने के लगभग २½ वर्ष के भीतर ही ८२८ क्षेत्र, जिनमें लगभग ६६,२६२ ग्राम हैं और जिनकी जनसंख्या लगभग ६ करोड़ २२ लाख है, इस कार्य-क्रम में चुने गये। इनमें से ३२,६५७ ग्राम, जिनकी जन-संख्या २ करोड़ से अधिक है, सामूहिक कार्यक्रम के अधीन आते हैं और ४ करोड़ १८ लाख जनसंख्या के ६६३३५ ग्राम राष्ट्रीय विस्तार सेवा-कार्यक्रम के अधीन हैं।

इस प्रकार इन दोनों मिश्रित कार्यक्रमों से भारत के प्रत्येक पाँच ग्रामों में से एक ग्राम इससे पूरा-पूरा लाभ उठा रहा है।

यद्यपि देहाती कुल जनसंख्या का ¾ भाग इस कार्य-क्रम से बाहर है, फिर भी वर्तमान लक्ष्य कुछ कम आश्चर्यजनक नहीं। हमारा देश एक उपमहाद्वीप है और इसकी आर्थिक दशा ऐसी नहीं

कि उन्नति के कार्य की और अधिक बाट जोह सके। इसे अनुभव करते हुए भारत सरकार ने दूसरे पंचवर्षीय कार्य-क्रम के अन्त को अपना लक्ष्य माना है। उस समय तक सारे देश पर राष्ट्रीय विस्तार-सेवा कार्य लागू हो जायगा।

सिद्धियाँ :—सामूहिक कार्यक्रम का उद्देश्य ग्रामीणों में एक यथेष्ट दृष्टिकोण और एक ऐसी पहुँच उत्पन्न करना है, जिससे वे सरकारी सहायता से अपने ही प्रयत्नों द्वारा अपनी रहन-सहन के स्तर को ऊँचा तथा उत्तम बना सकें। इस कार्यक्रम को लागू करते समय जहाँ इस लक्ष्य को मुख्य रखा गया, वहाँ भौतिक सिद्धियों के लिए भी उतना ही प्रयत्न किया गया है ; क्योंकि काम के द्वारा ही भावना जाग्रत होती है। योजना के बहुत-से क्षेत्रों में असाधारण भौतिक उन्नति हुई है। इसमें उन्नति के सभी क्षेत्र खेती, पशु-उन्नति, भूमि को उपजाऊ बनाना, सिंचाई, शिक्षा, कला और शिल्प, घरेलू उद्योग, सहकारिता-आन्दोलन और यातायात सभी सम्मिलित हैं।

दिसम्बर, १६५४ तक योजनाओं पर सरकार का कुल व्यय १३ करोड़ ४८ लाख रुपया हुआ था और इन्हीं दिनों में जनता ने भूमि, धन तथा परिश्रम के रूप में ७ करोड़ ४८ लाख रुपये की सहायता की थी। इस प्रकार कुल सरकारी व्यय का लगभग ५५ प्रतिशत भाग जनता ने प्रसन्नता से सहायता के रूप में दिया। लोगों ने स्वतंत्र रूप से आगे बढ़कर जो सहायता की है, उससे उनका कार्यक्रम में उत्साह और विश्वास प्रकट होता है।

सेवा-नियोजन :—यद्यपि प्रसारित आर्थिक तथा सामाजिक नीति का एक भाग सभी देशवासियों को व्यवसाय दिलाने और उनकी स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिए इस नीति को लागू कर

निश्चित रूप से वर्षों तक चलाना है ; फिर भी, देहाती प्रदेशों में बेरोजगारी को दूर करने के लिए अनेक प्रकार की नौकरियाँ निकली हैं। आरम्भ में, योजनाओं के लिए बहुसंख्या में अनुभवी कर्मचारियों की आवश्यकता है। ये लोग योजना-अफसर, क्षेत्र-उन्नति-अफसर, ग्राम-सुधार का काम करनेवाले, सामाजिक शिक्षा-व्यवस्थापक एवं कृषि-विज्ञान, पशु-वंश-वृद्धि, स्वास्थ्य और इञ्जीनियरिंग के अध्यापक और विद्वान् आदि हैं। प्रथम पंचवर्षीय आयोजन के समय में योजनाओं के लिए कुल ८४,००० अनुभवी (विज्ञ) कार्यकर्त्ताओं की आवश्यकता पड़ी। दूसरे पंचवर्षीय आयोजन के समय, जब राष्ट्रीय विस्तार-सेवा के अधीन समस्त देश आ जायगा, ऐसे अनुभवी कार्यकर्त्ताओं की संख्या ३½ लाख के लगभग होगी। इसके अतिरिक्त घरेलू छोटे-छोटे धन्धे और ग्राम-दस्तकारियों में आर्थिक विकास की कार्यवाहियाँ बढ़ जायँगी।

प्रशिक्षण:—सामूहिक योजनाओं में जिन विशेष कार्यकर्त्ताओं की आवश्यकता पड़ती है, उनके लिए प्रशिक्षण-केन्द्र खोलना भी आवश्यक समझा गया। ऐसे कार्यकर्त्ताओं के प्रशिक्षण-केन्द्र देश के ५० विभिन्न स्थानों पर पहले ही खोले जा चुके हैं। इनमें ग्राम-सुधार का काम करनेवाले, जिन्हें देहातों में काम करना होता है ; सामाजिक शिक्षा का प्रबन्ध करनेवाले, जिन पर लोक-कल्याण राज्य के लिए जनता को उसके अधिकार और कर्त्तव्य की शिक्षा देने की जवाबदेही डाली गई है ; क्षेत्र-विस्तार-अधिकारी, जिन पर १०० देहातों की एक इकाई की शासन-सम्बंधी जिम्मेवारी का बोझ होता है, और खेती-बारी, स्वास्थ्य, सफाई आदि कार्यों में दूसरे प्रकार के सहायक व्यक्तियों को प्रशिक्षण प्रदान किया जायगा। ये केन्द्र स्थायी रूप से बनाये गये हैं

और भविष्य में ऐसे और केन्द्र भी खोले जायँगे जिनसे ठीक प्रकार के कार्यकर्त्ता तैयार किये जायँ, ताकि भारत का विकास-कार्य चलाया जा सके।

योजनाओं का खर्च :—तीन वर्षों के लिए एक सामूहिक विकास-क्षेत्र का कुल खर्च १५ लाख रुपया है, जिसका लगभग आधा भाग खेती-बाड़ी के कार्यों के लिए अन्तःकालीन ऋण देने पर व्यय होता है, शेष आधा धन सामूहिक योजना के कार्य-क्रम के विभिन्न भागों पर व्यय किया जाता है। इनमें पशु-वंश-वृद्धि, खेती-बारी में उन्नति, स्वास्थ्य और देहातों की सफाई, शिक्षा, सामाजिक शिक्षा, यातायात, देहाती कला, दस्तकारी और प्रबन्ध-कार्य सम्मिलित हैं।

एक राष्ट्रीय विस्तार-सेवा-क्षेत्र का व्यय कम होता है ; क्योंकि विस्तार-क्षेत्र का कार्यक्रम सामूहिक योजना-क्षेत्र के कार्य-क्रम से कम फैला हुआ होता है। एक विस्तार क्षेत्र का तीन वर्षों के लिए खर्च का चिट्ठा ७½ लाख रुपया होता है, जिसमें से ३ लाख रुपया कम समय के ऋण देने और १ लाख रुपया सिंचाई के छोटे-छोटे कामों के लिए अन्तःकालीन ऋण देने पर खर्च होता है। शेष ३½ लाख रुपया यातायात, कार्यालय के सामान, स्थानीय कार्यों, सामाजिक शिक्षा, स्कूलों, अस्पतालों आदि पर तथा प्रबन्ध कार्यों पर व्यय होता है।

आरम्भ से उन्नति :—अब जब कि उद्देश्य यह है कि दूसरे पंचवर्षीय आयोजन के अन्त तक समस्त देश में राष्ट्रीय विस्तार-सेवा छा जाये और आधे देश में सामूहिक विकास-कार्यक्रम का काम हो, सरकार इन दोनों कार्यक्रमों के अधीन एक विशेष आयोजन बनायगी जो सारे भारत की उन्नति का कार्यक्रम होगा। इन दोनों

कार्यक्रमों का घनिष्ट सम्बन्ध होगा और इनके मध्य में सरकार की पूरी मशीनरी इस सम्बन्ध को सुदृढ़ बनाने के लिए अपना घेरा डाले रहेगी।

इस प्रकार आरम्भ से उन्नति करना सम्भव होगा अर्थात् गाँव से आरम्भ होकर ऊपर की ओर उन्नति करना। क्योंकि गाँवों की पंचायतें अपनी उन्नति का आयोजन बनायँगी और गाँव के लोग उसका प्रयोग करके उन्हें कामयाब बनायँगे। इस प्रकार देहात से आरम्भ होकर केन्द्र तक हर प्रकार से निपुण आयोजन बनाना और उसे पूरा करना सम्भव होगा। जनता और उसके प्रतिनिधियों का योजना की प्रत्येक सीढ़ी पर का कार्यक्रम के साथ घनिष्ट सम्बन्ध उत्पन्न करेगा। सामूहिक योजना के लिए चिट्ठे में दिल खोलकर धन का प्रबन्ध किया गया है और उसी सम्बन्ध में राजकीय प्रबन्ध और यंत्र-कला-विज्ञता (टेकनिकल) के परामर्श द्वारा ग्रामीण केन्द्रों तथा उनके सदस्यों को पहली बार ऐसा अवसर मिल रहा है कि वह सरकार के कर्मचारियों और एक दूसरे के साथ मिलजुल कर, पूर्ण रूप से एक जान होकर, काम कर सकें।

संयुक्त राष्ट्रसंघ और यूनेस्को

यद्यपि संयुक्त राष्ट्रसंघ के शिक्षा विज्ञान एवं संस्कृति संघटन का जन्म संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना के बाद हुआ, पर इस तरह के संघटन की कल्पना पहले ही की जा चुकी थी। १९४२ में ६ मित्र-देशों के शिक्षा मन्त्री लन्दन में मिले और उन्होंने इस तरह के संघटन की सम्भावना पर विचार किया। काफी विचार-विनिमय

और लिखा-पढ़ी के बाद ब्रिटिश सरकार ने १६४५ के नवम्बर महीने में एक सम्मेलन बुलाया, जहाँ इसका संविधान बनाया गया और इसका नामकरण किया गया। यूनेस्को के उद्देश्यों और अन्य व्यावहारिक चीज़ों का निर्णय एक आयोग को सौंप दिया गया। ४ नवम्बर, १६४६ को यूनेस्को का जन्म हुआ और २० देश इसमें शामिल हुए। इन सदस्यों के हस्ताक्षरों के कागज ब्रिटिश सरकार के पास जमा हैं। १० साल बाद इसका ६वाँ साधारण अधिवेशन भारत सरकार के निमन्त्रण पर नवम्बर, १६५६ में, नयी दिल्ली में हुआ है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के घोषणापत्र के ५७ वें अनुच्छेद में इसके आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और शिक्षा तथा स्वास्थ्य-संबंधी अन्तर्राष्ट्रीय संघटन बनाने की व्यवस्था है।

यह ठीक है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ या इसकी विशेष संस्थाओं में सरकारें ही हिस्सा लेती हैं, किन्तु वास्तव में इन देशों की जनता ने ही इनके उद्देश्यों और सिद्धान्तों को अपनी स्वीकृति दी है। इसलिए ये सब संघटन जनता के प्रति ही उत्तरदायी हैं; सरकारें तो आती-जाती रहती हैं; पर जनता एक शाश्वत विभूति है, इस कारण इसका संरक्षण और समुत्कर्ष बहुत जरूरी है।

इन दस वर्षों में यूनेस्को का कार्य बहुत बड़े भौगोलिक क्षेत्र में ही नहीं, शिक्षा-विज्ञान और संस्कृति की अनेक दिशाओं में भी फैल गया है।

यूनेस्को का काम तीन प्रकार से होता है—साधारण अधिवेशन के जरिये, कार्यकारी-मण्डल के जरिये और सचिवालय के जरिये। १६५२ के पेरिस-अधिवेशन में यह तय किया गया कि साधारण अधिवेशन हर साल न होकर हर तीसरे साल हुआ करे। नवम्बर-

दिसम्बर, १९५४ का अधिवेशन मांटीवीडियो में हुआ था और दूसरा नवम्बर १९५६ में नयी दिल्ली में हुआ। आम अधिवेशन में संघटन की नीति और कार्य-सम्बन्धी मुख्य-मुख्य बातें तय होती हैं। कार्य-कारी-मण्डल साधारण अधिवेशन में निर्णयों पर अमल करता है। इसके अलावा आम अधिवेशन के लिए विषय-सूची तैयार करना, संघटन-कार्य की जाँच-पड़ताल करना, बजट तैयार करना आदि काम भी मण्डल को ही करने होते हैं। कार्यकारी मण्डल के पहले १८ सदस्य थे, पर बाद में इनकी संख्या २० हो गई। मण्डल के सदस्यों का चुनाव साधारण अधिवेशन के उपस्थित सदस्यों में से होता था। सदस्यों का कार्य-काल ३ साल होता था, जो तीन साल के लिए और बढ़ाया जा सकता था। पर इसके बाद कोई सदस्य कम-से-कम एक साल तक दुबारा नहीं चुना जा सकता। मांटीवीडिया-सम्मेलन में कार्यकारी-मण्डल के संघटन में परिवर्तन किया गया और अब इसकी सदस्य संख्या २२ हो गई है।

यूनेस्को का हृदय इसका सचिवालय है। वहीं से संघटन के सारे कामों का संचालन होता है। सचिवालय के प्रमुख इसके महानिर्देशक हैं, जिनका कार्यकाल ६ वर्ष का होता है। विश्व के कई योग्य व्यक्ति यूनेस्को के महानिर्देशक रह चुके हैं। पहले महानिर्देशक प्रोफेसर जूलियन हक्सले और दूसरे ब्राजिल के डाक्टर टारेस बोडे थे। इस समय डाक्टर लूथर ईवान्स इसके महानिर्देशक हैं। डाक्टर लूथर ईवान्स पहले अमरीकी कांग्रेस के पुस्तकालयाध्यक्ष थे। महा-निर्देशक के नीचे एक सहायक महानिर्देशक और कई निर्देशक काम करते हैं, जो संगठन के अलग-अलग विभागों की देखभाल करते हैं।

यूनेस्को की सफलता का सही मूल्यांकन करने के लिए यह समझ लेना बहुत जरूरी है कि इसका काम ऐसा है, जिसका

परिणाम तुरत नहीं निकल सकता। इसके सब काम ऐसे हैं, जिनका नतीजा काफी समय बाद निकलता है। शिक्षा के क्षेत्र में यूनेस्को का नया काम है, मौलिक शिक्षा केन्द्रों का आयोजन। ये केन्द्र दो तरह के हैं, एक राष्ट्रीय और दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय। अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र मैक्सिको और मिस्र में हैं। यहाँ अध्यापकों को इस कारण शिक्षा दी जाती है, कि वे न केवल पुस्तकीय ज्ञान विद्यार्थियों को दे सकें, बल्कि स्वास्थ्य और समाज-विज्ञान आदि विषयों में भी उनका मार्ग-दर्शन कर सकें। राष्ट्रीय केन्द्रों में भी प्रायः इसी प्रकार की शिक्षा दी जाती है। स्कूलों की पढ़ाई के सुधार करने में यूनेस्को बहुत रुचि ले रहा है।

संसार के उन देशों को, जहाँ विज्ञान की प्रगति नहीं हुई है, विज्ञान का लाभ पहुँचाने में यूनेस्को अद्वितीय कार्य कर रहा है। दक्षिण अमेरिका, दक्षिण एशिया, दक्षिण-पूर्व एशिया और मध्य-पूर्व में विज्ञान-सम्बन्धी सहयोग के लिए यूनेस्को ने कार्यालय स्थापित किये हैं। इन कार्यालयों के जरिये एक देश के वैज्ञानिक दूसरे देश के वैज्ञानिकों को नये-नये अनुसंधानों और आविष्कारों की जानकारी देते हैं और एक दूसरे से सलाह-मशविरा करते हैं। इतना ही नहीं, एक देश के वैज्ञानिक दूसरे देश में जाकर वहाँ के लोगों की सेवा करते हैं। अणु शक्ति के शांतिपूर्ण उपयोगों की खोज करने के लिए स्वीटजरलैंड में एक संस्थान की स्थापना का श्रेय यूनेस्को को ही है। यूनेस्को ने संयुक्तराष्ट्रसंघ और इसकी विशेष संस्थाओं को रेडियो-रश्मियों के प्रभाव का अध्ययन करने आदि के बारे में भी पूरा सहयोग दिया है।

एक और विश्वव्यापी समस्या का हल ढूंढने में यूनेस्को ने सहायता की है। यह समस्या है, रेगिस्तानों के विकास की। सब

देशों के वैज्ञानिकों को मिलाकर यूनेस्को ने रेगिस्तानों की विविध समस्याओं का अध्ययन करने का प्रयत्न किया है। इसी प्रकार समुद्रों के बारे में जानकारी प्राप्त करने में भी यूनेस्को का काफी हाथ है। भौतिक वर्ष के बारे में गवेषणा के लिए एक संघटन बनाना भी इसका उल्लेखनीय कार्य है। इस प्रकार विज्ञान के व्यापक क्षेत्र में यूनेस्को ने जो काम किया है, उसका परिणाम कुछ समय बाद सामने आयगा।

यूनेस्को ने कोलोन (पश्चिम जर्मनी) की अन्तर्राष्ट्रीय समाज-विज्ञान-परिषद् और समाज-विज्ञान-संस्थान को बहुत सहायता दी है। इसी प्रकार कलकत्ते में भी अन्तर्राष्ट्रीय समाज-विज्ञान केन्द्र की स्थापना की गई है। यह दक्षिण-पूर्व एशिया के लिए समाज-विज्ञान की गवेषणा का एकमात्र केन्द्र है।

इन केन्द्रों और समाज-विज्ञान-वेत्ताओं की सहायता से यूनेस्को दुनिया की जातियों और वर्गों में पाये जानेवाले तनाव और सद्भाव के कारण का अध्ययन करता है।

जातियों और जातियों के परस्पर सम्बन्धों के बारे में यूनेस्को ने कई अच्छे प्रकाशन निकाले हैं। शिल्प, विज्ञान और भारी उद्योगों के प्रादुर्भाव से सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा है, इसका भी यूनेस्को अध्ययन कर रहा है।

सांस्कृतिक क्षेत्र में भी यूनेस्को का योग कम महत्त्वपूर्ण नहीं। बहुत से सांस्कृतिक कार्यों में आज विश्व भर में लोगों की जो रुचि दिखाई देती है, उसका श्रेय यूनेस्को को ही है। इस क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय कापीराइट करार विशेष उल्लेखनीय है। इसी प्रकार युद्ध होने पर सांस्कृतिक महत्त्व की चीजों की रक्षा, भाँति-भाँति की सामग्री के छोटे-छोटे फिल्म उतार कर अदला-बदली और पुरातत्त्व

सामग्री के बारे में अन्तर्राष्ट्रीय नियमन की यूनेस्को व्यवस्था कर रहा है। इसी प्रकार पुस्तकालयों, संग्रहालयों और अनुवाद-कार्य को भी यह संघटन काफी बढ़ावा देता है। एक देश का ज्ञान उसकी सीमाओं को लांघकर दूसरे देश में पहुँचे, इसके लिए यूनेस्को बहुत से छात्रों, गवेषकों और अन्य व्यक्तियों को दूसरे देशों में अध्ययन करने के लिए वृत्तियाँ आदि देती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यूनेस्को हर प्रकार से मानव जाति की सेवा कर रहा है और संसार की जातियों के मनमुटाव और भेदभाव दूर कर उन्हें निकट लाने के लिए प्रयत्नशील है।

यूनेस्को का भविष्य निस्संदेह बहुत उज्ज्वल है। पर इसका भविष्य भी संयुक्तराष्ट्रसंघ से बँधा हुआ है। संयुक्त राष्ट्र-संघ और इसकी विशेष संस्थाओं में जो राजनीतिक खींचातानी दिखाई देती है, वह दुर्भाग्य से यूनेस्को के काम में भी होती रहती है। फिर भी, हमारा विश्वास है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ और इसके विभिन्न संघटनों के द्वारा विश्व को महायुद्ध के भय और यातनाओं से छुटकारा मिलेगा।

दशमिक प्रणाली क्या है ?

भारत ने नाप-तौल की दशमिक प्रणाली चालू करने का निश्चय किया है। यहाँ मन और सेर का प्राय: हर जगह रिवाज है। घर में आटा-दाल मन के हिसाब से आता है और दूध सेर के हिसाब से और सफर करते समय सामान मनों में तौला जाता है। पर देश भर में क्या सब जगह के मन और सेर एक-से होते हैं ? नहीं, यदि मद्रास में २४ तोले का सेर होता है तो मध्य प्रदेश में

४० तोले का, बम्बई में ८० तोले का। इतना ही नहीं, देश में ८ से ११२ तोले तक के सेरों का प्रचलन है। एक राज्य के जिले-जिले में और एक ही जिले के कई स्थानों में अलग-अलग वजन के सेर चलते हैं। इसी प्रकार मद्रास में 'मरक्काल' का चलन है। पर यह भी कहीं १२ 'पड़ी' का होता है, कहीं ८ का, और कहीं केवल ३ पड़ी का। दक्षिण में जमीन की नाप-जोख 'काणी' और 'बेली' में होती है और उत्तर में 'कट्ठे' या 'बीघे' में। 'एकड़' अपेक्षाकृत नयी चीज है। बिहार और बंगाल के बीघे में भी काफी अन्तर है। अनुमान है कि १५० से भी अधिक किस्मों के बटखरे और इतनी ही मापें देश में चल रही हैं।

तात्पर्य यह है कि नाप-तौल का कोई पैमाना ऐसा नहीं, जो देश भर में एक-सा हो। बम्बई के सिवा, जहाँ १६३६ में इस बारे में कानून बनाया जा चुका है, किसी एक राज्य में एक-सी नाप-तौल नहीं। इसका परिणाम यह होता है कि हर दूकानदार या खरीदार को माल खरीदते समय 'मन' या 'कंड़ी' का, अपनी स्थानीय तौल के अनुसार, हिसाब फैलाना पड़ता है और देखना होता है कि उसे लाभ होगा या घाटा। यह अच्छा-खासा सिर-दर्द है। भोला-भाला किसान, जो मंडी में अपना माल बेचने जाता है, इस झमेले को समझ ही नहीं सकता।

तरह-तरह के बाट-तराजू का इस्तेमाल करके व्यापारी और दूकानदार सीधे किसानों को खूब ठगते हैं। इन लोगों के माल खरीदने के बटखरे एक होते हैं और बेचने के दूसरे। नाप-तौल की इतनी विविधता से अनपढ़ किसानों को बहुत नुकसान होता है।

बाटों और भावों की इस विविधता से गाँववाले ही नहीं, शहर वाले भी कई बार चक्कर में पड़ जाते हैं। सोने या हीरे-जवाहरात की

खरीद में, ग्राहक को कभी यह विश्वास नहीं होता कि वह ठगा नहीं गया, क्योंकि तरह-तरह की तौल का घोटाला उसकी समझ के बाहर है।

इस गड़बड़ को दूर करने के लिए ही नाप-तौल की दशमिक या 'मीटर' प्रणाली शुरू की जा रही है। यह प्रणाली बहुत सरल और संसार भर में प्रचलित है। यदि मन सेर और पौंड तथा टन का देश भर में रिवाज होता तो किसी प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता नहीं होती। पर चूंकि इस तरह की कोई व्यवस्था नहीं, इसलिए भारत सरकार को इस बारे में विचार करना पड़ा और उसने दशमिक प्रणाली को चुना है।

दशमिक-प्रणाली आखिर है क्या? इसका अंग्रेजी नाम 'मीटरिक सिस्टम' है, जो अंग्रेजी के मीटर शब्द से बना है। मीटर लम्बाई का पैमाना है। वजन की माप 'किलोग्राम' है और परिमाण की 'लिटर'। हर पैमाने के हिस्से दहाई के हिसाब से चलते हैं, जैसे १,१०,१०० और १०००। उदाहरणार्थ, दशमिक या मीटर प्रणाली में ग्राम (१ ग्राम), डेका ग्राम (१० ग्राम), हेक्टो ग्राम (१०० ग्राम) और किलोग्राम (१,००० ग्राम) का क्रम होता है। एक चीज दूसरी का दस गुणा होती है या दसवा हिस्सा। यही सरलता इस प्रणाली की विशेषता है। १ मीटर बराबर १० डेसीमीटर, १ डेसीमीटर बराबर १० सेंटीमीटर और १ सेंटीमटर बराबर १० मिलीमीटर।

इसी प्रकार १ किलोग्राम बराबर १० हेक्टोग्राम, १ हेक्टोग्राम बराबर १०डेकाग्राम और १ डेकाग्राम बराबर १० ग्राम।

१ लिटर बराबर १० डेसीलिटर, १ डेसीलिटर बराबर १० सेंटीलिटर, १ सेंटीलिटर बराबर १० मिलीलिटर। वर्तमान बाटों और

मापों की बराबरी करें तो मोटे तौर से कहा जा सकता है कि मीटर गज के, किलोग्राम सेर के और लिटर सेर (द्रव्यों) के बराबर होता है।

अब इस दशमान प्रणाली की भारतीय या ब्रिटिश नाप-तौल से तुलना कीजिए।

५ तोला बराबर १ छटाँक, १६ छटाँक बराबर १ सेर, ५ सेर बराबर १ पंसेरी और ८ पंसेरी बराबर १ मन।

३ तोला बराबर १ पालम, ८ पालम बराबर १ सेर, ५ सेर बराबर १ पंसेरी और ८ पंसेरी बराबर १ मन।

१६ औंस बराबर १ पौंड, २८ पौंड बराबर १ क्वार्टर, ४ क्वार्टर बराबर १ हंडरवेट और २० हंडरवेट बराबर १ टन।

इस प्रकार हम देखते है कि इन संख्याओं में कोई समानता नहीं। कहीं ५, १६ और ४० का क्रम है तो कहीं ३,८,५,८ का और कहीं १६,२८,४,२० का। दशमिक प्रणाली की विशेषता है कि चाहे हम लम्बाई नापें चाहे वजन या परिणाम, हर पैमाने में दहाई का ही हिसाब होगा। एक मीटर बराबर है १० डेसीमीटर के, यानी १०० सेंटीमीटर यानी १००० मिलीमीटर के।

दस मूल संख्या है और हमारे हाथों में भी १० अंगुलियाँ होती है; इसलिए १० का या ५ का २ गुणा करने में कोई कठिनाई नहीं होती। किसी भी संख्या का दसवाँ या सौवा भाग करने में सही-बटे लिखने की जरूरत नहीं होती। जैसे, १·६ किलोग्राम को १६ हेक्टोग्राम भी लिखा जा सकता है, किन्तु १ मन ६ सेर को (४०+६) ४६ सेर लिखना पड़ेगा और कुछ क्षेत्रों में (८०+६) ८६ सेर। अंग्रेजी माप भी कुछ पेंचीदा नहीं, उसके अनुसार १ पौंड ६ औंस को (२८+६) ३४ औंस लिखना पड़ेगा।

ईसा की पहली शताब्दी में एक भारतीय गणितज्ञ ने दशमलव प्रणाली निकाली। अब इसे सारी दुनिया ने अपना लिया है। महान गणितज्ञ ला प्लासे ने कहा है—"दशमलव प्रणाली की सरलता के कारण हिसाब लगाना बहुत आसान हो गया है और गणित-शास्त्र प्रथम कोटि का आविष्कार बन गया है।"

जब दशमलव प्रणाली का व्यवहार नाप-तौल में भी होने लगा तब दशमिक प्रणाली का आविष्कार हुआ। यह प्रणाली अब संसार के तीन चौथाई भाग में प्रचलित है।

पिछले १०० वर्षों में ५८ देश दशमिक प्रणाली अपना चुके हैं। जिन देशों में अच्छी प्रणालियाँ थीं, वहाँ भी दशमिक प्रणाली अपना ली गई है और देशी प्रणालियाँ छोड़ दी गई हैं। देखना यह है कि इस प्रणाली में ऐसा क्या गुण है, जिसके कारण यह इतनी लोकप्रिय हो रही है।

४३२ की संख्या को हम चार सौ और तीस और दो मानते हैं। क्यों? परम्परानुसार हम समझते आ रहे हैं कि ४३२ में २ का मूल्य दो ही है परन्तु ३ का मूल्य तीस और चार का चार सौ है; क्योंकि ये संख्याएँ दाहिने से बायीं ओर दूसरे (दहाई) और तीसरे (सैकड़ा) स्थान पर है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि उनका मूल्य अपने 'स्थान' के कारण है। इस मान्यता को स्थान-मूल्य-प्रणाली कहते हैं। यह प्रणाली लगभग दो हजार वर्ष पहले भारत में आविष्कृत हुई थी। इस प्रणाली ने गणितशास्त्र में क्रांति पैदा कर दी।

किसी रकम के आगे, दशमलव चिह्न (·) लगाकर हम उससे छोटी रकम भी सूचित कर सकते हैं। जैसे—४३२·५। दशमलव-

चिह्न के आगे की संख्याएँ क्रमशः दसवाँ, सौवाँ, हजारवाँ भाग होती है। रुपये का उदाहरण लीजिए। १ रुपया = १०० सेंट (नया पैसा); ७ रुपये ३५ नये पैसे = ७३५ नये पैसे अथवा ७·३५ रुपया। यहाँ दशमलव से आगे ३५ की संख्या पैसे बताती है। आजकल ७ रुपये ३५ पैसे को ७ रु० ८ आ० ६ पा० लिखना पड़ता है।

दशमिक प्रणाली दशमलव प्रणाली से ही निकली है। इसलिए यह भारत के लिए नयी चीज नहीं है। 'शून्य' संख्या 'मानव को भारत की सबसे बड़ी देन' है।

राजाजी के शब्दों में यह उचित है कि भारत अपनी वर्तमान नाप-तौल की प्रणाली को अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक प्रणाली के आधार पर चलाये, जो कि वास्तव में उसकी अपनी ही दशमलव प्रणाली है।

यहाँ अगले दस सालों में भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में क्रमशः मीटर प्रणाली को अपनाया जायगा। रेलें पहले-पहल नये सिरे से अपने किराये-भाड़े का हिसाब लगायँगी और अपने कर्मचारियों को मीटर प्रणाली का इस्तेमाल सिखायँगी। दूसरे चरण में इसी हिसाब से किराया भाड़ा लिया जायगा और किराये और समय की सारिणियों में दोनों प्रणालियाँ दी जायँगी। तीसरे और अन्तिम चरण में नयी व्यवस्था, पुरानी व्यवस्था का पूरी तरह स्थान ले लेगी। डाक-तार विभाग और प्रतिरक्षा तथा सीमा-शुल्क विभाग भी क्रमशः नयी प्रणाली अपनायँगे। धीरे-धीरे नयी प्रणाली दैनिक व्यवहार में आने लगेगी।

हिंदी में निबंध-साहित्य

हिंदी पत्र-पत्रिकाओं के उद्भव के कारण जिस गद्य-शैली का सूत्रपात्र हुआ, उसे लेख या निबंध की संज्ञा मिली। यह निबंध गद्य का मुख्य अंग माना जाता है और इस साहित्य का विकास भी हिंदी पत्र-पत्रिकाओं की संख्या-वृद्धि के साथ होता गया।

निबंध-साहित्य के जन्मदाता भी भारतेंदु हरिश्चंद्र ही हैं। इन्होंने जो निबंध लिखे, वे अपने युग के सर्वश्रेष्ठ निबंधों में से हैं। अतएव, यह कहना भी युक्तिसंगत ही प्रतीत होता है कि भारतेंदु निबंध-साहित्य के मात्र जन्मदाता ही नहीं, बल्कि अपने युग के सर्वश्रेष्ठ निबंधकार भी हैं। भारतेंदु के बाद पं० बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र का नाम आता है। इनके निबंध क्रमशः 'हिंदी-प्रदीप' और 'ब्राह्मण' में छपा करते थे। इन्होंने अपनी शैली आप विकसित की। इनकी भाषा में यद्यपि प्रांतीय प्रयोग आ जाते थे; फिर भी, वह अर्थंकारों एवं काव्योपयोग प्रयोग से मुक्त है। प्रतापनारायण मिश्र ने हास्य-रस के निबंधों तथा व्यंग्यात्मक शैली का जन्म दिया। इनके लेखों में जो चुलबुलापन है, वह उसके पाठकों का ध्यान तो आकर्षित करता ही था; साथ ही, लेखक के व्यक्तित्व का भी प्रकाश करता था। मिश्रजी के 'दाँत', 'भौं', 'धोखा', 'बालक', 'पंचपरमेश्वर' आदि लेख हिंदी के निबंध-साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं।

भारतेंदु-युग के अन्य निबंधकारों में बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', स्वामी दयानंद, ज्वालाप्रसाद, तोताराम, अंबिकादत्त व्यास, राधाचरणदास गोस्वामी, रायकृष्णदास आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। निबंध-लेखन के क्षेत्र में इन लेखकों का प्रयास प्रारंभिक था, इसलिए आधुनिक निबंध के सभी गुण इनमें बीज रूप से ही मिलते हैं। प्रायः सभी ने अपने निबंध

के विषय जीवन के विविध क्षेत्रों से ही चुने हैं—धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा नैतिक समाज-सुधार की भावना ही इनमें प्रधान होती थी और हास्य, व्यंग्य-युक्त मार्मिक और ओजस्वी उक्तियों द्वारा इन निबंधों को रोचक तथा प्रभावोत्पादक बनाया जाता था। वास्तव में कुछ वैयक्तिक निबंधों को छोड़कर इस युग के लेखों तथा निबंधों में भेद करना कठिन है। जहाँ निबंधों ने शैलियों की सृष्टि की, वहाँ लेखों ने हिंदी-प्रसार और विचार-प्रसार का महत्त्वपूर्ण कार्य-संपादन किया। इस युग के लेखकों के निबंधों में हिंदू-सभ्यता और त्योहारों की अच्छी विवेचना रही। इनमें देश की भावनाओं एवं उमंगों की झलक मिलती है और ये अधिकांशतः भावात्मक और वर्णनात्मक होते थे। स्वामी दयानंद के लेखों और निबंधों में धार्मिक भावना के साथ-साथ सामाजिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह की भावना दृष्टिगोचर होती है।

उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में, हिंदी में निबंधों का एक छोटा-सा साहित्य तैयार हो गया था, जिसमें विषय की विभिन्नता के साथ-साथ लेखक के व्यक्तित्व की छाप भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगी। समाज के पर्व-त्योहार, सामाजिक कुरीतियाँ, नवीन और प्राचीन समाज पर व्यंग्य और आक्षेप, साहित्य के विभिन्न अंगों पर चमत्कृत उद्भावनाएँ, हल्के विचार आदि विशेषताएँ भारतेंदु के परवर्ती लेखकों के निबंधों में पाई जाती हैं, जिनका सूत्रपात भारतेंदु के साहित्य में ही हो चुका था।

लेकिन, बीसवीं शती के प्रारंभ होते ही हिंदी-साहित्य के क्षेत्र में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का अवतरण हुआ। इसी समय निबंधों में वैयक्तिता का ह्रास प्रारंभ हुआ। सन् १६०० में 'सरस्वती' का प्रकाशन प्रारंभ हुआ और सन् १६०३ में द्विवेदीजी ने उसके संपादन का भार ग्रहण किया। वे लिखने की सफलता इस बात में मानते थे कि गूढ़-से-गूढ़ विषय भी ऐसी सरल भाषा में व्यक्त किये जायँ कि साधारण-से-साधारण पाठक भी उन्हें सहज ही हृदयंगम कर सकें। इनके प्रायः सभी निबंध विचारात्मक श्रेणी के हैं, पर उनमें विचारों की वह गूढ़ परंपरा नहीं

मिलती, जिससे पाठकों की बुद्धि उत्तेजित होकर किसी पद्धति के पथ पर दौड़ पड़े। द्विवेदी-युग के अधिकांश लेखकों पर भाषा, शैली, वर्ग-विभाजन, सभी दृष्टियों से द्विवेदीजी का प्रभाव था।

द्विवेदी-युग के निबंधकारों में उनके अतिरिक्त निम्नलिखित लेखकों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—बालमुकुंद गुप्त, गोविंदनारायण मिश्र, माधवप्रसाद मिश्र, गोपालराम गहमरी, रामचंद्रशुक्ल, श्यामसुंदर दास, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, सरदार पूर्ण सिंह, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, सकलनारायण शर्मा, मिश्रबंधु, चंद्रशेखर शास्त्री, गुलाब राय आदि। इनमें द्विवेदीजी के बाद माधवप्रसाद मिश्र का नाम आता है। इनके निबंध अधिकांशतः भावात्मक होते थे ; भाषा गंभीर और शांत ; शैली धारावाहिक। इनमें भारत की प्राचीन संस्कृति की अधोगति एवं देशभक्ति की भावना पर्याप्त रूप में रहती थी। गोपालराम गहमरी ने उपन्यास के साथ-साथ निबंध-साहित्य की भी अभिवृद्धि की। इनकी भाषा चंचल, चटपटी और चोटीली होती है। इनके निबंधों में से 'ऋद्धि और सिद्धि' नामक निबंध सर्वश्रेष्ठ है। बालमुकुंद गुप्त कलकतिया दैनिक 'भारत-मित्र' के संपादक थे। 'गुप्त-निबंधावली' के नाम से इनका एक निबंध-संग्रह प्रकाशित हो चुका है। इन्होंने सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों पर आधारित अनेक प्रबंध लिखे हैं, जिनमें 'शिव-शंभु का चिट्ठा' अपना विशिष्ट स्थान रखता है। गुप्तजी की भाषा सजीव, विनोदपूर्ण, मुहावरेदार तथा चलती हुई होती थी।

गोविंदनारायण मिश्र ने बड़े ही पांडित्यपूर्ण निबंधों का सृजन किया। ये साधारण-से-साधारण विषयों को भी उच्च कोटि की भाषा में व्यक्त करने में सिद्धहस्त थे। ये संस्कृत-मिश्रित पंडिताऊ भाषा लिखने के पक्षपाती रहे और हिंदी में बाण और दंडी के आदर्श को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। सकलनारायण शर्मा, विजयानंद त्रिपाठी आदि कुछ निबंधकार इन के पक्ष के जबर्दस्त समर्थक थे। इनके अनन्तर इस क्षेत्र में एक जाज्वल्यमान नक्षत्र के रूप में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का

अवतरण हुआ, जिन्होंने इस क्षेत्र में बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य किया। हिंदी में गंभीर और विचारात्मक निबंध-साहित्य के उद्भव एवं विकास का श्रेय शुक्लजी को ही दिया जा सकता है। इनके लेखों का प्रथम संग्रह 'विचार-वीथी' के नाम से प्रकाशित हुआ। उसी का नवीन एवं परिवर्द्धित संस्करण 'चिंतामणि' के नाम से प्रख्यात है। शुक्लजी की निबंध-शैली में मस्तिष्क की गंभीर गुरुता के साथ-साथ सरस भावुकता के भी दर्शन होते हैं। इनके निबंधों में पूरी कसावट रहती है। भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का अधिक व्यवहार पाया जाता है; फिर भी, निबंधों में शब्दों का प्रयोग ऐसा चुस्त और कसा हुआ रहता है कि मालूम होता है, प्रत्येक शब्द की अपनी विशेषता है। कहीं-कहीं गंभीर हास्य की एक क्षीण रेखा-सी भी दिखाई पड़ती है। विचार-धारा शृंखलाबद्ध एवं युक्तिपूर्ण रहती है। इन्होंने समास शैली का प्रयोग विशेष रूप से किया है। कहीं-कहीं जीवन से दृष्टांत देकर और कहीं-कहीं मीठी चुटकियाँ भी लेकर शैली को सजीवता प्रदान की है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के बाद, इस क्षेत्र में, श्यामसुंदर दास एवं सरदार पूर्ण सिंह के नाम आते हैं। श्यामसुंदर दास ने हिंदी के प्राचीन कवियों के अनुसंधान तथा इतिहास आदि के संबंध में अधिकांश निबंध लिखे हैं। इन्होंने विचारात्मक एवं भावात्मक, दोनों प्रकार के लेख तो लिखे ही हैं; साथ ही, अनेक ऐसे विषयों पर भी निबंध लिखे हैं, जिनपर उस समय तक किसी ने प्रयास नहीं किया था। इनकी भाषा में अधिकांशतः तत्सम शब्दों का ही प्रयोग देखा जाता है और लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग भी कम ही पाया जाता है। सरदार पूर्ण सिंह के निबंध भावुकता-प्रधान हैं; मगर तह में गूढ़ विचार-धारा स्पष्टतः परिलक्षित होती है। इन्होंने जो कुछ लिखा है, जोरदार शब्दों में लिखा है। इनकी प्रांजल भाषा में तत्सम, तद्भव, देशज, परकीय सभी प्रकार के शब्दों की छटा देखने को मिलती है। उसमें कलात्मक प्रयास नहीं दिखाई पड़ता; सर्वत्र स्वाभाविकता का ही अटपटा सौंदर्य अभिलक्षित होता है। साथ

ही, उसमें उत्कृष्ट लाक्षणिक प्रयोग भी पाये जाते हैं। वस्तुतः सरदार पूर्ण सिंह ने भाषा और भाव की एक नई विभूति हिंदी साहित्य को प्रदान की है। उस समय पाश्चात्य जगत् के जीवन-क्षेत्र में अशांति-जन्य आध्यात्मिकता तथा किसानों एवं मजदूरों की क्रांति-भावना की जो आँधी प्रवाहित हुई, उसमें सरदार पूर्ण सिंह दूर तक बहे। 'आचरण की सभ्यता', 'मजदूरी और प्रेम' एवं 'सच्ची वीरता'—इन्होंने ये ही तीन निबंध प्रस्तुत किये हैं और इन तीन के ही कारण हिंदी के निबंध-साहित्य में इन्होंने अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया है। गुलाब राय का नाम भी इसी कोटि के निबंध-लेखकों में आता है। इन्होंने विचारात्मक और भावात्मक, दोनों प्रकार के लेख लिखे हैं। इनकी भाषा चलती हुई और मुहावरेदार है। कठिन-से-कठिन विषय को भी सरल-से-सरल भाषा में अभिव्यक्त करना इनकी विशेषता है।

हास्य-विनोदपूर्ण लेख लिखनेवालों में जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी का नाम लिया जाता है। इनके कई हास्यपूर्ण भाषण लेख के रूप में प्रकाशित भी हैं। 'अनुप्रास का अन्वेषण' आदि इनके कई लेख विशेष रूप से प्रख्यात हैं। सकलनारायण शर्मा के सांस्कृतिक एवं दार्शनिक निबंध बड़े उच्च कोटि के तथा पांडित्यपूर्ण हैं। साहित्याचार्य रामावतार शर्मा के दार्शनिक निबंध बड़े ही उत्कृष्ट एवं भावपूर्ण हैं। चंद्रशेखर शास्त्री के भी निबंध उत्कृष्ट उतरे हैं। चंद्रधर शर्मा गुलेरी ने अत्यंत मार्मिक एवं पांडित्यपूर्ण शैली में व्याकरण-जैसे नीरस विषयों के निबंधों को भी विनोद और आकर्षण से भर दिया है। इनकी शैली में जो अर्थ-गर्भित वक्रता है, वह बहुत कम लेखकों की शैली में मिलती है। अंबिकाप्रसाद वाजपेयी पुराने निबंधकारों में हैं, जो अबतक भी प्रायः सभी विषयों पर, विशेषकर राजनीतिक समस्याओं पर विचारात्मक निबंध लिखते आ रहे हैं। इनकी शैली सरल और सुबोध होती है।

वर्तमान युग में हिंदी में निबंध-साहित्य की बड़ी अभिवृद्धि हुई है। पत्र-पत्रिकाओं में तो प्रायः सभी विषयों के उच्चकोटि के निबंध निकलते ही

हैं ; साथ ही, पुस्तकों के रूप में भी निबंधों के प्रकाशन होने लगे हैं। वर्तमान युग के प्रौढ़ एवं गंभीर निबंधकारों में नंददुलारे बाजपेयी, हजारीप्रसाद द्विवेदी, शांतिप्रिय द्विवेदी, जैनेन्द्रकुमार, राहुल सांकृत्यायन, माचवे, नगेंद्र, सद्गुरुशरण अवस्थी, पदुमलाल पन्नालाल बख्शी, जगन्नाथप्रसाद मिश्र, शिवपूजन सहाय आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। हजारीप्रसाद द्विवेदी के निबंधों में एक विशिष्ट सांस्कृतिकता और शास्त्रीयता के साथ उनके विनोदपूर्ण व्यक्तित्व की झलक पाई जाती है। नगेंद्र के निबंधों में पाश्चात्य साहित्य का अनुशीलन मिलता है। जैनेंद्र के लेखों में विशेष व्यक्तित्व की झलक दीख पड़ती है। राहुल जी तो प्रायः सभी विषयों पर निबंध लिखते हैं और खूब लिखते हैं। जगन्नाथप्रसाद मिश्र भी प्रायः सभी विषयों पर लेख लिखा करते हैं। माचवे भावात्मक लेख लिखा करते हैं।

अन्य निबंधकारों में हरिभाऊ उपाध्याय, श्रीमती महादेवी वर्मा, अमरनाथ झा, रामविलास शर्मा, रामनाथ 'सुमन', वासुदेव नारायण उपाध्याय, वासुदेवशरण अग्रवाल, धीरेंद्र वर्मा आदि के नाम आते हैं। भाव-प्रधान गद्य-काव्य के लेखकों में रायकृष्ण दास, प्रबाल, वियोगी हरि, भँवर मल सिंघी आदि प्रख्यात हैं। इनमें वियोगी हरि की भाषा भावपूर्ण होने के साथ-साथ सरल और चलती हुई होती है। भावात्मक निबंध-लेखकों में शांतिप्रिय द्विवेदी का भी नाम लिया जाता है। भगवत शरण उपाध्याय और वासुदेवशरण अग्रवाल उच्चकोटि के सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक निबंध लिखते हैं। फूलदेव सहाय वर्मा, गोरखनाथ चौबे आदि वैज्ञानिक निबंधों के लेखक हैं।

सारांश यह कि अन्य क्षेत्रों की तरह निबंध के क्षेत्रों में भी हिंदी साहित्य प्रगति के पथ पर निरंतर अग्रसर होता जा रहा है। विषयों की विविधता के साथ-साथ शैली की भिन्नता भी बढ़ी है और हिंदी का निबंध-साहित्य उत्तरोत्तर उन्नति की ओर ही बढ़ रहा है।

★

भारत का नया नकशा

'एक नवंबर, सन् उन्नीस सौ छप्पन ईस्वी'—यह तिथि भारत के आज तक के इतिहास में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तिथि के रूप में स्मरणीय रहेगी। हाँ, उसी दिन भारत का नया नकशा, विराट पुरुष के रूप में, विश्व के परदे पर सहसा चमक उठा। वस्तुतः भारत के राज्यों का यह पुनर्संगठन संसार की लोकतंत्रीय शासन-व्यवस्थाओं के इतिहास में एक अभूत-पूर्व घटना है। आज तक विश्व के किसी भी शक्तिशाली तथा विशाल देश ने अपने छोटे-बड़े राज्यों को संगठन तथा ऐक्य के इस प्रकार के सुदृढ़ सूत्र में आबद्ध करने का साहस नहीं किया था।

सन् १९४७ में भारत विदेशी शासन के पंजे से सर्वथा विमुक्त हो गया। उसके बाद ही, लौह-पुरुष सरदार पटेल ने, अपने अथक प्रयत्न से, देश के अंतर्गत अनेक छोटी-बड़ी देशी रियासतों का विलनीकरण कर राष्ट्रीय भारत का जो नकशा प्रस्तुत किया था, वह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं था। भारत के नए नकशे की भूमिका था देशी रियासतों का वह विलियन! उस घटना को रक्तहीन क्रांति कहा गया है और उसका दृष्टांत भी विश्व के इतिहास में अभूतपूर्व ही रहा।

लेकिन, देशी रियासतों के विलनीकरण के बाद भारतीय शासन का जो लोकतंत्रीय ढाँचा प्रस्तुत हुआ, उसमें पुरानी शासन-पद्धति के कुछ विकार रह गये। भारत की कोई इकाई तो बहुत बड़ी हो गई और कोई अत्यंत छोटी। इसके अतिरिक्त लगभग एक शती से विभिन्न प्रांतीय एवं क्षेतीय भाषाओं का जो विकास होता रहा, उसके प्रभाव से विभिन्न भाषा-भाषियों के मध्य भाषाधार राज्यों की माँग की भावना ने प्रबल रूप धारण कर लिया। लेकिन, इसके विपरीत, राष्ट्रीय आयोजन की दृष्टि से—देश के संपूर्ण साधनों के समुचित उपयोग की दृष्टि से—राज्यों के इस प्रकार के

पुनर्संघटन की आवश्यकता समझी जाने लगी, जिससे कि संपूर्ण राष्ट्र आर्थिक प्रगति के पथ पर अग्रसर हो सके। अतएव, राज्यों के पुनसघटन की समस्या का निरपेक्ष भाव से समाधान करना था, जिससे कि संपूर्ण राष्ट्र की प्रगति के साथ-साथ प्रत्येक इकाई की आर्थिक दशा भी सुदृढ़ बन सके। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखकर राज्यों का पुनर्संघटन नए सिरे से किया गया।

स्वतंत्रता-प्राति के पूर्व प्रायः पचास वर्षों से राज्यों के पुनर्संघटन की माँग चली आ रही थी; लेकिन उस समय की माँग केवल भाषाधार प्रांतों के निर्माण तक ही सीमित थी। सन् १६२० में राष्ट्रीय कांग्रेस ने भी अपने नागपुर-अधिवेशन में भाषाधार राज्यों के संगठन को अपना एक राजनीतिक लक्ष्य घोषित किया और सन् १६४८ तक वह इसी सिद्धांत के पक्ष में रही। पश्चात् संविधान-सभा ने इसके लिए 'दर-आयोग' नियुक्त किया, जिसने अपनी रिपोर्ट में कहा कि राज्यों को पुनर्संघटित करते समय उनकी प्रशासनिक सुविधा की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया जाय। और, 'दर-आयोग' के ही सुझाव पर पुनर्विचार करने के लिए राष्ट्रीय कांग्रेस न अपने जयपुर-अधिवेशन में 'जे० वी० पी० समिति' नियुक्त की, जिसने भाषाधार राज्यों के निर्माण के दृष्टिकोण के विरुद्ध चेतावनी दी। और, तभी से इस दृष्टिकोण में निश्चित रूप से क्रमिक परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगा। अधिकांश राजनेता इस पक्ष के समर्थक हुए कि राज्यों के पुनर्संघटन के प्रश्न पर विचार करते समय देश की एकता एवं सुरक्षा, सांस्कृतिक एवं भाषाजन्य संबंध, प्रशासनिक सुविधा, आर्थिक स्थिति तथा राष्ट्रीय आयोजन के अंतर्गत आर्थिक प्रगति को विशेष रूप से ध्यान में रखना चाहिए।

फलतः, भारत सरकार ने २६ दिसंबर, सन् १६५३ को राज्य-पुनर्संघटन-आयोग नियुक्त किया, उसके समक्ष यही विचारणीय विषय रखे गये। सैयद फजलअली उसके अध्यक्ष और हृदयनाथ कुंजरू तथा कवलम् माधव पणिक्कर सदस्य नियुक्त हुए। इस आयोग ने देश के १०४ स्थानों का दौरा किया; ६,००० से भी अधिक सार्वजनिक व्यक्तियों से परामर्श किया

एवं विभिन्न विचारों के लोगों, दलों तथा संस्थाओं द्वारा प्रेषित १,५२,२५० स्मृति-पत्रों पर विचार किया।

अंत में, ३० सितंबर, सन् १९५५ को आयोग ने अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। १० अक्तूबर, १९५५ को लोगों की राय जानने के लिए आयोग का प्रतिवेदन प्रकाशित किया गया। यद्यपि यह प्रतिवेदन तथा इसकी सिफारिशें एक उच्चाधिकार-प्राप्त आयोग की थीं, जो विविध पहलुओं पर विस्तार से विचार करने के बाद प्रस्तुत की गई थीं, तथापि कुछ मामले विवादग्रस्त तथा लोगों के भावों को भड़कानेवाले थे। इसी हेतु भारत सरकार ने अंतिम निर्णय लेने के पहले देशवासियों को अपनी सम्मति प्रकट करने का पर्याप्त अवसर दिया। यद्यपि वैधानिक दृष्टि से यह आवश्यक नहीं था; फिर भी, इस प्रतिवेदन को भारत के सभी राज्यों के विधान-मंडलों के पास विचारार्थ भेजा गया। पुनः भारतीय संसद् ने भी इस पर विस्तार के साथ विवाद किया; लोक-सभा में साढ़े पचपन घंटे तथा राज्य-सभा में इकतालिस घंटे तक इस प्रतिवेदन पर विचार-विनिमय हुआ, जिसमें कुल मिलाकर २४४ सदस्यों ने भाग लिया।

भारत सरकार ने १६ जनवरी, १९५६ को आयोग की अधिकांश सिफारिशों पर अपने निर्णय दे दिये। निर्णय लेते समय सरकार ने सामान्यतः आयोग की सिफारिशों पर ही चलने का प्रयत्न किया। उनमें फेर-बदल तभी किया गया, जब लोगों की इच्छाओं या संबद्ध दलों के के आपसी समझौतों के कारण वैसा करना आवश्यक समझा गया। इन निर्णयों के आधार पर तीन विधेयकों के प्रारूप संबद्ध राज्यों की विधान-सभाओं में विचारार्थ भेजे गये और संसद् में भी उपस्थित किये गये। अगस्त तथा सितंबर, १९५६ में संसद् ने उन्हें पारित कर दिया और १ नवंबर, सन् १९५६ से जो राज्य-पुनर्संघटन-योजना कार्यान्वित हुई, वह तीन अधिनियमों के अनुसार है—सन् १९५६ का राज्य-पुनर्संघटन-अधिनियम; सन् १९५६ का बिहार और पश्चिम बंगाल क्षेत्रीय हस्तांतरण-अधिनियम और सन् १९५६ का संविधान (सातवाँ संशोधन) अधिनियम।

इसी योजना के कार्यान्वयन के फलस्वरूप, १ नवंबर, सन् १६५६ ई० को भारत का नया नकशा हमारे संमुख आया। और, उसी दिन से भारत के प्रशासनिक इतिहास में एक शानदार नया अध्याय प्रारंभ होता है, जबकि भाग 'क' के १०, भाग 'ख' के ८ तथा भाग 'ग' के १० राज्यों एवं भाग 'घ' के एक क्षेत्र द्वारा संघटित २६ इकाइयों के भारतीय संघ का पुनर्संघटन होकर कुल बीस इकाइयाँ बन गईं, जिनमें चौदह राज्य रहे और छः केंद्र द्वारा शासित क्षेत्र। क, ख, ग श्रेणियों के रूप में राज्यों के विषम वर्गीकरण का अंत हो गया तथा राजप्रमुखों के पद भी मिटा दिये गये। साथ-साथ देश के विभिन्न भागों से राजाओं के वंशानुगत शासन की अंतिम निशानी भी सदा के लिए मिटा दी गई। इस परिवर्तन के परिणाम-स्वरूप अनेक ऐतिहासिक दृश्य ओझल हो गये और सुदृढ़ राष्ट्रीयता की पृष्ठभूमि पर, देश के विकास के लिए, एक नवीन एवं प्रशस्त प्रगति-पथ प्रस्तुत हो गया।

निजाम हैदराबाद, जो भारत के अतीत के इतिहास में, न जाने, कितनी ही घटनाओं का केंद्र रहा और स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद ही जिसने मुख्य रूप से लोगों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर रखा था, अब कोई राजनीतिक इकाई नहीं रह गया। मैसूर राज्य का नाम तो रह गया लेकिन वृहत्तर कर्नाटक राज्य के रूप में रहा, जिसमें भूतपूर्व बंबई राज्य, हैदराबाद, आंध्र और मद्रास राज्य के कन्नड़-भाषी क्षेत्र सम्मिलित कर दिये गये हैं। मैसूर के महाराज का संबंध इस राज्य के साथ बना रहेगा, लेकिन राजप्रमुख के रूप में नहीं, राज्यपाल के रूप में। पुनर्संघटित नवीन राज्य मुख्यतः एक-भाषी ढंग के हैं; लेकिन इसके दो अपवाद हैं—बंबई और पंजाब। ये दोनों द्विभाषी राज्य बने हैं। आसाम, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश तथा जम्मू-काश्मीर राज्यों की सीमाओं में कोई परिवर्तन नहीं किया गया है। 'केरल' नामक एक नया राज्य भी परदे पर आया है। हैदराबाद के अधिकांश भाग को समन्वित कर विस्तृत आंध्र राज्य का

निर्माण हुआ, जिसका नाम आंध्र रखा गया। सभी राज्यों के अलग-अलग क्षेत्रफल तथा जन-संख्या का विवरण यों है—

राज्यों के नाम	जन-संख्या	क्षेत्रफल
आंध्र	३,१२,६०,०००	१,०५,९५३ वर्गमील
बंबई	४,८०,००,०००	१,९०,९१९ "
केरल	१,३५,५०,०००	१५,०३५ "
मध्यप्रदेश	२,६०,००,०००	१,७१,२०१ "
मद्रास	३,००,००,०००	५०,११० "
पंजाब	१,६०,००,०००	४७,४५६ "
मैसूर	१,९०,००,०००	७४,३२६ "
बिहार	३,८८,२०,०००	६७,३०० "
पश्चिम बंगाल	२,६२,५०,०००	३३,८०५ "
राजस्थान	१,५९,७०,०००	१,३२,०७८ "
उत्तर प्रदेश	६,३२,००,०००	१,१३,४१० "
आसाम	९०,००,०००	८४,९२४ "
उड़ीसा	१,४८,६०,०००	६०,१४० "
जम्मू-कश्मीर	४४,००,०००	९२,७८० "

इनके अतिरिक्त केंद्र-शासित क्षेत्र निम्नलिखित हैं—(१) मणिपुर, (२) त्रिपुरा, (३) दिल्ली, (४) हिमाचल प्रदेश, (५) अंडमान-निकोबार द्वीपपुंज और (६) लक्का दीव, मिनीकोय और अमीनदीव द्वीपपुंज।

बिहार की मानभूमि जिले को ११ लाख ६६ हजार जनसंख्या की २४०७ वर्गमील भूमि तथा पूर्णियाँ जिले से २ लाख ७७ हजार जन-संख्या की ७५९ वर्गमील भूमि पश्चिम बंगाल में मिलाई गई है।

★

खनिज तेल का महत्त्व

खनिज तेल अपरिपक्व पदार्थों में सर्वाधिक बहुमुखी पदार्थ है। इसकी विश्वजनीन उपयोगिता सर्व-विदित है। असीम कार्यों में असीमित रूप से इसका उपयोग होता है। और, सबसे कौतूहल की बात तो यह है कि जिस खनिज तेल को हमने आधुनिक युग के औद्योगिक विकास के सर्वश्रेष्ठ साधनों में प्रमुख स्थान दे रखा है, उसका सृजन करोड़ों वर्ष पूर्व ही हो चुका था।

हाँ, करोड़ों वर्ष पूर्व, पृथिवी के निर्माण-काल में ही, समुद्रों के छिछले एवं गर्म तल सूक्ष्मतम जल-जीवों से संकुल थे। क्रम-क्रम से वे निर्जीव होते गये और उनके अवशेष तलों में जाकर बैठ गये। कालांतर में, ये असंख्य सूक्ष्मतम अवशेष ज्वारों तथा प्रवाहों के चपेटों में पड़कर समुद्र-तलों के गंभीर गर्त्तों में जा पहुँचे और स्थल-भाग से जो रेत, मिट्टी आदि बह कर वहाँ पहुँचे, उन्होंने उन अवशेषों को पूर्णरूपेण ढँक लिया। पश्चात् रेतीली मिट्टी के पुंज के नीचे, यथा-परिमाण ताप एवं दबाव प्राप्त कर, वे अवशेष तरल पदार्थ के रूप में परिवर्तित होकर, छिद्रमय चट्टानों में उसी प्रकार समा गये, जिस प्रकार पानी स्पंज में समा जाता है। ज्यों-ज्यों पृथिवी का ताप घटता गया और यह ठंढी होती गई, त्यों-त्यों यह सिकुड़ती गई और इसकी सतह ऊबड़-खाबड़ होती गई ; जहाँ-तहाँ दरारें फटती गईं। और, कालांतर में, पृथिवी के विकास-क्रम में, प्राचीनतम समुद्र-तल जल से ऊपर आकर पहाड़ों तथा पहाड़ियों के रूप में पृथिवी के वक्षस्थल पर स्थायी रूप से जम गये। फलतः, सूक्ष्मतम सामुद्रिक जीवों के अवशेषों से बने तरल पदार्थ का अधिकांश इन्हीं पहाड़-पहाड़ियों की चट्टानों में फँस गया और जहाँ-तहाँ सतह पर भी ढरकता पाया गया। इसी तरल पदार्थ को आज हम 'खनिज तेल' कहते हैं।

इस प्रकार तेल का इतिहास उतना ही प्राचीन है, जितना इस पृथिवी के निर्माण का। कहते हैं, नोह ने अपनी नौका के तख्तों को जिस राल से साटा था, वह इसी तरह का तरल खनिज द्रव्य था। प्राचीन मिस्र के निवासी अपने रथों के चक्कों को तुलाने के लिए गाढ़े खनिज तेल को ही काम में लाते थे। अमेरिका के रेड इंडियन अपने शरीर की पीड़ा दूर करने के लिए खनिज तेल की मालिश करते थे। चूँकि यह तेल चट्टानों से प्राप्त होता है; इसलिए भारतीय इसे मिट्टी का तेल कहते हैं और रोमनों ने इसका नाम रखा 'पेट्रोलियम'—'पेट्रो' का अर्थ है चट्टान और 'ओलियम' का अर्थ है आयल (तेल)।

मिट्टी के तेल का बहुत ही थोड़ा भाग आपसे आप पृथिवी की सतह पर ढरकता हुआ पाया जाता है। इस तरल स्वर्ण का अधिकांश भाग तो वर्फ की चट्टान की तरह पृथिवी के गंभीर गर्भ में छिपा रहता है। यह पृथिवी के अनेकानेक भागों में, विस्तृत रूप से, गर्भांक में फैला हुआ है और अनेक देशों में पाया जाता है; यथा, उत्तर एवं दक्षिण अमेरिका में, रूस में, मध्य यूरोप में, मध्य एशिया में, अरबिया के रेतीले भू-भाग में, बर्मा में, कहीं-कहीं भारत में भी। इस प्रकार करोड़ों वर्ष पूर्व जो खनिज तेल के झरने चट्टानों में फँस गये थे, वे ही आज तेल के वृहत् भंडार के रूप में परिवर्तित होकर हमारे आकर्षण की वस्तु बन रहे हैं।

आज के वैज्ञानिक युग में पृथिवी के गर्भ में छिपे हुए तेल-भंडारों का पता लगाना आसान हो गया है। भूगर्भ-शास्त्र के विशेषज्ञ वैज्ञानिक यंत्रों के सहारे पृथिवी के निम्नतल की वस्तुओं का पता लगाते हैं। वे चट्टान के टुकड़ों का अध्ययन करते और उनके कणों की जाँच करते हैं। यदि उन्हें यह आभास मिल जाता है कि इन कणों में उन सूक्ष्मतम जीवाणुओं के अवशेष के चिह्न हैं, जिनसे खनिज तेल बनता है, तो समझ जाते हैं कि ऐसी चट्टान के नीचे तेल का भंडार है।

भूगर्भ-शास्त्रियों द्वारा स्थान का पता लगाये जाने के बाद भूगर्भ-स्थित पदार्थों के ज्ञाता भूकंप-मापक यंत्र के द्वारा चट्टान की तहों की

जाँच करते हैं। पश्चात् चट्टान में पृथिवी-स्थित लोहे के प्रभाव, विभिन्न प्रकारों की चट्टान की गुरुत्वाकर्षण-जनित-कंपन-गति, विद्युत-चाप आदि की जाँच करते हैं। अंत में, विशेषज्ञ परामर्श देते हैं कि अमुक स्थान पर ड्रीलिंग करने से तेल का झरना मिल सकता है। लेकिन, वे भी निश्चित रूप से निश्चित स्थल पर तेल निकलेगा—इसकी गारंटी नहीं दे सकते। अधिक-से-अधिक वे इतना ही कह सकते हैं कि यहाँ तेल होने की बहुत अधिक संभावना है। ड्रीलिंग या छेदन-क्रिया ही वास्तविक प्रमाण दे सकती है।

प्राचीन काल में, खनिज तेल स्वाभाविक सोतों और तेल के झरनों से संग्रह किया जाता था। पश्चात् तेल-कूप खोदे जाने लगे और बाल्टियों के सहारे तेल ऊपर निकाला जाने लगा। इसके बाद जिस प्रकार कोयला खानों से निकाला जाता है, उसी प्रकार छिछले 'शाफ्ट' खोदे जाने लगे और मजदूरों की पीठ पर तेल के भरे पीपे ऊपर लाये जाने लगे। सन् १८५९ में एडविन नामक एक साहसी अमरीकी ने काठ का एक भार ऊपर उठाने का यंत्र (डेरिक) बनाया और तेल निकालने के लिए ड्रीलिंग का काम शुरू किया। लेकिन, लगातार दो महीनों तक ड्रीलिंग करने पर भी वह लगभग सत्तर फुट की ही गहराई तक डेरिक को पहुँचा सका। यही पहला तेल-कूप था, जो ड्रीलिंग के सहारे प्रस्तुत किया गया था। आज तो चार मीलों से भी अधिक गहराई तक तेल-कूपों की ड्रीलिंग की जा रही है और भार उठाने के यंत्र बीस-महले मकान की ऊँचाई तक पहुँचाये जाने लगे हैं।

जब कोई नया कूप खोदा जाता है, तब चक्करदार विशाल बरमे से जमीन में क्रम-क्रम से अत्यंत गहराई तक छिद्र बनाया जाता है। धीरे-धीरे छेद गहरा होता जाता है। अंत में, बरमा तेल से भींगे हुए बालू के अंतस्तल तक पहुँच जाता है और तेल-कूप मिल जाता है। लेकिन, बीसियों स्थानों पर इस प्रकार के प्रयास से एकाध स्थान पर ही सफलता मिलती है। तेल-कूप मिल जाने पर भी यदि वह छोटा-सा तेल-क्षेत्र साबित हुआ तो विशेष लाभ की आशा नहीं रहती। हाँ, यदि विशाल तेल-भंडार की प्राप्ति हो गई तो फिर क्या कहना है! अतएव, इस प्रकार

की अटकलबाजी के प्रयास में बेशुमार व्यय करना पड़ता है। दस हजार फुट की गहराई तक तेल-कूप की छेदन-क्रिया में १० लाख से ५० लाख रुपये तक भी खर्च पड़ सकता है।

अंतत्तोगत्वा, जब तेल मिल जाता है, तब भार उठानेवाले डेरिक यंत्र के साथ पाइपों को भी नीचे तक पहुँचाया जाता है, जो भीतर तेल के प्रवाह को नियंत्रित कर ऊपर उठाने में सहायक होती हैं। लेकिन, जो तेल बाहर निकाला जाता है, वह गदले और क्रूड हालत में रहता है, वह बिलकुल कच्चा माल होता है। उसे प्रयोग में लाने के पहले अनेक प्रकार की क्रियाएँ करनी पड़ती हैं, जिन्हें सामूहिक रूप से परिष्कृत-करण प्रक्रिया कह सकते हैं। गदला तेल विभिन्न प्रकार के अणुओं से निर्मित एक रासायनिक घोल है। परिष्करण की पहली प्रक्रिया है अभिस्रावण, जिसके द्वारा आकृति और तौल के अनुसार इन्हीं अणुओं को पृथक् किया जाता है। भट्ठी में खौलता हुआ गदला तेल प्रभागी-करण टावर में पहुँचता है, जहाँ वह वाष्प रूप में दमकने लगता है। वह वाष्प टावर में उठता है और सपाट कड़ाहों या छिछले थालों में आकर जम जाता है। कड़ाहों का निम्न भाग अत्यधिक गर्म रहता है और ऊपर का भाग अत्यधिक ठंढा। उष्णतम भाग में जमनवाले भारी तेल का वाष्प तरल रूप धारण करता है, जबकि शीतलतम भाग में पेट्रोल और किरासन का वाष्प तरल होता जाता है।

इस प्रकार अभिस्रावण-प्रक्रिया या 'डिसटिलेशन' से गदला तेल स्वच्छ होकर कई भागों में परिष्कृत होता जाता है—यथा, जलावन का तेल, पेट्रोल, किरासन आदि। लेकिन, एक दूसरी प्रक्रिया भी है, जिसके द्वारा गदले तेल से अधिक-से-अधिक पेट्रोल खींचा जाता है। इस प्रक्रिया को 'क्रैकिंग' कहते हैं। इसके द्वारा बड़े-बड़ अणुओं को तोड़कर छोटे-छोटे अणुओं में परिणत किया जाता है और ऐसा करने से कुछ इस तरह का रासायनिक परिवर्तन हो जाता है कि अधिक-से-अधिक अच्छी किस्म का पेट्रोल क्रुड तेल से खींचा जा सकता है।

आज तेल सर्वत्र है, बहुमुखी है। यह भू-मार्ग पर है; जल-मार्ग पर है; आकाश-पथ पर है। यह तरल जलावन है, प्रकाश का दाता है; यह मशीनों को चलाता है; चक्कों को घुमाता है। यह ऐसा जलावन है, जो विश्व को गतिशील बनाये हुए है। यह हमें भोजन भी देता है। हाँ, संसार की अधिकांश खाद्य-सामग्री तेल-चालित मशीनों के ही सहारे उपजाई जाती है, विश्व के कोने-कोने में पहुँचाई जाती है। जमीन को उपजाऊ बनानेवाली रासायनिक खादें भी इसी तेल से निर्मित होती हैं। प्राचीन युग में 'चट्टान-तेल' को सब से उत्तम औषधि माना जाता था; आज भी औषधियों में 'खनिज-तेल' का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'खनिज-तेल' भी तो आखिर उसी 'चट्टान-तेल' का आधुनिक परिष्कृत रूप है। कोल्ड क्रीम, लिपस्टिक, सेंट, पाउडर, बाल में लगाने के सुगंधित द्रव्य, मलहम आदि भी इसी तेल बनाने की प्रक्रियाओं के सिलसिले में प्राप्त वार्निश आदि से प्रस्तुत किये जाते हैं। रासायनिक मोम, पौलिश प्लास्टिक, लकड़ी रंगने के रंग, रासायनिक रबर आदि में भी तेल का अंश निहित है।

गत तीन वर्षों से भारत में भी तेल-कूपों का अनुसंधान हो रहा है। अभी दो परिष्करण-कारखाने कार्य-रत हैं। इनमें एक विशाखापट्टम में बारह करोड़ की लागत से स्थापित हुआ है, जिसका नाम है—'कालटेक्स आयल रिफाइनरी'। ३८० एकड़ जमीन तक यह विस्तृत है! प्रति वर्ष ६७५,००० टन गदले तेल की परिष्करण-प्रक्रियाएँ इस के द्वारा संपन्न की जाने की संभावना है, जिसके फलस्वरूप १३,५०० बैरल की दर से प्रति दिन परिष्कृत तेल और पेट्रोल प्रस्तुत किया जा सकेगा। सन् १९५७ के प्रारंभ से ही यह रिफाइनरी तेल देने लगेगी।

दूसरी है, 'आसाम आयल कंपनी', जो तीस करोड़ रुपये की पूँजी से आसाम के तेल-क्षेत्र की ड्रीलिंग करती है। सन् १९५९ से यह कंपनी ३० लाख टन तेल उत्पादन करने लगेगी, जो सन् १९६२ में ५० लाख टन तक पहुँच जायगा।

पूर्व और पश्चिम

कवि किपलिंग की उक्ति है—"पूर्व पूर्व है ; पश्चिम पश्चिम है। और, दोनों का मिलन असंभव है।"

लेकिन, जब कोई अक्खड़ यात्री पूर्व की सीमा-रेखा की खोज में उस दिशा की यात्रा करता है, तब वह पश्चिम जा पहुँचता है। और, पुनः पूर्वाभिमुख होकर, अंत में, उसी स्थान पर पहुँच जाता है, जहाँ से उसने यात्रा प्रारंभ की थी। फिर भी, उसे कौतूहल नहीं होता ; क्योंकि वह जानता है कि पृथ्वी गोल है।

तब कहाँ है पूर्व और कहाँ है पश्चिम ? यदि है तो दोनों इस तरह अभिन्न हैं, इस तरह समन्वित हैं कि इनकी सीमा-रेखा का निर्धारण भी असंभव है। अतएव, किपलिंग की उक्ति के विपरीत यह भी कहा जा सकता है कि पूर्व पश्चिम है ; पश्चिम पूर्व है ! और, दोनों का मिलन असंभव नहीं है, अपितु विभाजन ही असंभव है।

लेकिन, सत्य तो यह है कि न कहीं पूर्व है, न कहीं पश्चिम ; न उत्तर है, न दक्षिण ! काल या समय की तरह यह दूरी (स्पेश) भी नित्य है ; शाश्वत है ; अनंत आकाश में एक राई के लक्षांश के रूप में, सूर्य के गुरुत्वाकर्षण के सूत्र में फँस कर, हमारी यह पृथ्वी अविश्रांत चक्कर काट रही है—समान गति-से, चिरंतन रूप से, अविराम।

हाँ, मानव-सृष्टि के पहले न तो पूर्व था, न पश्चिम। दूरी को दिशाओं में परिसीमित करने के प्रयास के सिलसिले में मानव ने अपनी चेतना के गर्भ से पूर्व का भी सृजन किया, पश्चिम का भी, अन्य दिशाओं का भी ! अतएव, पूर्व और पश्चिम सहोदर हैं, सहजात हैं, लेकिन काल की कसौटी पर पूर्व अग्रज है, पश्चिम अनुज—एक ही दूरी के दो ऐसे कल्पित अभिन्न अंग, जिनका सीमा-निर्धारण असंभव ही है।

सूर्य के उदयाचल की स्थिति की दिशा को मानव ने पूर्व की संज्ञा दी और अस्ताचल की स्थिति की दिशा को पश्चिम की। पुनः दोनों के मध्य की दूरी के एक अर्द्ध-भाग को पूर्व दिशा और दूसरे अर्द्ध-भाग को पश्चिम दिशा के नाम से अभिव्यक्त किया।

और, सच पूछिए तो परम पूजनीय सूर्य ही समय और दूरी के नियामक और नियंत्रक हैं; संचालक और निर्देशक हैं। सूर्य ही पूर्व में अपने प्रथम दर्शन से मानव को कर्म-क्षेत्र में प्रवृत्त होने की प्रेरणा देते हैं। अतएव, सूर्य मानव-संस्कृति के प्रेरणा-स्रोत के उद्गम हैं। और, यही कारण है कि पृथ्वी के पूर्व अंचल में ही मानव ने सर्व-प्रथम अपने यथार्थ रूप के दर्शन किये; अपनी संस्कृति के उषा-काल के दर्शन किये और अपनी संस्कृति का विकास किया—धर्म, साहित्य और कला के रूप में!

हाँ, पूर्व के अंचल से ही यथार्थ रूप में मानव आगे बढ़े और पश्चिम के अंचल तक फैले; इसी अंचल से उसने अपनी संस्कृति की दिव्य ज्योति पश्चिम में जाकर फैलाई; धर्म, साहित्य और कला का विस्तार किया। लेकिन, उस समय तक उसका हृदय इतना संकुचित नहीं हो पाया था कि वह पूर्व और पश्चिम के विभेद में फँस कर मानवता का उपहास करे। उसने बौद्ध धर्म का विस्तार किया—पूर्व में भी, पश्चिम में भी! उसने ईसाई धर्म की ज्योति फैलाई—पूर्व में भी, पश्चिम में भी! उसने इस्लाम का मंत्र फूँका—पूर्व में भी, पश्चिम में भी! लेकिन, उसने ऐसा करते हुए यह कभी नहीं सोचा कि पूर्व पूर्व है और पश्चिम पश्चिम; पूर्व संस्कृत है और पश्चिम असंस्कृत! उसके सामने एक ही सिद्धांत था—मानव मानव है, चाहे वह पूर्व का निवासी हो, चाहे पश्चिम का निवासी!

क्रम-क्रम से मानव फैलने लगे। पूर्व में प्रशांत महासागर से पश्चिम में अतलांतक महासागर तक के विस्तृत भू-भाग में मानव-बस्तियाँ बसीं; उनके राज्यों की प्रतिष्ठा हुई; धर्म की सार्वभौमिकता नष्ट होने लगी; विभिन्न धर्मों ने विभिन्न भू-भागों पर अपने भौतिक स्वत्त्व की रक्षा के लिए अपने-अपने

अभाव-क्षेत्र के मानवों को उभाड़ा ! फलतः, पश्चिम के भूखंड में, यूरोप महाद्वीप में मानव की संस्कृति ने क्रम-क्रम से अपने आध्यात्मिक स्वरूप को बदल कर भौतिक रूप धारण करना प्रारंभ कर दिया और संस्कृति के इसी भौतिक रूप को मानव ने सभ्यता की संज्ञा दी। और, इसी नवीन संस्कृति ने, धर्म की ही आड़ में, मानव मानव में विभेद की सृष्टि कर दी; पूर्व और पश्चिम का अड़ंगा खड़ा कर दिया। फलतः, ईसाइयों ने मुसलमानों को पश्चिम की ओर बढ़ने से रोका और इसके लिए खून की नदियाँ तक बहा दीं। और, उसी विवाद को इतिहास में 'क्रुजेड'—धर्म-युद्ध—के नाम से हम याद करने लगे। बस, क्रुजेड-युद्ध में पूर्व और पश्चिम की भावना का यथार्थ बीजारोपण हुआ।

अनन्तर पश्चिम के भूभाग में, सभ्यता के नव-प्रकाश में, मानवों के तृषित हृदय में भौतिक विकास की बलवती प्रेरणा का प्रादुर्भाव हुआ—बौद्धिक पुनरुत्थान की पिपासा तीव्रतर हो उठी—रिनासां और रिफारमेशन का युग आया। और, उसी पिपासा की परितृप्ति के प्रयास के सिलसिले में, पश्चिम के निवासियों के सिर पूर्व के संसार की खोज करने की धुन सवार हुई। फलस्वरूप, पृथ्वी के उस समय तक अज्ञात गोलार्द्ध का पता चल गया। फिर क्या था, इस नयी दुनिया के अनुसंधान ने ज्ञात दुनिया को पुरानी दुनिया की संज्ञा दे दी और नयी दुनिया नयी बनी रही। और, चूंके पश्चिम के लोग पश्चिम-स्थित अतलांतक महासागर पार कर नयी दुनिया को प्रकाश में लाये; इसलिए उसे पश्चिमी गोलार्द्ध भी कहा जाने लगा। यदि पूर्व के लोग अपने पूर्व-स्थित प्रशांत महासागर पार कर नयी दुनिया को प्रकाश में लाते, तो उसे आज हम पश्चिमी गोलार्द्ध नहीं कह कर पूर्वी गोलार्द्ध ही कहते! और, तब अमरीकी डबल्यू० एल० जार्ज को यह कहने का अवसर नहीं मिलता कि "यथार्थ अमरीका मध्य-पश्चिम है; कोलंबस ने एक नये यूरोप का अनुसंधान किया है—और कुछ नहीं।" यह भी संभव था कि तब पूर्व और पश्चिम के नाम पर इन गोलार्द्धों के नामकरण की आवश्यकता ही नहीं पड़ती।

जो हो, पूर्व और पश्चिम का विभेद क्रम-क्रम से बढ़ता ही गया और नये-नये रूप धारण करता गया। पूर्व भले ही पश्चिम का आध्यात्मिक गुरु होने का दावा नहीं करें, लेकिन पश्चिम तो डंके की चोट से यह दावा करने लगा कि पश्चिम चेतन है और पूर्व अचेतन ; पश्चिम उत्कृष्ट है और पूर्व निकृष्ट ; पश्चिम सभ्य है और पूर्व असभ्य ; यहाँ तक कि पूर्व गोरा है, सुंदर है और पश्चिम काला है, असुंदर है ; पश्चिम चरवाहा है और पूर्व ढोरों का समूह। पश्चिम ने पूर्व को सभ्य बनाया, आदमी बनाया ; पश्चिम ने पूर्व को ज्ञान-विज्ञान सिखा कर ऊँचा उठाया। पश्चिम पूर्व का राजनीतिक गुरु है।

लेकिन, आश्चर्य की बात तो यह है कि पश्चिम अब तक भी अपनी सीमा-रेखा निर्धारित नहीं कर सका है ! यद्यपि पाश्चात्य-जगत् से प्रभावित आधुनिक इतिहास में हमें प्रायः 'मध्यपूर्व', 'निकटपूर्व', 'सुदूर-पूर्व' आदि आदि शब्द पढ़ने को मिलते हैं ; लेकिन भूगोल में इनकी यथार्थ स्थिति का पता नहीं मिलता ; क्योंकि ये शब्द राजनीति के पचड़े हैं ; पाश्चात्य राजनीतिज्ञों के दिमाग के फितुर हैं। यदि भौगोलिक दृष्टिकोण से देखा जाय तो जिस भूभाग को यूरोपवालों न 'सुदूर पूर्व' की संज्ञा दे रखी है, वह हम भारतवासियों के लिए 'निकट पूर्व' है—यथा ; चीन और जापान। इसी प्रकार जिस भूभाग को यूरोपवाले 'मध्य पूर्व' कहते हैं, वह हमारी दृष्टि में 'पश्चिम एशिया' है। अतएव, 'पूर्व' और 'पश्चिम' के सीमा-निर्धारण में भूगोल सहायक नहीं हो सकता।

यदि राजनीतिक दृष्टिकोण से देखा जाय तो, क्रुजेड-युद्ध के बाद यूरोप को पूर्व माना जाने लगा और एशिया को पश्चिम। लेकिन, यूरोप के जिन देशों ने ईसाई धर्म को अंगीकार नहीं किया, उन्हें 'पूर्व' में ही खदेड़ने का प्रयास होता रहा। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद तक यूरोपीय तुर्की को यूरोप का 'रुग्ण व्यक्ति' करार देकर पूर्व का ही देश माना जाता था। जब अमरीका का अनुसंधान हुआ, तब उसे पश्चिम में आदरणीय स्थान मिला। एक यह भी मत है कि बर्लिन के ब्रैंडनवर्ग गेट के ठीक

पूरब प्रशांत महासागर के तट पर अवस्थित पोर्टआर्थर तक का सारा भूभाग—संभवतः मध्यपूर्व की दक्षिण अंतर्पेटी को छोड़ कर—'पूर्व' है और उसी ब्रैंडनवर्ग गेट के पश्चिम का सारा भूभाग तथा पश्चिम गोलार्द्ध 'पश्चिम' है। लेकिन इस प्रकार के द्वैविभाजन से स्वीडेन, फिनलैंड, युगोस्लाविया, आस्ट्रिया, स्वीटजरलैंड आदि त्रिशंकु बन जाते हैं—न पूर्व में रहते हैं, न पश्चिम में। सैद्धांतिक दृष्टिकोण से यह भी कहा जाने लगा है कि जिन देशों ने किसी-न-किसी रूप से साम्यवादी शासन-प्रणाली को स्वीकार किया है, वे 'पूर्व' के अंतर्गत है। लेकिन, इसे भी हम थोथी दलील ही कहेंगे; क्योंकि साम्यवाद के जन्मदाता 'कार्ल मार्क्स' 'पश्चिम' की उपज हैं; वे जर्मन हैं और उन्होंने लंदन के ब्रिटिश म्यूजियम में बैठकर 'डास कैपिटल' का प्रणयण किया है। अतएव, साम्यवादी, समाजवादी विचार-धाराएँ सोलहो आने पाश्चात्य-उद्‌भूत हैं। फिर, यदि धर्म के आधार पर पूर्व, पश्चिम का विभाजन मान लिया जाय, तो यह मत भी सारहीन ही है; क्योंकि हिंदू, बौद्ध, ईसाई, इस्लाम, पारसी, यहूदी आदि प्रायः सभी धर्मों का अभ्युदय 'पूर्व' में ही हुआ है।

इधर द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद एक यह भी भावना फैलने लगी है कि जिन देशों में 'पूँजीवाद' का प्रभाव है, शोषण की नीति की प्रधानता है, अपने बाजार को बरकरार रखने की दूषित मनोवृत्ति सातवें आसमान को छूना चाहती है, वे पाश्चात्य जगत् में हैं और साम्यवाद तथा समाजवाद से प्रभावित देश पौरस्त्य जगत् में हैं। दूसरे शब्दों में, इसी भावना को इस रूप में अभिव्यक्त किया जाने लगा है कि सोवियत रूस के प्रभाव-क्षेत्र में जितने देश हैं, चाहे यूरोप में हों या एशिया में, वे 'पूर्व' माने जायँगे और संयुक्त राष्ट्र अमरीका के प्रभाव-क्षेत्र में जितने देश हैं, वे 'पश्चिम'। इस दृष्टिकोण से अमरीका के लैटिन देश पश्चिम गोलार्द्ध से बहिष्कृत हो कर 'पूर्व' की पंक्ति में आ बैठते हैं।

लेकिन, यथार्थ तो यह है कि पूर्व और पश्चिम को भौगोलिक सीमाओं तक ही मान्यता मिलनी चाहिए। सांस्कृतिक दृष्टिकोण से सारा

विश्व एक है। किपलिंग ने जिस समय यह लिखा था कि पूर्व और पश्चिम का मिलन असंभव है, वह जमाना कब न लद चुका। यातायात के विकास ने विश्व को सिकुड़ा कर लघु-रूप दे रखा है ; महादेश देश हो गये हैं ; देश प्रदेश और प्रदेश मंडल बन चुके हैं ; महासमुद्र झीलों में बदल गये हैं। हवाई यात्रा तथा टेली-वार्त्ता के फलस्वरूप, हम एक दूसरे के बगल-गीर बन रहे हैं, चाहे हम कलकत्ता में रहें या लंदन में या वाशिंगटन में। चाहे अच्छा हो या बुरा—सारा विश्व एक हो रहा है। अतएव, न तो कहीं 'पूर्व' है, न कहीं पश्चिम ; क्योंकि विश्व निकटतम रूप से संबद्ध हो चुका है ; विश्व के एक कोने की घटनाएँ भी सुदूर-स्थित भूभाग के लोगों के भाग्य और जीवन को प्रभावित कर देती हैं ; दुनिया के किसी भी कोने-अंतरे के वैज्ञानिक अन्वेषण विश्व के सभी महाद्वीपों के करोड़ों के भाग्य को सुधार सकता है या सभी नगरों को नष्ट भी कर सकता है। इन सब के परे, आणविक शक्ति ने हमें यह महसूस करने के लिए बाध्य कर दिया है कि हम बिना अपने को नष्ट किये दूसरों का नाश भी अब नहीं कर सकते हैं। रश्मि-सक्रिय तरंगें – रेडियो-ऐक्टिव वेव्स–भौगोलिक सीमाओं या पूर्व-पश्चिम की प्रतिष्ठा देखने को तैयार नहीं। अतएव, चाहे भय की आशंका से ही सही, जब विश्व को एक बनने के लिए बाध्य होना ही पड़ेगा, तब भविष्य की उज्ज्वल आशा के प्रकाश में हम एक कहलाने की चेष्टा क्यों नहीं करें ?

एशिया का जागरण, इसका चैतन्य होना इस युग की सबसे बड़ी मौलिकता है। जैसा कि अरनाल्ड ट्याबी ने भी कहा है कि विश्व की आधी जनसंख्या की बुद्धिमाना सतर्कता, चेतना बीसवीं शती की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना है ; और, 'है अणु-बम से भी कहीं अधिक विस्फोटक।" गत दस वर्षों की अवधि में विश्व के साठ करोड़ मनुष्य दासता की जंजीर तोड़कर स्वतंत्रता के प्रांगण में अँगड़ाई लेने लगे हैं। वे लोग दृढ़-संकल्प हैं कि वे न तो विदेशी प्रभु-सत्ता को मानेंगे और न जाति या रंग के कारण अपन को विदेशियों के शोषण का शिकार होने देंगे। और,

यह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है कि आर्थिक या सैनिक शक्ति के अभाव की ही छत्रछाया में ये आगे बढ़ रहे हैं। फिर भी असमानता के विरुद्ध, समाजिक न्याय के लिए इनका आंदोलन अभावात्मक नहीं है ; यह मात्र राजनीतिक प्रभु-सत्ता के विरुद्ध विद्रोह नहीं है ; यह स्वतंत्रता एवं सामानता के आधार-भूत पश्चिम के साथ सहयोग एवं साझीदारी की पुकार भी है। जब बांडुंग में एशिया और अफ्रीका के २६ देश, जिनकी जनसंख्या सारे विश्व की जनसंख्या का ५६ प्रतिशत और जिनकी आय सारे विश्व की आय का १५ प्रतिशत है, अप्रैल, १६५६ में एक साथ मिले, तब उनका संगठन पश्चिम के लिए ललकार भी है, सहयोग का दान भी है।

लेकिन, अंततोगत्वा पूर्व और पश्चिम का स्वार्थ-आश्रित विभेद तभी मिट सकता है, जब कि शोषक देश अपनी शोषण तथा स्वार्थ की मनोवृत्ति को तिलांजलि दे दें। वे यह समझ लें कि एशिया तथा अफ्रीका में शांति तथा स्वतंत्रता को स्थायित्व एशिया या अफ्रीका के ही रहनेवाले प्रदान कर सकते हैं – रूस या अमरीका या ब्रिटेन नहीं। सन् १६५६ ई० के नववर्ष का संदेश देते हुए डॉ० मार्टिन नीमौलर ने भी इसी भावना को व्यक्त किया है, जो चेतावनी भी है, ललकार भी है। उन्होंने कहा है — "हम अपनी पीढ़ी के अंतिम अवसर का सामना कर रहे हैं। आज सभी मानवों को शांति के लिए प्रयास करना है। स्थिति इससे भी विकटतम हो चली, जिसका हम अनुभव कर रहे हैं। विश्व की आधी जनसंख्या क्षुधा की स्थिति में गुजर रही है—अस्तित्व के लिए निम्न से भी निम्नतम अवस्था में। अविकसित देश हैं, क्षुधा-ग्रस्त देश भी हैं। एशिया में वे जाग कर अँगड़ाई लेने लगे हैं ; अफ्रीका में वे जागने की अवस्था में हैं। दक्षिण अमरीका में भी उनके जागने में अब विलंब नहीं है। अतएव, आज पूर्व-पश्चिम के संघर्ष से भी कहीं गुरुतर समस्या है क्षुधा की। यही भविष्य है—रूस या अमरीका नहीं ! तीस वर्षों के अभ्यंतर कोई भी पूर्व और पश्चिम की समस्या पर नहीं विचार करेगा। तीन सौ वर्षों के

पाश्चात्य जगत् या यों कहिए कि ईसाई जगत् के चाँप या दबाव के ही अंतिम फल के रूप में विश्व में युद्ध, समूह-क्षुधा तथा अन्य सामाजिक दुर्गुणों का विकास हुआ है, यद्यपि ईसाइयों की यह घोषणा है कि युद्ध ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध है। अतएव, अब समय आ गया है कि सारे पूर्व और पश्चिम के भेद को भुला कर, सामाजिक विषमताओं को तथा उन सामाजिक दुर्गुणों को, जो मानव-युद्धों के मूल में अवस्थित हैं, विनष्ट करने के लिए सारे विश्व को मिल-जुल कर कार्य करना ही पड़ेगा।

*

भारतीय इस्पात-उद्योग की प्रगति

किसी भी देश के औद्योगिक विकास का प्रतीक वहाँ के उद्योग-द्वारा उत्पादित इस्पात की मात्रा एवं खपत का अनुपात माना जाता है। इस दिशा में, विश्व में अमरीका अग्रगण्य है, जो प्रतिवर्ष दस करोड़ टन से भी अधिक इस्पात का निर्माण करता है। इसके बाद सोवियत रूस का स्थान है, जो प्रतिवर्ष चार करोड़ टन इस्पात का निर्माण करता है। रूस के बाद ब्रिटेन और जर्मनी क्रमशः दो-दो करोड़ टन इस्पात का निर्माण करते हैं। भारत इस क्षेत्र में वहुत पीछे है, जहाँ का इस्पात-उत्पादन अब तक एक करोड़ टन का अष्टमांश तक भी नहीं पहुँच पाया है। लेकिन, प्रसन्नता की बात है कि, भारत की द्वितीय पंचवर्षीय योजना में निर्दिष्ट अनेक भारी-भरकम उद्योगों के विकास-करण के क्रम में लोहे तथा इस्पात की उत्पादन-वृद्धि के लक्ष्य को सर्वाधिक प्राथमिकता दी गई है। कारण, अन्य उद्योगों के विकास एवं निर्माण-कार्यों की प्रगति में इस्पात की पूर्त्ति एक महत्त्वपूर्ण ही नहीं, बल्कि अनिवार्य इकाई है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में भारी उद्योगों के विकास को लक्ष्य कर, आगामी वर्षों में, देश में इस्पात की आवश्यकता का सर्वेक्षण किये जाने पर, पता लगा है कि सन् १९६० तक सारे देश को प्रतिवर्ष ४५ लाख

टन लोहे और इस्पात की आवश्यकता होगी ; यानी, वर्तमान उत्पादन का चार गुणा। सन् १६१६ में, इस देश में लोहा और इस्पात-उद्योग के मात्र दो ही कारखाने थे—एक बिहार में टाटा आयरन एण्ड स्टील कंपनी, दूसरा बंगाल में इंडियन आयरन एण्ड स्टील वर्क्स। सन् १६३१ में इस उद्योग का विकास किया गया और कारखानों की संख्या दो से बढ़ कर छः तक पहुँची, जिनमें एक मैसूर आयरन स्टील वर्क्स था। सन् १६३७ तक इनकी संख्या तेरह हो गई, जिनमें एक कारखाना उत्तर प्रदेश में खोला गया और एक मद्रास में। द्वितीय महायुद्ध के समय 'स्टील कारपोरेशन ऑफ बंगाल' का संगठन परदे पर आया, जिसके द्वारा विद्युत्-प्रतिक्रिया से इस्पात निर्मित करनेवाली छः री-रौलिंग मिलों को चालू किया गया। इनमें एक मद्रास के नागापट्टम खोली गई तथा अन्य पाँच बंगाल-बिहार के लौह-क्षेत्रों में। इनके अतिरिक्त लगभग एक दर्जन और भी री-रौलिंग मिलों की प्रतिष्ठा की गई, जिनमें अधिकांश मिलें बंगाल में ही स्थापित हुईं। इन सभी प्रकार के लोहे के कारखानों के कुल उत्पादन के आँकड़ नीचे दिये जाते हैं—

	कच्चा लोहा (टनों में)	इस्पात-पिंड (टनों में)	प्रस्तुत इस्पात (टनों में)
१६४१–४२	२०,१०,०००	१३,६०,०००	१३,६०,०००
१६४४–४५	१३,००,०००	१२,६०,०००	१२,७०,०००
१६४६–४७	१२,६०,०००	११,७०,०००	११,३०,०००

लेकिन, जहाँ भारत के औद्योगिक विकास के लिए प्रतिवर्ष ४५ लाख टन लोहे और इस्पात की आवश्यकता है, वहाँ उत्पादन के ये आँकड़े उत्साहवर्द्धक नहीं कहे जा सकते। आज देश में जो तीन मुख्य कारखाने लोहे और इस्पात का उत्पादन करते हैं, उनकी इस्पात-उत्पादन-क्षमता के आँकड़े यों हैं—(१) टाटा आयरन एण्ड स्टील कंपनी—७ लाख ८० हजार टन ; (२) इंडियन आयरन एण्ड स्टील वर्क्स—३ लाख ३०

हजार टन और (३) मैसूर आयरन एण्ड स्टील वर्क्स—३० हजार टन। तीनों कारखानों का कुल उत्पादन ११ लाख ४४ हजार टन होता है।

अतएव, लोहे और इस्पात के इस भारी अभाव की पूर्त्ति के लिए उपर्युक्त निजी क्षेत्रों की उत्पादन-शक्ति बढ़ाने तथा सार्वजनिक क्षेत्रों में तीन नये कारखानों की योजना बनाई गई है, जो कुल मिलाकर ४६ लाख ८० हजार टन इस्पात का निर्माण कर सकेंगे। निजी क्षेत्रों में टाटा, इंडियन और मैसूर आयरन कंपनियों के कार्य-क्षेत्र को विस्तृत कर उनकी उत्पादन-शक्ति क्रमशः १५ लाख टन, ८ लाख टन और १ लाख टन तक बढ़ा कर तीनों का उत्पादन, सन् १९६० तक, वार्षिक २४ लाख टन तक पहुँचा देने का लक्ष्य है। निजी क्षेत्रों की उत्पादन-क्षमता २४ लाख टन तक पहुँच जाने पर भी द्वितीय योजना के अंतर्गत देश की इस्पात की आनुमानिक आवश्यकता ४५ लाख टन में २१ लाख टन रह जाती है, जिसकी पूर्त्ति के लिए भारत-सरकार ने भिलाई (मध्य प्रदेश), राउरकेला (उड़ीसा) और दुर्गापुर (बंगाल) में इस्पात के तीन कारखानों के निर्माण की व्यवस्था की है। ये तीनों मिलकर २२ लाख ८० हजार टन तैयार इस्पात का निर्माण कर सकेंगे। इस प्रकार सन् १९६० तक निजी एवं सार्वजनिक, दोनों क्षेत्रों का कुल उत्पादन ४६ लाख ८० हजार टन तक पहुँच जायगा ; अनुमानित आवश्यकता ४५ लाख टन से १ लाख ८० हजार टन ज्यादा ही।

भिलाई, राउरकेला और दुर्गापुर में क्रमशः रूसी, जर्मन एवं ब्रिटिश सरकारों के सहयोग से तीन स्वतंत्र कारखाने स्थापित किये जा रहे हैं, जिन पर क्रमशः ११० करोड़ १२८ करोड़, और १२० करोड़ रुपये व्यय किये जायँगे। ये तीन कारखाने योजना के प्रारंभिक वर्षों में प्रतिवर्ष निम्न मात्रा में प्रस्तुत इस्पात का निर्माण करेंगे—भिलाई ७ लाख ७० हजार टन, राउरकेला ७ लाख २० हजार टन और दुर्गापुर ७ लाख ८० हजार टन—कुल २२ लाख २० हजार टन। तीनों कारखानों का निर्माण-कार्य

तेजी से प्रारंभ हो चुका है। भिलाई में दिसंबर, १९५९ तक लोहे का उत्पादन प्रारंभ हो जायगा।

बिहार के बोकारो नामक स्थान में भी लोहे और इस्पात का एक वैसा ही कारखाना शीघ्र ही स्थापित होने जा रहा है, जैसा कि भिलाई और राउरकेला या दुर्गापुर में स्थापित किया गया है। इस प्रकार, सन् १९६० तक भारत में इस्पात का निर्माण ४६ लाख ८० हजार टन से भी बढ़ कर ५४–५५ लाख टन तक पहुँच जायगा। और, तब ब्रिटेन या जर्मनी में जितना इस्पात तैयार होता है, उसके एक चौथाई भाग से भी अधिक इस्पात भारत तैयार करने लगेगा। यही नहीं, ऐसा होने से, भारत इस्पात के मामले में पूर्णतः स्वावलंबी तो हो ही जायगा ; साथ ही, लगभग १० लाख टन इस्पात का यह निर्यात भी करने लगेगा।

★

ओलिम्पिक खेल

विभिन्न खेलों की प्रतियोगिता के लिए विश्व ओलिम्पियड एक अंतर्राष्ट्रीय संस्था है, जो प्रति चौथे वर्ष पर भिन्न-भिन्न देशों के नगरों में आयोजित होता है। कहा जाता है कि ऐसे खेलों का सर्वप्रथम आयोजन ७७६ बी० सी० में, यूनान में हुआ। यूनान के एक प्रसिद्ध व्यक्ति महर्षि डेल्फिक ने इन प्रतियोगिताओं को स्वरूप प्रदान किया था। यूनान के विभिन्न नगर-राज्यों के शासक जब आपस में ही जूझने लगे, तब उनमें पारस्परिक मैत्री-भाव बढ़ाने के अभिप्राय से डेल्फिक ने सुझाव दिया कि उनलोगों को समय-समय पर एक अखाड़े पर जुटाया जाय और उनमें खेल-प्रतियोगिता कराई जाय। प्रत्येक राज्य अपने सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि प्रतियोगिता में भाग लेने के लिए भेजे और जो व्यक्ति उन में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त करे, उसे हैलास (यूनान) का सर्वोत्तम पुरुष माना जाय। इस सुझाव का सभी शासकों ने समर्थन किया और प्रतियोगिता में अपने-अपने

प्रतिनिधि भेजने शुरू कर दिये। स्थान ओलिम्पिस नामक पर्वत निश्चित हुआ। यह पर्वत यूनानियों के देवता 'ओलिम्पिस' का स्थान माना जाता था; इसलिए उन्हें विश्वास था कि इस स्थान पर समारोह होने से उन्हें देवता का आशीर्वाद उपलब्ध होता रहेगा।

लेकिन, प्राचीन काल की यूनान की वे प्रतियोगिताएँ आज की ओलिम्पिक खेल-प्रतियोगिताओं से भिन्न थीं। प्राचीन यूनानी प्रतियोगिता में कुदान, लंबी अथवा छोटी दौड़ें, मुक्कबाजी और कुश्तियों के ही मुकाबले नहीं चलते थे; बल्कि कला, शिल्प, काव्य, राजनीतिक सूझ आदि की प्रतियोगिताएँ भी चलती थीं। लेकिन आधुनिक प्रतियोगिताएँ मात्र खेलों के लिए ही आयोजित होती हैं।

जो हो, इन प्रतियोगिताओं का जो रूप यूनानियों द्वारा मिला, वह लगभग १२०० वर्षों तक जीवित रहा। सन् ३९४ ई० में इस प्रतियोगिता का अंत हो गया, जब कि थ्योडोसियस प्रथम ने सभी प्रकार के खेल-संबंधी जमघटों को गैर-कानूनी करार दे दिया। साथ ही, उसने ओलिम्पिया के मंचों तथा मंदिरों को नष्ट करने का भी आदेश दे डाला। फलतः, ओलिम्पिया का पवित्रतम कोष, विश्व की प्राचीन सप्त-आश्चर्य वस्तुओं में एक, और कदाचित् एक प्राचीनतम ऐतिहासिक धरोहर, ओलिम्पिया देवता की हाथी-दाँत तथा आबनूस की स्वर्ण-जटित विशालकाय प्रतिमा कुस्तुनतूनिया ले आई गई, जहाँ कुछ दिनों के बाद उसे अग्नि-देव को समर्पित कर दिया गया।

अनंतर १६०० वर्षों के बाद पुनः प्राचीन ओलिम्पियस से ही प्रेरणा लेकर खेलों की विश्व-प्रतियोगिता का पुनरुद्धार करने का प्रयास प्रारंभ हुआ। सन् १८१७ में, खेलों का पहला क्लब बना और सन् १८६६ में समस्त इंगलैंड में इसकी पहली प्रतियोगिता हुई। पश्चात् सन् १८६८ ई० में अमरीका में और सन्१८७४ ई० में जर्मनी में भी इसका श्रीगणेश हुआ। लेकिन, ओलिम्पिक खेलों को पुनः प्राण-प्रतिष्ठित करने का श्रेय फ्रांस के बैरन डी० कूबर्टन को है, जिन्होंने कई वर्षों के अनवरत प्रयास द्वारा इन

खेलों का आयोजन सन् १८९६ ई० में विश्व-स्तर पर किया। और, चूँकि ओलिम्पिक खेल प्राचीन युग में यूनान की देन थे : इसलिए उस देश की राजधानी एथेंस को ही प्रथम विश्व ओलिम्पियस के लिए चुना गया—नामकरण भी वहीं के प्राचीन प्रसिद्धि-प्राप्त ओलिम्पियस पर्वत के ही नाम पर किया गया। कूबर्टन ने इन खेलों को नया आदर्श-वाक्य दिया—"ओलिम्पिक खेलों में महत्त्वपूर्ण वार्त्तालाप नहीं, बल्कि उनमें भाग लेना है। जीवन में महत्त्वपूर्ण बात विजय नहीं, बल्कि जीवन से जूझना है। मूल बात विजय प्राप्त करना नहीं, बल्कि सचाई से संघर्ष करना है।"

बैरन कूबर्टन ने पहले ओलिम्पिक-जगत् की उच्चाधिकारी संस्था इंटर नैशनल ओलिम्पिक कमिटी का संगठन किया और सन् १८९४ ई० में, पेरिस में खेलों की प्रथम अंतर्राष्ट्रीय काँग्रेस को आमंत्रित किया, जिसके प्रतिनिधियों ने ओलिम्पिक खेलों का पुनरुद्धार करने का निश्चय किया। इसके लिए कूबर्टन तथा अर्जेनटाइना, बेलजियम, जेकोस्लावाकिया, फ्रांस यूनान, हंगरी, इटली, न्यूजीलैंड, रूस, स्वीडेन, ग्रेटब्रिटेन और संयुक्तराष्ट्र अमरीका के प्रतिनिधियों की एक समिति संगठित हुई। आजकल यह समिति ४७ देशों के ७६ स्वतंत्र सदस्यों द्वारा संगठित है, जो खेलों के संचालन तथा उनपर पूर्ण नियंत्रण रखने के लिए एकमात्र उत्तरदायी है। प्राचीन ओलिम्पिक की तरह इसका समारोह भी प्रति चार-चार वर्षों में किये जाने का निश्चय हुआ।

इस प्रकार, सन् १८९६ ई० में, एथेंस में प्रथम आधुनिक ओलिम्पिक खेलों का आयोजन किया गया। और, सन् १९५६ ई० के २२ नवंबर को आस्ट्रेलिया के मेलबॉर्न में ड्यूक ऑफ एडिनबर्ग ने ओलिम्पिक स्टैडियम पर एकत्र एक लाख दस हजार की संयत भीड़ के सम्मुख इस आधुनिक क्रम के सोलहवीं प्रतियोगिता का उद्घाटन किया; लेकिन वस्तुतः केवल तेरह समारोह ही अब तक संपन्न हुए हैं; क्योंकि युद्धों के कारण १९१६, १९४० और १९४४ ई० को समारोह का विचार त्याग दिया गया था।

इन खेलों के विषय में कई बातें जानने योग्य हैं। पहली बात तो यह कि ये खेल किसी देश को नहीं मिलते, बल्कि विश्व के किसी प्रमुख नगर को मिलते हैं। जैसे; सन् १९४८ ई०. के खेल लंदन के ओलिम्पियड कहलाते हैं, इंगलैंड के नहीं। इस क्रम के सर्वप्रथम समारोह एथेंस के खेल थे, यूनान के नहीं। क्रमानुसार तेरहो समारोहों के नगरों के नाम इस प्रकार हैं—

१८९६	एथेंस (यूनान)	१९२४	पेरिस (फ्रांस)
१९००	पेरिस (फ्रांस)	१९२८	अमस्टरडाम (हॉलैंड)
१९०४	सेंटलुई (यू० एस० ए०)	१९३२	लास ऐंजल्स
१९०८	लंदन (इंगलैंड)	१९३६	बर्लिन (जर्मनी)
१९१२	स्कॉटहॉम (स्वीडेन)	१९४८	लंदन (इंगलैंड)
१९२०	एण्टवर्प (बेलजियम)	१९५२	हेलसिंकी (जेक)

१९५६ मेलबॉर्न (आस्ट्रेलिया)

दूसरी विशेषता यह है कि इन खेलों में राष्ट्र भाग नहीं लेता, बल्कि व्यक्ति भाग लेता है। भले ही, अधिकृत ढंगसे ऐसा बता दिया जाता है कि किस देश-विशेष ने कितने अंक अर्जित किये या किस विशेष खेल में किस देश की टीम विजयी हुई। और, यही कारण है कि 'स्पोर्टमैनशिप' का जैसा सुदृढ़ स्तर इस ओलिम्पियड में दृष्टिगोचर होता है, वैसा विश्व के किसी अन्य सम्मेलन में नहीं।

समय की गति के साथ-साथ ओलिम्पिक खेलों का भी विकास एवं विस्तार होता गया। सन् १९२४ में, पेरिस ओलिम्पियड में, प्रथम बार बर्फ पर खेले जाने वाले शीत-खेलों का आयोजन हुआ और आज ये खेल बड़े समारोह के अनिवार्य अंग के रूप में हैं। ओलिम्पिक खेल जितने दिन चलते हैं, ज्योति जलती रहती है। ज्योति इन खेलों का प्रतीक भी है। खेलों के प्रारंभ होने के कुछ महीने पूर्व इसे यूनान के ऐतिहासिक मंदिर में जलाया जाता है और इसके बाद एक निश्चित मार्ग से इसे खेल-स्थान तक पहुँचाया जाता है।

वैसे तो ओलिम्पिक खेलों में मुक्केबाजी, हॉकी, वासकेट बाल, तैराकी, घुड़सवारी, निशानेबाज़ी, कुश्तियाँ, बोझा उठाने और तलवार चलाने-जैसी दर्जनों प्रतियोगिताएँ सम्मिलित होती हैं; लेकिन इनमें सब से महत्त्वपूर्ण स्थान केवल फील्ड और ट्रैक प्रतियोगिताओं का है। फील्ड की प्रतियोगिताओं के अंतर्गत लौंग या ब्रौड जम्प यानी लंबी-से-लंबी कुदान, हाफ स्टौप जम्प यानी एक कुदान के बाद एक कदम लेकर दूसरी छलाँग लगाना, हाई जम्प यानी ऊँची-से-ऊँची कुदान, पटिंग दी वेट यानी गोला फेंकना, डिसकस थ्रो यानी लोहे के मढ़े चप्पड़ी के आकार के एक यंत्र को फेंकना, भाला फेंकना, पाल वाल्ट (लंबे बाँस के सहारे ऊँची से ऊँची कुदान लगाना) और हैमर थ्रो आते हैं। ट्रैक प्रतियोगिताओं में कई प्रकार की लंबी और छोटी दौड़ें सम्मिलित हैं।

ओलिम्पिक के अन्तर्गत होनेवाली दौड़ों को, सुविधा के लिए, श्रेणियों में विभक्त कर दिया गया है। जो एथलीट सौ गज या सौ मीटर, से दो सौ मीटर तक की दौड़ों में भाग लेते हैं, स्प्रिंटर्स कहलाते हैं। मिडिल डिस्टेंस ग्रूप में ऐसे एथलीट आते हैं जो २०० से ४०० मीटर तक की दौड़ों में भाग लेते हैं और माइलर्स वे होते हैं जो कि १,५०० मीटर अथवा एक मील की दौड़ के विशेषज्ञ होते हैं। माइलर्स के बाद 'डिस्टेंस मैन' आते हैं। ये दो मील से पाँच मील तक की दौड़ों में भाग लेते हैं। मेराथन दौड़ (२६ मील ३८५ गज की दौड़) एक अलग श्रेणी की दौड़ है। हर्डल्स दौड़ में लकड़ी के बने स्टैंडों को फाँदना पड़ता है और स्टीपलचेज में कुछ बाधाओं की व्यवस्था होती है। इससे ये दौड़ें दिलचस्प बन जाती हैं। उदाहरण के तौर पर स्टीपलचेज में दौड़ने वाले को हर्डल्स फाँदनी पड़ती हैं और पानी में से गुजरना पड़ता है। इनके अतिरिक्त रिले रेस भी होती है। इसमें टीम के चार सर्वश्रेष्ठ दौड़ने वाले भाग लेते हैं। एक बेटन (डंडे) का प्रयोग होता है, जिसे निश्चित दूरी के बाद पहला व्यक्ति दूसरे को थमा देता है, दूसरा तीसरे को और तीसरा चौथे को। रिले रेस का नाम देते समय सीधा ४०० मीटर नहीं लिखा जाता;

बल्कि ४ × १०० मीटर। इसका अर्थ यह है कि चार व्यक्ति मिलकर १००, १०० मीटर भागें।

नारियाँ तो इनी-गिनी प्रतियोगिताओं में भाग लेती हैं। वे लंबी दौड़ों और स्टीपलचेज में भाग नहीं लेतीं। और, उनकी अपनी पेंटेथलान और डिकेथलान भी नहीं होती। हाँ, वे सब छोटी दौड़ों में भाग लेती हैं— हर्डल्स और रिले रेस में भी। उनके लिए हर्डल्स की ऊँचाई जरा कम होती है। इसके अलावा वे गोला फेंकती हैं, भाला फेंकती हैं, डिसकस फेंकती हैं और लंबी और ऊँची छलाँगों में भाग लेती हैं। औरतों ने प्रथम बार १९२९ में ओलिम्पियड में, प्रवेश किया।

ओलिम्पिक खेलों में अबतक भारत को अच्छी सफलता नहीं मिल सकी है। हाँ, हाँकी खेल में भारत के खेलाड़ियों ने रेकर्ड कायम जरूर कर रखे हैं। सन् १९५२ में, हेलिसिंकी ओलिम्पियड में के० डी० भारत को कुश्ती में ब्रौंज मेड्ल मिला था।

ऐसा नहीं है कि इस क्षेत्र में हमारे यहाँ कुशल युवकों या युवतियों का अभाव हो। लेकिन, अन्य देशों के मुकाबले हमारे देश में ओलिम्पिक के स्तर तक ले जाने के लिए प्रशिक्षण की व्यवस्था नहीं है।

मेलबॉर्न के ओलिम्पियड में सबसे ज्यादा स्वर्ण पदक रूस के खेलाड़ियों ने जीते। इसके बाद अमेरिका के खेलाड़ियों का नंबर आता है।

★

युद्ध की विभीषिका और विश्व-शांति

युद्ध के कारण—(क) मानवों की विभिन्न भ्रमणशील जातियाँ, स्थायी वास के लिए बस्तियाँ बसाने के अभिप्राय से, किसी हरे-भरे और उपजाऊ भू-भाग पर छापा मारती थीं और वहाँ पहले से ही बसी हुई जातियों से भिड़ जाती थीं। मध्य एशिया के विस्तृत भू-भाग में असुरों का संग्राम तथा भारत-भूमि पर आर्य-अनार्य संघर्ष इसी तरह के युद्धों के दृष्टांत हैं।

(ख) उन्नत जातियाँ जब किसी भू-भाग पर बस्तियाँ बसाकर वहाँ राज्य की प्रतिष्ठा करने में समर्थ हो जाती थीं, तब उनके नेताओं का प्रभुत्व बढ़ जाता था और उनके मन में महत्त्वाकांक्षा जगती थी और वे साम्राज्य-विस्तार की हवस शांत करने के लिए विश्व-विजय को निकल पड़ते थे और तमाम युद्ध की विभीपिका फैला देते थे। यूनान के सिकन्दर, ईरान के प्राचीन सम्राटों आदि के विश्व-विजय के सिलसिले में जो आक्रमण हुए थे, वे सभी इसी प्रकार के युद्धों के उदाहरण हैं।

(ग) इस्लाम के अभ्युदय के बाद धर्म की आड़ में इन युद्धों का विकास हुआ। धर्म-विशेष को माननेवाली जाति दूसरी जातियों को भी अपने धार्मिक-विश्वास के अंतर्गत लाने के सिलसिले में उन पर आक्रमण करने लगी। फिर, धर्म के नाम पर एक जाति के लोग भी आपस में भिड़ने लगे। छठीं शती से लेकर बारहवीं शती तक मुसलमानों के हमले धर्म-प्रेरित ही थे। क्रुजेड के युद्ध धार्मिक युद्ध ही कहलाते हैं। पंद्रहवीं-सोलहवीं शती में यूरोप के ईसाइयों का आपस में ही जूझ मरना भी धर्म-प्रेरित युद्ध का ही दृष्टांत है।

(घ) उजाड़ तथा अनुर्वर भू-भाग में बसे हुए मानवों के गिरोह, अपनी जीविका के साधन जुटाने के फेर में पड़कर, शांति के साथ बसे हुए

संपन्न गिरोहों की धन-धान्य-भरित भू-भाग पर आक्रमण कर युद्ध की विभीषिका उत्पन्न कर देते थे और लूट-पाट मचाकर, हजारों-लाखों को तलवार से घाट उतारकर पुनः लौट जाते थे। चौदहवीं-पंद्रहवीं शती में मंगोलों तथा तातारियों ने सारे एशिया तथा आधे यूरोप तक जो आंतक फैला रखे थे, वे इसी प्रकार के युद्धों के उदाहरण हैं।

(ङ) उद्योग-प्रधान यूरोपीय देशों के निवासी, अपने व्यापारिक क्षेत्रों के विस्तार के सिलसिले में, पहले तो धर्म की आड़ में ही, मगर पीछे सभ्यता-विस्तार के बहाने एक ओर तो एशिया और अफ्रीका के भू-भागों पर अपने-अपने साम्राज्य के विस्तार की धुन में लगे, मगर दूसरी ओर एक दूसरे से आगे बढ़ने की होड़ में आपस में भी खूब लड़े। पीछे कच्चे माल के जुगाड़ के चक्कर में पड़कर साम्राज्य-विस्तार की भावना उपनिवेश-विस्तार की भावना में परिणत हो गई। प्रथम महायुद्ध के पहले तक जितने युद्ध यूरोप तथा एशिया के वक्षस्थल पर छिड़े, वे इन्हीं कारणों के नतीजे थे।

(च) प्रथम विश्व-युद्ध अपने-अपने उपनिवेशों के फैलाव तथा प्रभाव-क्षेत्र के विस्तार के ही कारण छिड़ा। इन्हीं उद्देश्यों से यूरोप की श्वेत जातियों के लोगों के पारस्परिक भिड़ंत ने सारे विश्व को युद्ध की ज्वाला में समेट लिया।

प्रभाव के विस्तार के ही सिलसिले में, दो परस्पर-विरोधी राजनीतिक विचार-धाराओं के टक्कर के फलस्वरूप, द्वितीय महायुद्ध छिड़ा। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद एक ओर पूँजीवादी लोकतंत्र का विकास हुआ और दूसरी ओर समाजवादी लोकतंत्र का। पूँजीवादी लोकतंत्र के दुर्गुणों ने अधिनायक-तंत्र की सृष्टि की और समाजवादी लोकतंत्र की प्रतिक्रिया के रूप में साम्यवादी अधिनायकवाद का अभ्युदय हुआ। इसी अधिनायक-तंत्र के संचालक हिटलर और मुसोलिनी की महत्त्वाकांक्षा को दबाने की भावना ने द्वितीय विश्व-युद्ध की विभीषिका पैदा कर दी।

लेकिन, क्या यही विश्व का अंतिम महायुद्ध था? क्या अब विश्व में शांति का शाश्वत स्वरूप प्रतिष्ठित हो जायगा—यही प्रश्न दुनिया के सभी देशों के प्रबुद्ध नागरिकों के हृदय में आजकल उठ रहा है।

स्पष्ट है कि विश्व की जनता युद्ध-त्रस्त हो उठी है। सारे विश्व के नागरिक युद्ध नहीं, शांति चाहते हैं; लेकिन वे सशंकित हैं—विश्व के चार महान् राष्ट्रों की स्वार्थमय राजनीतिक चालों को देख कर।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद एक ओर तो स्थायी शांति के प्रयास के सिलसिले में संयुक्त-राष्ट्र-संघ की स्थापना हुई; मगर दूसरी ओर विश्व के नतृत्व के लिए अमेरीका और रूस में भीषण प्रतिद्वंद्विता दीख पड़ने लगी। अमेरीका पूँजीवादी लोकतंत्र का हिमायती बन कर, इसी विचार-धारा की आड़ में, सारे विश्व को अपने बाजार के रूप में बाँध रखने के लिए पैंतरे बाँधने लगा है तो रूस साम्यवादी विचार-धारा का हिमायती होकर अपने प्रभाव-क्षेत्र में सारे विश्व को देखने का मनसूबा करने लगा है। बीच में, ब्रिटेन और फ्रांस अपने-अपन स्वार्थ के लिए कभी अमेरीका के साथ अपना दामन जोड़ देते हैं और कभी छिटक कर स्वतंत्र रूप से गीदड़-भभकी दिखाने लगते हैं।

अपने-अपने प्रभाव-क्षेत्र में अधिक-से-अधिक राष्ट्रों को लाने के लिए अमेरीका और रूस निर्बल राष्ट्रों को सैनिक-संधियों के जाल में फँसा रहे हैं। यूरोप के प्रायः बीस राष्ट्रों को अमेरीका ने रूस के भय से बचाने का आश्वासन देकर 'नाटो' के जाल में फँसा रखा तो रूस ने अमरीकी भय से बचाने का आश्वासन देकर, वारसा की सैनिक-संधि में, यूरोप के सात-आठ साम्यवादी राष्ट्रों को जकड़ कर रखा। फिर, रूस ने जब पश्चिम एशिया के मुस्लिम राष्ट्रों के बीच अपना प्रभाव जमाना शुरू किया तब अमेरीका और ब्रिटेन ने 'मेडो' और 'सीटो' की सैनिक-संधियों के जाल में मुस्लिम राष्ट्रों तथा दक्षिण-पूर्व एशियाई राष्ट्रों को फँसाने का उपक्रम किया। और, जब ये दोनों सैनिक-संधियाँ सक्रिय नहीं हो सकीं, तब ब्रिटेन ने बागदाद-पैक्ट के सहारे पश्चिम एशिया के सभी राष्ट्रों को अपने

प्रभाव-क्षेत्र में लाना चाहा ; लेकिन तुर्की, पाकिस्तान, ईरान और ईराक—ये ही चार उस में फँस सके।

इधर भारत, लंका, हिंदेशिया आदि कुछ तटस्थ राष्ट्रों ने बांडुंग में २६ एशियाई-अफ्रीकी राष्ट्रों का सम्मेलन कर पंचशील के सिद्धांत को अपनाया। यूरोप के कुछ राष्ट्रों ने भी, यहाँ तक कि रूस ने भी पंचशील को विश्व-शांति का सर्वोत्तम मार्ग बताया। यद्यपि पाकिस्तान आदि दो-चार राष्ट्र सैनिक-संधियों के चकमे में फँसकर पंचशील के सिद्धांत से फिसल रहे हैं ; फिर भी विश्व के कोई चालीस राष्ट्र, जिनमें चीन तथा लैटिन अमरीका के भी राष्ट्र हैं, पंचशील के सिद्धांत को ही विश्व-शांति का सर्वोत्तम मार्ग समझने लगे हैं।

इधर पंचशील को मान्यता देनेवाले राष्ट्रों की संख्या में वृद्धि देख कर प्रत्यक्ष रूप से ब्रिटेन और फ्रांस की तथा अप्रत्यक्ष रूप में अमेरीका की घबड़ाहट बढ़ी। पश्चिम एशिया के विशाल तेल-भंडार पर अबतक अमेरीका, ब्रिटेन तथा फ्रांस का अधिपत्य चला आ रहा था ! स्वेज-नहर इन तेल-क्षेत्रों से तेल आने का एकमात्र मार्ग भी है। साथ ही, यह नहर ब्रिटेन, फ्रांस आदि देशों के लिए महत्त्वपूर्ण व्यापारिक मार्ग है। सच पूछिए तो, ब्रिटेन तथा फ्रांस के लिए पश्चिम एशिया का तेल तथा स्वेज-नहर जीवन-मरण का प्रश्न है। तेल-क्षेत्रों को ही लेकर ब्रिटेन तथा फ्रांस अमेरीका को भी सशंकित दृष्टि से देखने लगे हैं।

इधर अरब राष्ट्रों के संघ का झुकाव रूस की ओर होन लगा है। इस संघ का नेतृत्व मिस्र करता है। कहते हैं कि रूस की मंत्रणा से ही अरब-संघ के राष्ट्र बागदाद पैक्ट से दूर रहे। लेकिन, ब्रिटेन और फ्रांस पश्चिम एशिया में रूसी प्रभाव को किसी भी कीमत पर बर्दाश्त नहीं कर सकते। और, जब मिस्र ने स्वेज-नहर का राष्ट्रीयकरण कर लिया, तब ब्रिटेन तथा फ्रांस आपे से बाहर हो गये। संसार के अधिकांश राष्ट्रों ने स्वेज-नहर पर मिस्र की प्रभुसत्ता मान ली, मगर नहर होकर आने-जाने वाले जहाजों के नियंत्रण के लिए मिस्र को एक अंतर्राष्ट्रीय परामर्श-दात्री समिति

की सलाह पर चलने की राय दी। ब्रिटेन, फ्रांस और अमेरीका स्वेज-नहर को पूर्णतः अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण में देने को सहमत हुए। लंदन में २२ राष्ट्रों के सम्मेलन में १८ राष्ट्रों ने इस विचार का समर्थन किया। लेकिन मिस्र इस पर सहमत नहीं हुआ। फिर, ब्रिटेन ने पंद्रह राष्ट्रों का प्रयोक्ता-संघ कायम कर इसी संघ के द्वारा जबरन् स्वेज-नहर का संचालन करने का विचार किया। मिस्र ने इस मामले को संयुक्त-राष्ट्र-संघ की सुरक्षा-परिषद् में पेश कर दिया। अभी यह मामला समझौते की ही स्थिति में था कि ब्रिटेन और फ्रांस ने इजरायल को उभाड़ कर उस से मिस्र पर आक्रमण करवा दिया और स्वेज-नहर की रक्षा की दुहाई देकर इन दोनों ने भी मिस्र पर हमला बोल दिया।

सारे विश्व में खलबली मच गई। मामला संयुक्त राष्ट्र-संघ में पेश हुआ। रूस ने मिस्र का साथ देकर ब्रिटेन और फ्रांस पर अणु-बम बरसाने की धमकी दी। बांडुंग-राष्ट्रों न भी कड़ाई के साथ विरोध किया। कोलंबों-राष्ट्रों ने भी ब्रिटेन, फ्रांस की कड़ी आलोचना की। अमेरीका भी ब्रिटेन तथा फ्रांस की इस हरकत का विरोधी बन गया। लाचार, ब्रिटेन-फ्रांस को संयुक्त-राष्ट्र-संघ के आदेश से अपनी-अपनी फौजें मिस्र से हटानी पड़ीं।

इस प्रकार, तृतीय युद्ध का विस्फोट होते-होते बच गया। ब्रिटेन को लेने के देने पड़ गये। उनके कई जहाज स्वेज-नहर में मिस्र द्वारा डुबा दिये गये। स्वेज-नहर से जहाजों का आना-जाना बंद हो गया। ब्रिटेन को व्यापार में अपार क्षति उठानी पड़ी। महीनों से उसे तेल नहीं मिल रहा है। पश्चिम एशिया के अधिकांश मुस्लिम राष्ट्र—मिस्र, सीरिया, जार्डन, साउदी अरबिया, लेबनान, येमन आदि खुले आम ब्रिटेन-फ्रांस के विरोधी हो चुके हैं।

और, आशंका है कि पश्चिम एशिया के गर्म वातावरण को शांत करने में यदि संयुक्त-राष्ट्र-संघ को सफलता नहीं मिली और पंचशील के आधार पर एशियाई-अफ्रीकी राष्ट्रों का शांति के लिए संयुक्त और आतुर प्रयास

भी ब्रिटिश-अमेरीकी चाल में फँस कर असफल रहा तो यही स्वेज-नहर तथा पश्चिम एशिया के तेल-कूपों से तृतीय महायुद्ध का ऐसा विस्फोट होगा कि उसकी लपट में पड़कर सारा विश्व ही नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा।

यद्यपि आणविक अस्त्रों के युग में बिना अपने को नष्ट किये कोई राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों को नष्ट नहीं कर सकता, फिर भी स्वार्थ के प्राबल्य के चपेटे में पड़े मदांध राष्ट्रों को इस कटु सत्य का अनुभव नहीं हो रहा है।

★

पुस्तकालय का महत्त्व

पुस्तकालय मानव-जीवन की वेदी पर प्रतिष्ठित वीणा-वादिनी सरस्वती की ज्ञान-प्रतिष्ठा है, जिसके चारों ओर ज्ञान की शाश्वत और अखंड रश्मियाँ विकीर्ण होती रहती हैं। यह वह रत्न-द्वीप है, जो चिरकाल से प्रकाशित होता हुआ अनंत काल तक ज्ञान की दिव्य आभा से मानव को आलोकित करता आ रहा है।

पुस्तकालय वह तीर्थ-स्थान है, जहाँ विद्वानों, जिज्ञासुओं तथा ज्ञान-अर्जित करनेवाले यात्रियों का, पुण्यात्मा दल अलौकिक विचारों की तरलता में तन्मय होकर, दिव्य आकुलता का अनुभव करता है।

पुस्तकालय वह यज्ञ-स्थान है, जहाँ मनुष्य अपनी रुचियों का परिष्कार करता है; अपनी प्रवृत्तियों को परिष्कृत पथ पर अग्रसर होने को प्रेरित करता है और अपने जीवन की ग्रंथियों को सुलझा कर जीवन-मार्ग का दिव्य दर्शन करता है।

पुस्तकालय अतीत का खंडहर और काल-पुरुष का बोलता चित्र है, जिसमें मानव के बुद्धि-विलास-वैभव की आत्मा प्रतिध्वनित होती रहती है।

पुस्तकालय मानव की दिव्यता का द्योतक, ज्ञान का संकेतक और लौकिक जीवन की पूर्ण सफलता का आलय है। मानव-जीवन की

समस्त गति-विधि का कोषागार है, जहाँ जिज्ञासु-जन प्राचीन पृष्ठों से नवीन का निर्माण करने की क्षमता प्राप्त करते हैं।

पुस्तकालय में निर्माण और उन्नति के बीज सुरक्षित हैं। यदि वाल्मीकि, व्यास, भारवि, घाघ, हर्ष, बाण आदि कवियों की आत्मा से परिचित पाना हो; रूसो, वाल्टेयर, कार्लमार्क्स, लेनिन के क्रांतिकारी विचारों का अवलोकन करना हो; यदि कबीर, तुलसी आदि संतों की वाणियों से हृदय को परिस्रावित करना हो; यदि महावीर, ईसा, मुहम्मद, गाँधी आदि अतिमानवों के दिव्य संदेशों की अभिज्ञता प्राप्त करनी हो; यदि मोपाँसा, टाल्सटॉय, रवींद्र, प्रेमचंद आदि के नवीन स्वप्नों से जीवन को परिपूर्ण करना हो तो पुस्तकालय अनिवार्य है।

यदि दया, क्षमा, करुणा, ममता, शोषण, उत्पीड़न, बर्बरता, क्रूरता आदि मानव-प्रवृत्तियों के सक्रिय रूप की कहानी जाननी हो; यदि प्राचीन संस्कृति और सभ्यता के विकास का रोमांचकारी इतिहास जानना हो तो पुस्तकालय अनिवार्य है।

पुस्तकालय विश्व का यथार्थ विश्वविद्यालय है; पुस्तकालय ज्ञान का मनोरम उद्यान है, जिसमें सैर करने से कभी मन नहीं अघाता। पुस्तकालय अज्ञान-अंधकार से अच्छादित मानव-हृदय के लिए ज्ञान का शाश्वत दीप है; पुस्तकालय मानव को साहित्य के पथ से जीवन की ओर अग्रसर होने को प्रेरित करता है; पुस्तकालय लोक-शिक्षा की सजीव शक्ति है।

और, विशुद्ध ज्ञान के संवर्द्धन में सहायता देना, जन-समाज के सम्मुख समुचित परिष्कृत जीवन-पथ प्रस्तुत करना तथा मानव-जीवन के आदर्श का अभिज्ञापन करना—यही पुस्तकों के भंडार-रूप पुस्तकालय का लक्ष्य है।

★

नदी-घाटी और जल-विद्युत-योजनाएँ

उद्देश्य—बड़ी-बड़ी नदियों को बाँध कर उनसे सिंचाई के लिए नहरें निकालने के साथ-साथ जल-विद्युत-शक्तियाँ उत्पन्न करना नदी-घाटी-योजनाओं का मुख्य उद्देश्य है। भारत में ऐसी अनेक योजनाएँ कार्यान्वित हो रही हैं, जिनमें मुख्य हैं—

१. **भाखड़ा-नंगल-योजना** :—इस योजना के अंतर्गत, पंजाब में सतलज नदी पर, रोपड़ नामक स्थान से ५० मील की दूरी पर, पहाड़ पर ६८० फुट ऊँचा एक बाँध प्रस्तुत हुआ है। इस बाँध के द्वारा नदी के बाढ़ के जल को सिंचाई और विद्युत-शक्ति पैदा करने के लिए रोका जाता है। संसार के सबसे ऊँचे, भारी और सीधे इस बाँध के पीछे ५० मील लंबा एक विस्तृत जलाशय है, जिसमें ७४ लाख घनफुट जल विद्यमान रहता है। नदी के वहाव की ओर ८ मील नीचे, नांगल में एक दूसरा सहायक बाँध प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त इस योजना के अंतर्गत चार विद्युत्-गृह और विस्तृत नहर-प्रणाली की योजनाएँ भी हैं। इस नहर-प्रणाली में भाखड़ा मुख्य नहर भी है। भाखड़ा-नहर, नंगल-नहर तथा इनकी शाखाओं एवं प्रशाखाओं की कुल लंबाई ३००० मील तक होगी, जिनके द्वारा पंजाब और राजस्थान की ३६ लाख एकड़ नयी जमीन सिंचाई के अंतर्गत आ जाती है। विद्युत्-गृहों में कुल मिला कर ५,६४,००० किलोवाट बिजली पैदा की जा सकेगी। प्रथम पंचवर्षीय योजना में ९६,००० किलोवाट विद्युत्-शक्ति दो बिजली-घरों में चार यंत्रों को लगा कर निकाली जाने लगी है। द्वितीय योजना-काल की समाप्ति तक चारों विद्युत्-गृह चालू हो जायँगे तथा ४,९८,००० किलोवाट विद्युत्-शक्ति और भी पैदा की जायगी। इस विश्व-विख्यात योजना पर कुल १५८ करोड़ ३३ लाख रुपये व्यय होने का अनुमान है।

२. दामोदर-घाटी-योजना :—भारत की औद्योगिक भूमि-पट्टी—छोटानागपुर की उपत्यका—में अवस्थित बहुलाभकारी दामोदर-घाटी-योजना के अंतर्गत चार बाँध हैं; तीन जल-विद्युत उत्पादन केंद्र (बिजली-घर) हैं; पूर्वी प्रदेश का सबसे विशाल वाष्प-चालित बिजली घर है; और अनेक द्वारवाला एक भव्य वार (रोक) है, जिसके कारण पश्चिम बंगाल में विस्तृत सिंचाई-प्रणाली को पानी मिलता है। बाँधों में तिलैया बाँध, कोणार बाँध और माइथोन का मिट्टी का बना बाँध—ये तीन प्रस्तुत हो चुके हैं। बोकारो में वाष्प-चालित बिजली-घर भी तैयार हो कर चालू है। दुर्गापुर में वार (वारेज) भी बन चुका है। इस योजना के अंतर्गत कुल ४,९४,००० किलोवाट विद्युत शक्ति का उत्पादन किया जायगा, जिसमें प्रथम योजना-काल में १,५४,००० किलोवाट प्राप्त हुई; शेष ३,४०,००० किलोवाट द्वितीय योजना-काल की समाप्ति तक मिलने लगेगी। लगभग सवा दस लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि नहर-प्रणाली से सिंचाई के अंतर्गत आ जायगी। कुल अनुमानित व्यय ९५ करोड़ २६ लाख रुपया है।

३. हीरा-कुंड-योजना :—इस योजना के अंतर्गत उड़ीसा में, संभलपुर से ९ मील ऊपर, महानदी पर मिट्टी का एक बड़ा बाँध बनाया गया है, जो हीरा-कुंड बाँध से प्रसिद्ध है और है संसार में मिट्टी का बना सबसे बड़ा बाँध। बाँध के दोनों सिरों से दो सिंचाई की नहरें निकाली जा रही हैं; दो बिजली-घर भी बनाये जा रहे हैं, जिनमें से एक मुख्य बाँध पर बन कर तैयार है और दूसरा सत्रह मील नीचे साख में बनाया जा रहा है। इन विद्युत्-शक्ति-उत्पादन-केंद्रों से प्रथम सोपान में १,२३,००० किलोवाट और द्वितीय सोपान में १,०९,५०० किलोवाट बिजली का उत्पादन किया जायगा। नहर-प्रणाली से लगभग पौने सात लाख एकड़ अतिरिक्त जमीन की सिंचाई की जा सकेगी। योजना पर ७० करोड़ ७८ लाख रुपये व्यय किया जाने को है।

४. तुंगभद्रा योजना :—इस योजना के अंतर्गत एक १७० फुट ऊँचा पक्का बना बाँध; एक विस्तृत जलाशय और दो नहर-प्रणालियाँ तथा

बाँध और नहरों पर चार जल-विद्युत् उत्पादन-केंद्र (बिजली-घर) हैं। इससे विशाल भू-भाग की सिंचाई तो होगी ही; साथ ही आंध्र-हैदराबाद तथा मैसूर राज्यों में अधिक बिजली भी उपलब्ध होने लगेगी। इस योजना का अधिकांश कार्य हो चुका है। इस योजना पर कुल ४६ करोड़ ६४ लाख रुपये व्यय होने को है। बिजली-घरों से कुल १,०८,००० किलोवाट बिजली उपलब्ध हो सकेगी। नहर-प्रणाली के अंतर्गत ८ लाख २० हजार एकड़ अतिरिक्त भूमि की सिंचाई की व्यवस्था हो जाती है।

५. **कोसी बाँध योजना :**—इस योजना के अंतर्गत बिहार में कोसी नदी की बाढ़ों की रोक--थाम होगी। पहली अवस्था में ६६ करोड़ रुपये के खर्च से बराह क्षेत्र में एक बाँध बनाया जा रहा है, जिससे कि उक्त क्षेत्र में २६ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई हो सकेगी और ४०,००० किलोवाट बिजली पैदा होगी। इस योजना का कार्य प्रारंभिक अवस्था में ही है।

*

भारत में वस्त्र-व्यवसाय

भारत का वस्त्र-व्यवसाय अति प्राचीन-काल में बहुत उन्नति पर था। विश्व के बाजार में भारतीय वस्त्र-व्यवसाय को प्रतिष्ठा का पद प्राप्त था; जबकि भारत की मस्लिन, रंगीन छींट और रेशमी वस्त्र मिस्र, यूनान और रोम के राजा-राजकुमार तक पहनने को लालायित रहते थे। उन्नीसवीं शती के प्रारंभ तक भी यूरोपीय देशों में भारतीय वस्त्रों का विस्तृत बाजार रहा। लेकिन, औधोगिक क्रांति के फलस्वरूप भारत के हाथ से बुने वस्त्र के व्यवसाय को पश्चिमी देशों के मशीनों से वने बस्त्र के व्यवसाय ने बहुत पीछे ढकेल दिया।

लेकिन, भारत ने भी औद्योगिक क्रांति के साथ चलने का इस क्षेत्र में प्रयास किया और सन् १८१८ ई० में सबसे प्रथम मशीनों से कपड़े

तैयार करने की दो मिलें भारत के कलकत्ता और बंबई में चालू हुईं। उसी साल बंबई में बंबई स्पिनिंग एंड वभिंग मिल्स की स्थापना हुई।

पश्चात् सन् १८६६ में ३,४०० करघों के साथ १३ मिलें, सन् १८८० में १३,००० करघों के साथ ५६ मिलें तथा सन् १९०५-६ में २०४ मिलें चलने लगीं, जिनमें प्रतिदिन २१,२७,००० मजदूर प्रतिदिन खटने लगे। उस समय तक ६८०० लाख पौंड सूत और ५६०० लाख गज वस्त्र प्रति वर्ष तैयार होने लगे थे। प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व सन् १९१४ में देश भर में २७१ मिलें १,०४,१७९ करघों के साथ थीं। प्रथम यूरोपीय युद्ध के कारण विदेशों से वस्त्र के आयात को धक्का लगा और भारतीय वस्त्र-उत्पादन को प्रोत्साहन मिला। फलतः, सन् १९२० से १९२६ तक मिलों की संख्या ३५२ तक पहुँच गई और सूत की उत्पादन में २५ प्रतिशत तथा वस्त्र के उत्पादन में प्रायः ४० प्रतिशत की वृद्धि हुई। इसके बाद कुछ तो हड़तालों के चलते और कुछ विश्व-बाजार की मंदी के चलते सन् १९३५ तक विशेष प्रगति नहीं देखी गई। सन् १९२८ में मिलों की संख्या ३५८ रही। फिर सन् १९३६ से द्वितीय विश्व-युद्ध के छिड़ने तक इस दिशा में अच्छी प्रगति रही। सन् १९३९ में, २,०२,४६४ करघों से युक्त ३८९ मिलें चालू थीं। द्वितीय विश्व-युद्ध की अवधि में सूत और वस्त्र की कीमत इतनी ऊँची उठ गई कि इस व्यवसाय में मिलों को अत्यधिक मुनाफा हुआ और बढ़ती हुई माँग के कारण उत्पादन में भी पर्याप्त वृद्धि हुई। सन् १९४४ के मार्च के अंत तक यानी तीन ही महीनों में भारतीय मिलों ने ४८१००'६ लाख गज वस्त्र तथा १६,८०० लाख पौंड सूत तैयार कर लिया था।

आजकल भारत में, पाकिस्तान को छोड़कर, कुल ४६१ मिलें चल रही हैं और २२ मिलें और भी खुलने जा रही हैं। सन् १९५५ ई० में इन मिलों ने ५०,००० लाख गज वस्त्र तैयार किया था, जिसमें ८१५० लाख गज वस्त्र निर्यात किया गया था। लेकिन, जहाँ सन् १९५४ ई० में ८९७०'७० लाख गज कपड़े का निर्यात किया गया था, वहाँ सन्

१९५५ ई० में निर्यात में ८२०'७० लाख गज की कमी देखी जाती है। भारत के उद्योग-मंत्री ने तो सन् १९५४ और १९५५ ई० के बीच मिलों के बने कपड़े के निर्यात में १,१७० लाख गज की कमी बताई है, जिसके चलते विदेशी विनिमय-प्राप्ति में ९ करोड़ रुपये की न्यूनता आई।

वस्त्र-व्यवसाय की प्रगति के साथ-साथ प्रति व्यक्ति उपभोग में भी वृद्धि होती जा रही है। सन् १९५५ ई० में प्रति व्यक्ति वस्त्र-उपभोग १५'९ गज था। सन् १९५६ में उपभोग दर १६'८ गज तक पहुँच चुकी है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना की समाप्ति पर इस उपभोग-दर को बढ़ाकर २२ गज प्रति व्यक्ति तक पहुँचा देने का संकल्प है। अनुमान किया गया है कि सन् १९६०-६१ तक वस्त्र-उत्पादन प्रति वर्ष ७०,००० लाख गज तक होने लगेगा, जिसमें १६,००० लाख गज वस्त्र हाथ-करघों के द्वारा प्रस्तुत किया जा सकेगा, शेष ५४,००० लाख गज मिलों द्वारा तैयार होगा। इस से पता चलता है कि हैंडलूमों को विशेष प्रोत्साहन दिया जायगा। मिलों द्वारा वस्त्र उत्पादन में मात्र ४००० लाख गज की ही वृद्धि की जायगी, पाँचवर्षों के भीतर।

अंबर चरखा :—हैंडलूमों द्वारा प्रति वर्ष १६००० लाख गज वस्त्र तैयार कराने के लिए अंबर चरखों से सूत तैयार कराने की योजना है। इस के लिए कुल २५ लाख अंबर चरखों को चालू कराने की आवश्यकता होगी। एक अंबर चरखे से १२ से २० औंस तक १५-१६ लच्छी सूत आठ घंटे में काता जा सकता है। इस हिसाब से २५ लाख चरखों से ४१२० लाख पौंड सूत और १५,००० लाख गज वस्त्र प्रति वर्ष तैयार हो सकेंगे। साथ ही, अंबर चरखों के सहारे हैंडलूमों को प्रोत्साहन देने से देश की बेकारी भी बहुत अंश में दूर हो जायगी। ५० लाख व्यक्ति चरखों पर काम करके प्रति दिन बारह आने की दर से अर्जन करेंगे; ८'४६ लाख बुनकरों की तथा ४'२५ लाख उनके सहायकों की, ७२,००० बढ़इयों की तथा २०,००० उनके सहायकों की आवश्यकता पड़ेगी।

★

सैनिक प्रशिक्षण

चाहे प्रभुता के मद से मदहोश होकर, चाहे लोभासक्त होकर, एक ने दूसरे को दबाना चाहा। दूसरे ने आत्म-रक्षा करनी चाही, उसका सामना करके। पहले ने झट प्रहार कर दिया; दूसरे ने उसे रोका। दोनों भिड़ गये; सैनिक बन गये। दमन और आत्म-रक्षा—इन्हीं दो परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों ने मानव-हृदय में सैनिक-भावना जाग्रत की, इसे सक्रिय रूप दिया, जिसे हमने युद्ध की संज्ञा दी।

एक वह भी युग था, जब कि जातियाँ आपस में जूझती थीं। एक जाति दूसरी पर चढ़ बैठती थी; दूसरी जाति अपनी रक्षा के निमित्त डट जाती थी। शरीर से समर्थ प्रत्येक व्यक्ति को सैनिक होने के लिए बाध्य होना पड़ता था—चाहे दूसरे को मारने के लिए, चाहे आत्म-रक्षा के लिए! व्यक्ति सैनिक नहीं बना, जाति सैनिक बनी। मानव में विवेक का अभाव था।

मानव में विवेक आया; सभ्यता आगे आई; श्रम का विभाजन हुआ; सैनिक वर्ग की सृष्टि की गई; जाति ने व्यक्ति को अपनी रक्षा का भार सौंप दिया; व्यक्ति ने प्रभुता प्राप्त कर उसका दुरुपयोग करना प्रारंभ किया। सेना देश की, प्रजा की रक्षा करती; विजेता बनने के लिए विजय-यात्रा भी करती। देश-रक्षक सेना पराजित होती; देश विजीत सेना के हाथ चली जाती; प्रजा के जीवन में कोई खलल नहीं पड़ती; उसके रक्षक बदल जाते।

सभ्यता बहुत आगे बढ़ी, विज्ञान ने इसे सातवें आसमान पर ले जाकर चमका दिया। व्यक्ति की महत्त्वाकांक्षा राष्ट्र की महत्त्वाकांक्षा बन गई। मानव ने अपने को समझा व्यक्ति के रूप में; मगर अपनी महत्त्वाकांक्षा को परिपुष्ट करने लगा राष्ट्र-भावना का आसव पिला कर। विश्व

के दो रूप हुए—एक काला, दूसरा गोरा ; दो विभाग हुए—एक पूर्व, दूसरा पश्चिम। विश्व के मानवों के भी दो वर्ग हुए—एक शोषक, दूसरा शोषित! वसुंधरा वीर-भोग्या बन कर सैनिकों की चक्की में पिसने लगी, कराहने लगी।

मशीन-चालित यंत्रों का आविष्कार हुआ, आग्नेय अस्त्रों का विकास हुआ—मशीनगन, हवाई बम, स्वतः-चालित बमगोले; अंत में, छूमंतर में विश्व को संहार करने वाले अटम बम, हाइड्रोजन बम। जल-थल, आकाश—तीनों रण-क्षेत्र में बदल गये। फलतः, जहाँ आक्रमणकारियों के रूप में सारे राष्ट्र को सैनिक प्रशिक्षण लेना पड़ा वहाँ आत्मरक्षा के निमित्त भी सारे राष्ट्र को सैनिक प्रशिक्षण लेने के लिए बाध्य होना पड़ा। हाँ, आदि काल में जाति या फिरका सैनिक था, मध्य युग में वर्ग-विशेष सैनिक बना और आधुनिक युग में सारे राष्ट्र को सैनिक बनने के लिए बाध्य होना पड़ता है।

अतएव, आज वैज्ञानिक चमत्कार के युग में, यदि मानवता के नाते आक्रमण करने के लिए नहीं, तो किसी भी क्षण होनेवाले आक्रमण के मुकाबले आत्म-रक्षा के लिए ही सही, राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक के लिए सैनिक-शिक्षा आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। और, यह अनिवार्यता तबतक रहेगी, जबतक कि मानवता की भावना अत्यंत प्रबल होकर राष्ट्र-भावना को अपना विराट् स्वरूप प्रदान नहीं करेगी और संकुचित राष्ट्र-भावना की आड़ में व्यक्ति की महत्त्वाकांक्षा को उभड़ने का प्रश्रय मिलता रहेगा। हाँ, जबतक विश्व में शोषण की मनोवृत्ति का अंत नहीं होगा ; स्वार्थ के हिंसात्मक रूप का विनाश नहीं होगा ; सबका उदय, सब का उत्कर्ष—इस सर्वोदय-भावना का प्राबल्य नहीं होगा ; मानव पंचशील के सिद्धांतों को सच्चे हृदय से अंगीकृत नहीं करेगा ; तबतक प्रत्येक राष्ट्र को अपनी रक्षा का प्रबंध करना ही पड़ेगा। और, यह तभी संभव है, इस वैज्ञानिक युग में, जब कि सारे राष्ट्र को सैनिक प्रशिक्षण रहे, क्योंकि आज के युग में आक्रमणकारियों के

विध्वंसक अस्त्र वर्ग-रूप में सैनिकों का संहार नहीं करते; सारे राष्ट्र का संहार करते हैं; सभ्यता और संस्कृति का संहार करते हैं। ऐसी परिस्थिति में, सैनिक ही अपनी रक्षा कर सकते हैं; सैन्य-कला-विहीन नागरिकों की रक्षा असंभव हो जाती है।

भारत एक तटस्थ राष्ट्र है; विश्व के सभी राष्ट्रों को मित्र बना कर रखना चाहता है; लेकिन यदि तृतीय विश्व-युद्ध छिड़ जाय तो क्या इसे महत्त्वाकांक्षी राष्ट्र अछूता छोड़ देंगे, इसकी तटस्थ नीति का आदर करने को सुबुद्धि उनमें आवेगी? कदापि नहीं, इजिप्ट भी तो तटस्थ राष्ट्र है; फिर भी ब्रिटेन और फ्रांस उस पर चढ़ बैठे – अकारण! अतएव, आज सबल तथा निर्बल, हिंसक तथा अहिंसक—सभी राष्ट्रों के नागरिकों के लिए सैनिक प्रशिक्षण अनिवार्य हो रहा है।

भारत भी इस अनिवार्यता का अनुभव करता है। तभी तो यहाँ की सरकार ने अपने भावी नागरिकों को—विद्यार्थियों को—आवश्यकता पड़ने पर, सैनिक वेश में देखने के लिए विद्यालयों में सैनिक प्रशिक्षण की व्यवस्था कर रखी है। नेशनल कैडेट कौर—एन० सी० सी०—के सीनियर कोर्स में प्रतिवर्ष ३० हजार और जुनियर कोर्स में १ लाख ३५ हजार छात्र-छात्राओं को सैनिक प्रशिक्षण दिया जा रहा है।

इसके अतिरिक्त क्षेत्रीय सैन्य-संगठन के लिए भी सैनिक प्रशिक्षण की व्यवस्था की गई। और, इसके लिए भी अब तक विभिन्न राज्यों में १ लाख ३५ हजार नागरिकों को प्रशिक्षण दिया जा चुका है—आसाम, बंबई, बिहार, उड़ीसा, मध्यप्रांत, पंजाब, मद्रास और उत्तर प्रदेश इस क्षेत्रीय सेना – टेरिटोरियल फोर्स – की योजना से लाभान्वित हैं। यह क्षेत्रीय सेना राष्ट्र-रक्षा की द्वितीय पंक्ति का निर्माण करती है।

आत्म-रक्षा की द्वितीय पंक्ति को सुदृढ़ बनाये रखने के लिए ही, विभिन्न राज्यों में अलग-अलग सैनिक प्रशिक्षण की व्यवस्था कर मिलेटरी पुलिस का भी संगठन किया गया है—जैसे; बिहार में बिहार मिलेटरी पुलिस के प्रशिक्षण की व्यवस्था—बी० एम० पी०।

और, सारे राष्ट्र की रक्षा के लिए प्रथम रक्षा-पंक्ति में भारत की रक्षा-वाहिनी के तीनों विभागों—स्थल सेना, जल-सेना, हवाई सेना—इनफेंटरी, नेवी, एयर फोर्स—को सुदृढ़ बनाने के लिए सैनिक प्रशिक्षण का विकास भी तीव्र गति से हो रहा है।

★

हमारे राष्ट्र के तीन प्रहरी

हमारी रक्षा-वाहिनी के तीनों स्तंभ हमारे देश के तीन जबर्दस्त प्रहरी हैं—आर्मी, नेभी, एअरफोर्स—स्थल-वाहिनी, जल-वाहिनी और आकाश-वाहिनी !

भारतीय सेना ने आजतक कभी दूसरे राष्ट्र को नहीं सताया ; कभी आक्रमणात्मक युद्ध में भाग नहीं लिया ; राष्ट्र की रक्षा करना तथा उत्पीड़ित राष्ट्रों की सहायता करना ही इसका उद्देश्य रहा है। और, इसी कारण हमारे सैनिक मरना जानते हैं, पीछे हटना नहीं जानते।

राष्ट्र स्वतंत्र है और इस स्वतंत्रता की रक्षा का भार हमारी रक्षा-वाहिनी पर है। भारत की सेना अपने इस महान् कर्त्तव्य के प्रति जागरुक है। स्वतंत्रता का उपयोग हमने साल भर भी नहीं किया था कि देश पर आफत आई। हमारे प्रहरी सजग थे। उन्होंने काश्मीर को आक्रमण-कारियों के चंगुल से छुड़ाया ; निजाम-हैदराबाद का उद्धार किया और विदेशों में जाकर कोरिया में अपनी वीरता दिखाई, हिंदेशिया की सहायता कर उसे साम्राज्य-वादियों के चंगुल से छुड़ाया।

हमारी स्थल-सेना विशाल है, आवश्यकता पड़ने पर इसे विराट् रूप धारण करने में भी देर नहीं लगेगी। नैशनल वार एकेडमी, मिलेटरी इंजीनियरिंग स्कूल, आर्म्ड फोर्सेज मेडिकल कालिज, डिफेंस सायन्स औरगानिजेशन आदि अनेक सैनिक-विद्यालय हमारे सैनिकों को ऐसा प्रशिक्षण दे रहे हैं, जो इंगलैंड में भी उपलब्ध नहीं।

हमारी आकाश-वाहिनी नयी है, स्वतंत्र भारत ने मात्र सात लड़ाकू विमानों तथा एक ट्रांसपोर्ट स्क्वार्डन से इसका प्रारंभ किया था ; मगर काश्मीर का उद्धार आकाश-वाहिनी ने ही किया। आज लड़ाकू जहाजों की संख्या सौ को भी पार कर चुकी है। प्रशिक्षण के लिए कोयम्बटूर में इनसियल ट्रेनिंग विंग है ; जोधपुर में एलीमेंट्री फ्लाईंग ट्रेनिंग स्कूल है ; अम्बाला में एडवांस्ड फ्लाईंग स्कूल है। बंगलोर और मद्रास में ग्राउण्ड इंजीनियरों को प्रशिक्षण दिया जाता है। पारा-ट्रूप्स को प्रशिक्षित करने की व्यवस्था भी की गई है।

(नौ-सेना के विकास पर पृथक् निबंध है।)

★

विश्व का आधुनिक रूप

जनसंख्या :—यों विश्व की जनसंख्या सतत् वृद्धिमाना है ; लेकिन आधुनिक युग में जनसंख्या की वृद्धि जिस द्रुत गति से हो रही है ; वैसी इतिहास के किसी युग में नहीं। यदि वृद्धि का यही क्रम रहा, तो आधी शती में, विश्व की जनसंख्या आज से दूनी हो जायगी—२ अरब ७० करोड़ से बढ़कर ५ अरब ५५ करोड़ तक पहुँच जायगी—जैसा कि पोपुलर रेफरेंस ब्यूरो, वाशिंगटन का अनुमान है।

युग-धर्म :—धर्म के चार चरण हैं, चार चक्र—चार युग—चार वर्ण। प्रथम चरण में सत्य युग रहा—सत्य की शिला पर प्रतिष्ठित कृत्य युग—ब्राह्मण-प्रधान युग—मानव-विवेक के विकास का उषाकाल—विवेक का बंधन—ज्ञान का अनुशासन—संयम-नियम का नियंत्रण—ब्राह्मण युग ! द्वितीय चरण में शौर्य-युग रहा—शौर्य की शिला पर संस्थापित संघर्ष-युग—क्षत्रिय-प्रधान युग—'धिक् बलं क्षत्रिय बलं, ब्रह्म तेजो महाबलं' के नारे के बावजूद ज्ञान प्रमुत्व की परिधि में:परिवेष्ठित तेज पर

शौय का रंग—क्षत्रिय-युग ! तृतीय चरण में वाणिज्य-युग आया—व्यवसाय की स्वर्ण-शिला पर आरोपित उद्योग-युग—वैश्य-प्रधान युग—शौर्य व्यावसायिक बुद्धि के प्रकोष्ठ में—ज्ञान-विज्ञान के प्रांगण में—लोहे, कोयले और मिट्टी-तेल के आश्रय में स्वर्ण का डालर, सटार्लिंग के रूप में निखार—विज्ञान-युग वैश्य युग ! चतुर्थ चरण में आने को है कर्म-युग—श्रम-शिला पर शांति का प्रतिष्ठापक श्रमयुग, जब कि श्रम की मर्यादा का महत्त्व समझ कर मानव शूद्र रूप में अपने यथार्थ रूप का दर्शन कर शांति की सांस लेगा—शूद्र-युग !

लेकिन, आज उद्योग और श्रम का संक्रांति युग है ; उद्योग-युग की चौघड़िया बिताकर, विश्व श्रम-युग की ब्राह्म-बेला में, उषा के प्रांगण में, अँगड़ाई ले रहा है।

विश्व के दो ग्रह :—लेकिन यह संक्रांति-युग विश्व के दो विशाल ग्रहों—राहु और केतु—से ग्रसित है। नयी दुनिया के अंचल पर अमेरिका के रूप में केतु चमक उठा है, जो विश्व के उद्योग को अपनी प्रभाव-रश्मियों से जकड़ने को प्रयत्नशील है ; डालरों की चकाचौंध में पड़कर विश्व के राष्ट्र उन रश्मियों के जाल में फँसते जा रहे हैं। पुरानी दुनिया के परदे पर रूस के रूप में में राहु चमक रहा है ; जो विश्व के श्रम को अपनी प्रभाव-किरणों से कसने को क्रियाशील है। विश्व-शांति के ये दोनों ग्रह, जब तक विश्व-नेतृत्व के मोह में आसक्त होकर पैंतरे भाँजते रहेंगे, तबतक शांति की शीतल किरणों के प्रकाश से विश्व जगमगा नहीं सकता।

लेकिन, पूर्व के क्षितिज पर, प्रशांत के वक्ष पर, शांति का स्निग्ध शशि, पंचशील के रूप में, अपनी पाँच प्रखर किरणों को बिखेर रहा है, जो विश्व के दोनों ग्रहों की आभा को मंद करने के लिए सर्वथा कटिबद्ध है।

विश्व के राष्ट्र :—आधुनिक विश्व में छोटे-बड़े, सब मिलाकर सौ से भी दो-चार अधिक ही राष्ट्र हैं, जो समानता, स्वतंत्रता तथा भ्रातृत्व की

आधार शिला पर विश्व-शांति का भव्य-भवन निर्माण करने को लालायित हैं—दो ग्रहों से ग्रसित रहने पर भी। इनमें ७१ स्वतंत्र राष्ट्रों तथा ८ न्यासी राष्ट्रों ने संयुक्त राष्ट्र-संघ के रूप में अपने विराट रूप के दर्शन कर लिये हैं; शेष भी इसमें जुटने को उत्सुक हैं।

संयुक्त राष्ट्र-संघ :—राष्ट्रों के इस विराट रूप के छः मुख हैं और ७६ हाथ। यह विराट-राष्ट्र-पुरुष पाँच भाषाओं में अपने संदेश देता है—चीनी, अंग्रेजी, फ्रेंच, रूसी और स्पेनिश भाषा में। इसका ध्वज है हल्के रंग का, जिसके मध्य में, चमकीले श्वेत रंग का इसका प्रतीक है–जैतून की छोटी डालियों को आलिंगन करते हुए विश्व के मानचित्र के रूप में। लेकिन, यहाँ भी दोनों ग्रह हावी हैं।

अन्य संबद्ध अंतर्राष्ट्रीय लोक-संस्थाएँ :—लोक-कल्याण की अभिकर्त्तृ दस अन्य राष्ट्रीय संस्थाएँ भी संयुक्तराष्ट्र-संघ से संबद्ध होकर विश्व-राष्ट्र के निर्माण में संलग्न हैं। वे हैं—(१) अंतर्राष्ट्रीय मजदूर-संघ—इंटर नैशनल लेबर औरगनिजेशन (I. L. O.); (२) खाद्य कृषि-संघ—फुड एण्ड एग्रीकलचर औरंगनिजेशन (F. A. O.); (३) संयुक्तराष्ट्र शिक्षा-विज्ञान और संस्कृति-संघ—युनाइटेड नेशन्स एजुकेशनल, साइंटिफिक एण्ड कलचरल औरगनिजेशन (UNESCO); (४) इंटरनेशनल सिविल एवियेशन औरगनिजेशन (I. C. A. O.); (५) इंटर नेशनल बैंक ("Bank"); (६) इंटरनेशनल मोनेटरी फंड ("Fund"); (७) विश्व-स्वास्थ्य-संघ—वर्ल्ड हेल्थ औरगनिजेशन (W. H. O.); (८) युनिवर्सल पोस्टल युनियन (U. P. U.); (९) इंटरनेशनल डेली-कौमनिकेशन युनियन (I. T. V.); (१०) वर्ल्ड मेट्रोलौजिकल औरगनिजेशन (W. M. O.)।

अन्य अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक गुट :—विश्व के दो दिग्गजराष्ट्रों—अमेरीका और रूस—के अपने-अपने प्रभाव-क्षेत्र के विस्तार की कूटनीति के चपेट में पड़कर विश्व के राष्ट्र कई गुटों में बँट गये हैं। एक ओर तो डालरों तथा रूबलों के स्वर्ण जाल बिछाकर और दूसरी ओर प्रतिरक्षा

की आड़ में सैनिक संधियों का फँदा फैलाकर दोनों राष्ट्र सारे विश्व पर अपना-अपना नेतृत्व लादने में व्यस्त हैं। फलतः अनेक गुटों में विश्व के राष्ट्र विभक्त हैं।

१. बारसा-संधि के राष्ट्र :—सैनिक-संधि का यह फँदा रूस की ओर से फैलाया गया है, जिसके अंतर्गत पूर्वीय यूरोप के प्रायः एक दर्जन राष्ट्र फँसे हुए हैं—पोलैंड, जेकोस्लोवाकिया, जुगोस्लाविया, पूर्व जर्मनी, हंगरी, रूमानिया, बलगेरिया आदि। लेकिन ये सभी त्रस्त हैं, भयभीत हैं, मुक्त होने को छटपटा रहे हैं—हंगरी में अशांति खुलकर खेलने भी लगी है।

२. नाटो के राष्ट्र :— एक ओर तो मार्शल-योजना के अंतर्गत युद्ध-जर्जर पश्चिम यूरोप के राष्ट्रों को, विकसित करने के बहाने अमेरीका ने अपने प्रभाव में लाया और दूसरी ओर उनकी प्रति-रक्षा के लिए उन्हें नार्थ अटलांटिक ट्रीटी औरगनिजेशन की सैनिक-संधि-सूत्र में जकड़ कर रख छोड़ा है। डेढ़ दर्जन राष्ट्र इस जाल में फँसे हुए हैं—ब्रिटेन, फ्राँस, पश्चिम जर्मनी, हालैंड, वेलजियम, डेनमार्क, स्वीडन, नार्व, इटली आदि।

३. बगदाद संधि के राष्ट्र :—अमेरीका ने मध्यपूर्व (पश्चिम एशिया) के राष्ट्रों को मिड्लईस्टडिफेंस औरगनिजेशन—मेडो—की सैनिक-संधि के जाल में फँसाना चाहा था; मगर अरब संधि के अधिकांश मुस्लिम राष्ट्र इस में नहीं फँस सके; मेडो अपने लक्ष्य को नहीं पा सका। तब ब्रिटेन ने बागदाद-संधि का फँदा फैलया, जिस में मात्र चार मुस्लिम राष्ट्र फँस पाये हैं—पाकिस्तान, ईरान, ईराक और तुर्की। शेष सभी मुस्लिम राष्ट्र इससे सतर्क हो गये हैं। अतएव, यह संधि भी प्रभावहीन होकर दिन गिनने लगी है।

४. सीटो के राष्ट्र :—सीटो भी अमेरीका-ब्रिटेन द्वारा पसारा गया सैनिक-संधि का ही एक फँदा है, जो दक्षिण-पूर्व एशियाई राष्ट्र को फँसाने के अभिप्राय से फैलाया गया था—साउथ-ईस्ट-एशियाट्रीटी औरगनिजेशन या डिफेंस औरगनिजेशन—सीटो या सीडो। लेकिन, इसमें अधिक राष्ट्र नहीं फँस पाये और यह निष्प्रभ रह गया।

५. कोलम्बो राष्ट्र :—यह गुट किसी सैनिक-संधि से आवध्य नहीं है; बल्कि स्वेच्छा से संगठित पाँच राष्ट्रों का—भारत, पाकिस्तान, बर्मा, लंका और हिंदेशिया—का एक गुट है, जो चाहता है कि एशिया के झगड़े का शांतिपूर्ण निपटारा एशिया के ही राष्ट्र कर सकते है, रूस या अमेरीका नहीं। लेकिन, मिस्र तथा हंगरी के मामले में इस गुट के द्वारा प्रसारित वक्तव्य पर पाकिस्तानने हस्ताक्षर नहीं किये।

६. वांडुंग-राष्ट्र :—इस गुट में एशिया तथा अफ्रीका के २६ तटस्थ राष्ट्र सम्मिलित हैं, जो पंचशील के सिद्धांत पर आधारित विश्व-शांति में मानवता का कल्याण देखते हैं। लाटिन अमेरीका, तथा यूरोप के भी अनेक राष्ट्र उसमें स्वेच्छा से सम्मिलित होने को लालायित है। भारत और चीन इसके प्रवर्तक हैं।

७. अरब-संघ के राष्ट्र :—इस संघ में अफ्रीका तथा पश्चिम एशिया के आध दर्जन से भी अधिक तटस्थ मुस्लिम राष्ट्र सम्मिलित हैं—मिस्र, साउदी अरबिया, सीरिया, जोर्डन, लेबनान, येमन, आदि। अमेरीका और रूस दोनों उन्हें अपने-अपने प्रभाव क्षेत्र में लाने को परीशान हैं; लेकिन ये तटस्थ रहेंगे।

★

शिक्षित वर्ग और बेकारी की समस्या

बेकारी क्या है :—कार्य के अभाव से बेकारी पैदा होती है। यह एक संक्रामक रोग के समान है, जो बेकारों के साथ-साथ देश के आर्थिक जीवन को भी अपाहिज और पंगु बना देती है। जिस देश में अधिकांश व्यक्ति बेकार हों, भूखे हों और सामर्थ्य के अनुसार कार्य नहीं पा रहे हों, वह देश कदापि समृद्धिशाली नहीं हो सकता। कारण, बेकारों का श्रम उत्पादन-वृद्धि में सहायक नहीं हो पाता; यों ही बेकार चला जाता है;

फलतः उत्पादन की मात्रा में न्यूनता आ जाती है। संक्षेप में, बेकारी देश की आर्थिक अवस्था को नीचे गिराती है, ऊपर नहीं उठने देती।

शिक्षितों में बेकारीः—शिक्षा उत्तरोत्तर प्रगति की ओर जा रही है। लेकिन, जहाँ शिक्षा के प्रसार से एक ओर तो निरक्षरता तथा अज्ञान का निवारण होता है, वहाँ बेकारी-जैसे रोग की भी वृद्धि होती जा रही है। ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् उसका सदुपयोग करना अवसर और परिस्थिति पर निर्भर करता है। अतएव, किसी राज्य की ओर से शिक्षा प्राप्त करने की सुविधा प्रदान कर देने से ही नागरिकता के प्रति उसके उत्तर-दायित्व का अंत नहीं हो जाता। शिक्षा की सुविधा देने के साथ-साथ शिक्षित युवकों का, उनकी योग्यता के अनुसार, काम मिलने की सुविधा मिलनी ही चाहिए। लेकिन, हमारे देश में, शिक्षित वर्ग में बेकारी की समस्या दिनोंदिन जटिलतर होती जा रही है। तभी तो, एक चपरासी के पद लिए मैट्रिकुलेट तक आवेदक बनते हैं और मैट्रिकुलेट की जहाँ आव-श्यकता होती है, वहाँ बी० ए०, एम० ए० तक दौड़ लगाते हैं। अनुमान किया गया है कि हमारे देश में ५५ लाख से भी अधिक शिक्षित बेकार जीविका के लिए मारे-मारे फिरते हैं। आंध्र में ३० हजार, बिहार में ३२ हजार, बंबई में ७५ हजार, मद्रास में ६५ हजार, पंजाब में २५ हजार और उत्तर प्रदेश में एक लाख शिक्षित बेकार हैं। और, शिक्षित वर्ग में फैली हुई बेकारी देश की आर्थिक अवस्था पर ही प्रभाव नहीं डालती, बल्कि राजनीतिक असंतोष की सृष्टि कर, देश की शांति और व्यवस्था में भी खलल डाल सकती है।

निराकरणः—मूल बात यह है कि हमारे देश की वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली ही ऐसी दूषित है कि राज्य इस प्रणाली के अंतर्गत शिक्षित युवकों की सेना को उत्पादन-क्षेत्र के किसी भी मोर्चे पर तैनात नहीं कर सकता। अतएव, शिक्षितों में बेकारी नहीं रहे—इसके लिए शिक्षा-पद्धति में ही आमूल परिवर्तन करने की आवश्यकता है। अतएव, शिक्षा की योजना ऐसी बनाई जाय कि शिक्षित व्यक्तियों के अनुकूल कार्य-क्षेत्र राज्य

की ओर से प्रस्तुत किया जा सके। और ऐसा तभी संभव है, यदि टेकनिकल शिक्षा के प्रसार पर अधिकाधिक जोर डाला जाय। आज देश के आर्थिक नव-निर्वाण के क्षेत्र में इंजीनियरों, कृषि-स्नातकों आदि की अतीव आवश्यकता है और टेकनिकल शिक्षा प्राप्त व्यक्ति बेकार रह नहीं सकते। आज की सामान्य शिक्षा-पद्धति में सबसे बड़ा दोष यह है कि शिक्षित व्यक्ति बाबूगिरी के काम को छोड़ कर ऐसा कोई भी कार्य करने की क्षमता खो बैठते हैं, जिसमें शारीरिक श्रम की अपेक्षा रहती है और जो उत्पादन-वृद्धि के लिए किया जाता है। केवल क्षमता ही नहीं खो बैठते, बल्कि शारीरिक श्रम के प्रति घृणा की भावना की भी सृष्टि करते हैं। सामान्य शिक्षा-पद्धति को इस दोष से मुक्त करने के लिए ही बुनियादी शिक्षा-पद्धति को कार्यान्वित किया जा रहा है; मगर इसमें भी ऐसा कोई आकर्षण नहीं देखा जाता कि शिक्षार्थी इस ओर विशेष रूप से आकृष्ट हों। संक्षेप में, शिक्षा के साथ उद्योग का सामंजस्य हो तथा राष्ट्रीयता की नींव पर शिक्षा-पद्धति का नव-निर्माण किया जाय तभी शिक्षितों की बेकारी की समस्या हल हो सकती है। प्रसन्नता की बात है, विभिन्न उद्योगों का विकास कर, उनकी ओर शिक्षित वर्ग को आकृष्ट करने की व्यवस्था करने की दिशा में राज्य सचेष्ट हैं।

★

विद्यार्थी-समाज और अनुशासन

अनुशासन क्या है—इसमें संदेह नहीं कि स्वतंत्रता मानव का जन्म-सिद्ध अधिकार है; लेकिन इसकी सार्थकता तभी है, जबकि व्यक्ति एक दूसरे की स्वतंत्रता को समझे, उसका आदर करे। मानव एक सामाजिक प्राणी है; समाज में रह कर ही व्यक्ति विकास की ओर अग्रसर हो सकता है और अपने को विकसित कर समाज को भी प्रगतिशील बना सकता है। तभी तो, स्वेच्छा से अथवा यों कहिए कि समान स्वार्थों तथा उद्देश्यों की

रक्षा की भावना से उत्प्रेरित होकर व्यक्ति ने, अपनी स्वतंत्रता को स्वच्छंद होने से बचाने के लिए, सयंम-नियम के घेरे में अनुशासन के सूत्र से आबद्ध कर रखा है। और, यदि यह सूत्र टूटता है तो संयम नहीं रहता। और संयम के अभाव में व्यक्ति स्वच्छंद तथा समाज विश्रृंखल हो जाता है।

विद्यार्थी और अनुशासन :—शील और शिष्टाचार के अभ्यास से ही व्यक्ति में अनुशासन की भावना आती है। अपने अधिकारों के उपयोग के सिलसिले में अपने कर्त्तव्य-पालन की चेतना ही अनुशासन की जननी है। अतएव, बचपन से ही अनुशासन में रहने का अभ्यास व्यक्ति को करना पड़ता है। तभी तो विद्यार्थी-समाज के लिए अनुशासन का निर्वाह भावी नागरिकता की पहली शर्त्त माना गया है। अनुशासित विद्यार्थी ही राज्य के सफल नागरिक बन सकते हैं।

अनुशासन का अभाव:—कहा जाता है कि भारत के विद्यार्थियों में अनुशासन का अभाव हो रहा है। क्यों? इसके कारण बताये जाते है—(१) स्वतंत्रता-प्राप्ति के सिलसिले में यहाँ के विद्यार्थियों को विदेशी शासन के विरुद्ध आंदोलन में भाग लेने के निमित्त अनुशासन के बंधन को शिथिल करने की जो प्रेरणा मिली, उसी का फल है आज की अनुशासन-हीनता। (२) शिक्षा की पुरानी प्रणाली ही ऐसी दूषित है कि इसके अंतर्गत शिक्षा पाने वाले विद्यार्थी अपने सामने अंधकारमय भविष्य देखते हैं। फलतः न तो उनमें उत्तरदायित्व की भावना उत्पन्न होती है और न अनुशासन के अंतर्गत रहने में कोई आकर्षण ही वे पाते हैं। (३) लोकतंत्र के आदर्शों की उपेक्षा के चलते शिक्षालयों के शिक्षक, जहाँ एक ओर अपने-अपने स्वार्थ की रक्षा तथा उन्नति के निमित्त गुटबंदी के शिकार बनकर शिक्षण-कार्य की उपेक्षा करते हैं, वहाँ विद्यार्थी भी सिफारिशों के भरोसे अपने भविष्य-निर्माण का सुख-स्वप्न देखते हुए, अनुशासन की ओर से लापरवाह बने रहते हैं और राजनीतिक दलों की गुटबंदी में फँस जाते हैं।

अतएव, यह आवश्यक है कि विद्यार्थियों को अनुशासन में रखने के लिए केवल उन्हीं को उपदेश नहीं देकर, शिक्षा-पद्धति के दोषों को दूर कर, शिक्षा को इस तरह का स्वरूप प्रदान किया जाय कि शिक्षा पानेवाले को भविष्य की चिंता विद्यार्थी-जीवन से ही भयंकर रूप से नहीं सताने लगे। विश्वविद्यालय को इस रूप में लाया जाय कि अध्यायपक-गण अपनी स्वार्थ-रक्षा तथा उन्नति के लिए सिफारिशों के ही साधन नहीं समझें और अपने कर्त्तव्य-पालन की भावना को सजग रखने में समर्थ हो सकें। साथ ही, शिक्षकों तथा छात्रों का संबंध मधुर, आकर्षक और अनुकरणीय रहे। और, यह तभी संभव है, जब कि शिक्षक तथा शिक्षार्थी, दोनों अपने-अपने कर्त्तव्य और अधिकार के प्रति सदा सतर्क रहें।

*

राष्ट्र का स्वरूप

राष्ट्र क्या है—एक निश्चित भूभाग में स्थायी रूप से वास करने वाले लोगों का वह समग्र रूप, जो समान स्वार्थों, समान उद्देश्यों तथा मिलती-जुलती संस्कृति की आधार-शिला-पर प्रतिष्ठित समाज में शांति और सुरक्षा बनाये रखने के लिए, एक राज्य के रूप में संगठित रहता है—राष्ट्र कहलाता है। कुछ दिन पहले एक निश्चित भूभाग के रहनेवाले, समान भाषा बोलने वाले, समान इतिहास रखने वाले, समान धर्म और संस्कृति में पलनेवाले तथा समान जाति में उत्पन्न होने का दावा करने वाले लोगों के संगठन को राष्ट्र कहा जाता था।

लेकिन अब आपलोग यह मानने लगे हैं कि मानव-संस्कृति का मूल स्रोत एक ही है; भौगोलिक वातावरण के चलते उनके भिन्न-भिन्न रूप देखे जाते हैं। साथ ही, सब धर्म से परे मानव-धर्म है; सभी धर्मों में मौलिक समानता है। अतएव, विभिन्न जातियों, संस्कृतियों तथा धर्मों में

पलनेवाले लोग भी एक राष्ट्र का निर्माण कर सकते है, चाहे वे समान भाषा-भाषी नही भी हों। इस दृष्टिकोण से समान स्वार्थों तथा समान उद्देश्यों की पूर्ति की आधार-शिला पर प्रतिष्ठित मानव समाज के जितने लोग जितने भूमि-विस्तार में, एक राज्य का संगठन करने को समर्थ होते हैं, वे एक राष्ट्र कहलाते हैं, चाहे उनकी भाषा, धर्म, संस्कृति आदि में विभिन्नताएँ भी क्यों न पाई जायँ। और आज विश्व के भिन्न-भिन्न राष्ट्र व्यापार और उद्योग के सूत्र में इस तरह आबद्ध हो रहे हैं, विज्ञान के सहारे समय और दूरी पर विजय प्राप्त कर इस तरह एक दूसरे के निकट आ चुके हैं कि यदि समान स्वार्थों कि परिधि का पूर्णरूपेण विस्तार हो जाय, तो विश्व पंचशील के पाँचों विधानों में सूत्र-बद्ध होकर एक राष्ट्र-मानव रह जायगा, जिसका नारा भारत हजारों वर्ष पूर्व विश्व में बुलंद कर चुका है—बसुधैव कुटुम्बकम्।

भारत-राष्ट्र का स्वरूप :—भारत संघ के १४ राज्यों तथा ६ केन्द्र-शासित भूभागों के प्रायः ३६ करोड़ निवासी भारतीय कहलाते हैं—भारतीय राष्ट्र ! जनसंख्या के विस्तार की दृष्टि से विश्व में सबसे विशाल राष्ट्र है चीनी राष्ट्र; उनके बाद भारतीय राष्ट्र ! भारत-संघ में अनेक जातियाँ रहती हैं; अनेक धर्मों के माननेवाले लोग रहते हैं; अनेक भाषाओं के बोलनेवाले निवास करते हैं, अनेक संस्कृतियों के वातावरण में वे पलते भी हैं, फिर भी वे एक राष्ट्र की माला में फूल की तरह पिरोये हैं—यहाँ अनेक्य में ऐक्य है, और इसी कारण भारतीय राष्ट्र में महानता है, उदारता है, सहिष्णुता है, धर्म-निरपेक्षता है। और इसका नारा है—'सारा विश्व एक राष्ट्र।

भारतीय राष्ट्र के प्रतीक—राष्ट्र की एकता को सुदृढ़ करने लिए इसके कुछ प्रतीक होते हैं, जिनके प्रति राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति की अगाध भक्ति रहती है—ये प्रतीक लोगों के हृदय की राष्ट्रीयता की स्रोतस्विनी को सतत् प्रवाहशील रखने में समर्थ रहते हैं। वैसे प्रतीकों में मुख्य ये हैं—

राष्ट्र-भाषा—यह तो स्पष्ट हो गया है कि विभिन्न भाषा-भाषियों के लोग भी एक राष्ट्र का निर्माण कर सकते हैं। भारत भी ऐसे ही राष्ट्रों में अपना प्रमुख स्थान रखता है। भारतीय-राष्ट्र कई भाषाओं में बोलता है, जिनमें चौदह भाषाओं को तो राज्य ने भी मान्यता दे रखी है। फिर भी, सारे राज्य के प्रशासनिक मामलों में समानता रखने के लिए प्रत्येक राज्य को, किसी एक भाषा को, राष्ट्र-भाषा की मान्यता देनी ही पड़ती है; ऐसी भाषा को, जिसे अधिक-से-अधिक लोग बोलते हों, समझते हों और आसानी से सीख सकते हैं। इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर भारतीय राष्ट्र ने .हिंदी को राष्ट्र-भाषा का रूप दिया है। हमारी राज-भाषा, राष्ट्र-भाषा हिंदी है।

राष्ट्र-ध्वज :—राष्ट्र-ध्वज राष्ट्र का सर्वाधिक महत्त्व का प्रतीक है। हमारा राष्ट्रीय झंडा तीन रंगों का है—केसरिया, उजला और हरा। बीच में राष्ट्र का प्रतीक एक चक्र है, जो इसी देश के, अहिंसा के आधार पर प्रेम का साम्राज्य प्रतिष्ठित करनेवाले, सम्राट् अशोक के राज्य का प्रतीक था—धर्म-चक्र। पहले उसके स्थान पर चरखा था, अब केवल चरखे का चक्र है, जो सभी दिशाओं से उल्टे सीधे, ऊपर-नीचे, दायें-बायें एक रूप में है। अतएव, भारतीय राष्ट्र-ध्वज, विश्व को प्रेम और शांति का संदेश देता है, अहिंसा और सत्य का संदेश देता है, विश्व के मानवों को एक राष्ट्र में आवद्ध होने की प्रेरणा देता है। अपने राष्ट्र-ध्वज के प्रति भारतीय की अगाध निष्ठा है, यह भारत का गौरव है, भारतीय राष्ट्र की आत्म-चेतना का सर्वश्रेष्ठ प्रतीक है।

★

पराग

प्रकाशन